

शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय

और

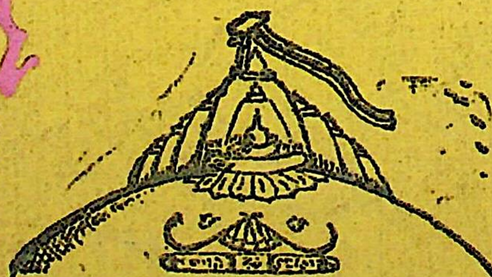
उसकी व्याख्या

स्याद्वाद-कल्पलता

का

हिन्दी विवेचन

[स्तबक २-[illegible]]



॥ श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय

और

उसकी व्याख्या

स्याद्वाद-कल्पलता

का

हिन्दी विवेचन

[स्तबक २-३]

मूलग्रन्थकार-
१४४४ ग्रन्थप्रणेता-विद्वद्मूर्धन्य
जैनाचार्य श्रीहरिभद्रसूरि महाराज

व्याख्याग्रन्थकार-
न्यायविशारद-न्यायाचार्य-जैनशासनरत्न
महोपाध्याय श्रीयशोविजय महाराज

हिन्दी विवेचनकार
न्याय-वेदान्ताचार्य-पंडितराज
श्रीबदरीनाथशुक्ल
[वाइसचांसलर-संपूर्णानंदसंस्कृतविश्वविद्यालय]
वाराणसी

हिन्दी विवेचन अभिवीक्षक
जैनाचार्य न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ-तपोरत्नमहोदधि
श्रीमद् विजयभुवनभानुसूरिमहाराज

- प्रकाशक -
दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाल वि. शाह-गुलालवाडी-मुंबई ४

१ प्रकाशक–मुंबई-४ २ सरस्वती पुस्तक भंडार ३ श्री पार्श्व बुक कोर्पोरेशन
हाथीखाना-रतनपोल अहमदाबाद निशापोल-झवेरीवाड अहमदाबाद

धन्यवाद !  धन्यवाद !!

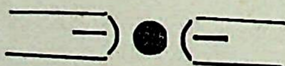
—:: मुद्रण व्यय में अर्थ प्रदान करने वाले महानुभावों के शुभ नाम ::—

卐

* (१) श्री श्वे. मू. तपागच्छ जैन संघ विलेपार्ले (पूर्व) *
[श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन मंदिर–उपाश्रय] मुंबई
ज्ञाननिधि में से आर्थिक सहाय–१०००० रुपये

卐

* (२) श्री जैन श्वे. मू. तपागच्छ जैन संघ *
श्री जीवण-अबजी ज्ञानमंदिर–ज्ञाननिधि में से माटुंगा–मुंबई
आर्थिक सहाय–११००० रुपये

धन्यवाद !  धन्यवाद !!

मूल्य ३०–०० रुपये

वीर नर्वाण संवत्–२५०६
विक्रमसंवत्–२०३६



मुद्रकः—
ज्ञानोदय प्रिन्टिग प्रेस, पिंडवाडा
स्टे.-सिरोहीरोड (राजस्थान)
Pin 307022

* प्रकाशकीय निवेदन *

॥ जैनाचार्य श्री प्रेमसूरीश्वराय नमः ॥

पाठक वर्ग समक्ष हिन्दी विवेचनालंकृतस्याद्वादकल्पलताटीका सहित श्री शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ग्रन्थरत्न का प्रथमस्तबक प्रस्तुत हो जाने के बाद चिरप्रतीक्षा के अनुसंधान में यह 'द्वितीय-तृतीय-स्तबक' रूप दूसरा खंड प्रकाशित करते हुये हम असीम आनंद की अनुभूति करते हैं।

हम अत्यधिक ऋणी है न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ जैनाचार्य श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज के जिन्होंने चिरकाल से अध्ययन क्षेत्र की सीमा से बाहर रह गये इस अमूल्य ग्रन्थ रत्न को अध्ययनक्षत्र में ले आने का परम श्रेय प्राप्त किया है, अन्यथा जैन दर्शन और भारतीय तर्कशास्त्र के अमूल्य रत्ननिधानतुल्य ग्रन्थ के प्रकाश से सामान्यजन अनभिज्ञ ही रह जाते।

न्यायवेदान्त आचार्य पंडितराज श्री बदरीनाथ शुक्ल महोदयने भी इस ग्रन्थरत्न अन्तर्गत उच्चकोटि के युक्ति संदर्भ से आकृष्ट होकर मूलग्रन्थकार और व्याख्याकार के सही तात्पर्य को उद्भासित करने के लिये बहुविध अन्य प्रवृत्तियों में से अवकाश लेकर हिन्दी विवेचन के सर्जन में अथक परिश्रम उठाया है वह भी बहुत ही सराहनीय है।

प्रथमस्तबक चौखम्बा ओरियन्टालिया [बाराणसी] से दो वर्ष पूर्व प्रकाशित होने के बाद मुद्रणादि व्यवस्था संबन्धो कठिनाईयों को दूर करने के लिये शेषस्तबकों के प्रकाशन का कार्यभार हमारी संस्था को प्राप्त हुआ है जिसे हम हमारा परम सौभाग्य समझ कर निष्ठा से पूर्ण करने की उम्मीद रखते हैं—आशा है अन्य स्तबको का भी यथा शीघ्र प्रकाशन का श्रेय परमात्मा की कृपा से हमें प्राप्त हो।

इस खंड के समग्र मुद्रणव्यय में प० पू० मुनिराज श्री हेमचन्द्रविजयजी म० की पुनीत प्रेरणा से जीवण अबजीज्ञान मंदिर-माटुंगा और श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ मंदिर-उपाश्रय-विलेपार्ले के जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ के ज्ञान द्रव्य का जो धन्यवादार्ह विनियोग हुआ है एतदर्थ हम उन के प्रति कृतज्ञ है।

ग्रन्थ का मुद्रण भिन्न भिन्न टाइप में मरुदेशीय पिंडवाडा नगर स्थित ज्ञानोदय मुद्रणालय में हुआ है और मुद्रण को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिये मुद्रणालय के व्यवस्थापक एवं कार्यकरों ने परस्पर मिलकर निष्ठा से परिश्रम किया है एतदर्थ वे भी अवश्य धन्यवाद के पात्र है।

ग्रन्थ में कोई त्रुटि रहने न पाये इसलिये हिन्दी विवेचनकार श्री पंडितजी और हिन्दी विवेचन अभिवीक्षणकार पू. आचार्यदेवने पर्याप्त परिश्रम किया है और मुद्रण में कोई त्रुटि न रह जाय इसलिये पू. मुनिराज श्री जयसुन्दरविजयजी म. ने भी पर्याप्त ध्यान रखा गया है फिर भी मुद्रणादि में छद्मस्थतामूलक कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तब उसका परिमार्जन कर लेने के लिये अध्येता वर्ग को हमारी प्रार्थना है।

मुमुक्षु और जिज्ञासु अधिकारी सज्जनवृंद इस ग्रन्थरत्न का सम्यग् अध्ययन कर के सुनिश्चित तत्त्वों के आधार से मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति करे यही एक अन्तिम मंगल कामना।

लि०

दिव्य दर्शन ट्रस्ट के ट्रस्टीगण का विनीत

कुमारपाल वि. शाह

* प्रस्तावना *

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

समग्र विश्व को जलाशय की उपमा दी जाय तो यह निस्संदेह कहा जा सकता है-जैन दर्शन उसकी शोभा वृद्धिगत करने वाला कमल है जो अहर्निश हंस तुल्य मुमुक्षु वर्ग की निरंतर उपासना का विषय बना रहता है और योगिवृन्द का मनोमधुकर रात-दिन जहां लीन रहता है। कमल की पखुडियां जितनी मनोहर होती है, जैन दर्शन के सिद्धान्त उनसे भी बहुगुणित सत्य की सुरभि से सुवासित और स्याद्वाद की मनोहर आकृति से अंकित होने से किसी भी निर्मल बुद्धि अध्येता के लिये सदा सर्वदा चित्ताकर्षक बनते रहे हैं।

जैन और जैनेतर दर्शन]

जैसे एक ही लता पर सुमन भी खील उठते है और पत्ते भी उसी प्रकार जिन सिद्धान्तों की नींव पर जैन दर्शन की इमारत चुनी हुई है उन्हीं सिद्धान्तों में से किसी एक या दो-चार को पकड कर और अन्य का परित्याग कर कुछ अपनी ओर से भी जोड कर जैनेतर दर्शनों की भी अपनी अपनी इमारत चुन ली गयी है और यही कारण है अन्य सभी दर्शनों के सिद्धान्तों में परस्पर वैषम्य होने पर भी जैन दर्शन के साथ उनका कुछ न कुछ अंश में साम्य बना रहता है। आंशिक साम्य होने पर भी दूसरे अनेक अंश में उनका अत्यधिक वैषम्य हो जाने के कारण ही जैन दर्शन और जैनेतर दर्शन के मध्य महदन्तर बन जाता है।

(ग्रन्थ रचना का उद्देश)

आचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरि महाराज ने शास्त्रवार्त्ता समुच्चय ग्रन्थ के रूप में एक ऐसे सेतुबन्ध की रचना की है जिसके माध्यम से जैनेतर दर्शन के विद्वान् अपने दर्शन का अभिज्ञ होने पर आसानी से जैनदर्शन की सिद्धान्त भूमि पर आकर यहां बहती हुइ सत्य की सरिता के जल में अवगाहन कर सके। ऐसी पवित्र भावना से रचे गये इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने जैनेनर दर्शनों के सिद्धान्तों का प्रामाणिक निरूपण के साथ जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का प्रमाणिक परिचय दे कर जिस ढंग से जैनेतर दर्शनों के सिद्धान्तों का जैनदर्शन के साथ समन्वय सम्भवित है यह प्राञ्जल और हृदयंगम शैली से दर्शाया है जो सत्यजिज्ञासुओं के लिये अवश्मेव उत्सव तुल्य है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का उद्देश्य मुख्य रूप से जैनेतर दर्शनों का खंडन और जैनदर्शन का मण्डन ही रहा है किन्तु अन्य दर्शनों के खण्डन करते समय आचार्य श्री ने तर्क और युक्तियां का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है उससे यह सहज पता चल सकता है कि यह खंडन-मंडन की प्रवृत्ति स्वदर्शनराग और पर दर्शन द्वेष मूलक नहीं है किन्तु शुद्ध तत्त्व अन्वेषण मूलक है।

इस ग्रन्थ के प्रथम स्तबक में प्रारम्भ में मोक्षार्थी के लिये उपयोगी भूमिका बतायी गयी है और बाद में अन्य अन्य दर्शनों के शास्त्र-सिद्धान्तों की समीक्षा और आलोचना का उपक्रम किया गया है। उसमें सबसे पहले मोक्ष और मोक्षोपयोगी साधना का ही विरोधी चार्वाक-नास्तिक सिद्धान्तों का सविस्तर प्रतिकार किया गया है।

[द्वितीय स्तबकान्तर्गत विषयवृंद]

प्रस्तुत ग्रन्थमें द्वितीय और तृतीय स्तबक का समावेश किया है-जिसमें द्वितीय स्तबक के प्रारम्भ में 'हिंसा-जूठ आदि असत्प्रवृत्तियों से पापबन्ध और अहिंसादि के पालन से शुभ पुण्य बन्ध के उपार्जन' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गयी हैं। व्याख्याकार महर्षि ने यहां शब्दप्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव कर देने वाले वैशेषिकादि के मत की आलोचना करके स्वतन्त्र शब्दप्रामाण्य का व्यवस्थापन किया है। पुण्य पाप के कारणों की व्यवस्था करने पर जो शका उठायी गयी है कि अशुभ अनुष्ठान से भी सुखप्राप्ति कभी होती है तो वह कैसे ? इसका मार्मिक उत्तर कारिका २६ में दिया गया है। जिस आगम से पुण्य-पाप के नियम को सिद्धि हो रही है वह भी तो प्रतिपक्ष आगम से बाधित होने से वह नियम कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रतिपक्षी आगमों को दुर्बलता इस आधार पर बतायी गयी है कि वे दृष्ट और इष्ट उभय से विरुद्ध होने के जरिये आप्त विरचित नहीं है। वे कैसे दृष्ट और इष्ट से विरुद्ध है यह भी तीसवीं कारिका से दीखाया है। यहां मध्यस्थ भाव के साधन पर विचार किया गया है और प्रसंग से श्री व्याख्याकार ने मध्यस्थभाव उत्पादक पातञ्जल प्रक्रिया का वर्णन किया है। आगे चलकर संसारमोचक मत का भी यहां प्रतिकार किया गया है। मुक्ति साधक कर्मक्षय के सम्भवित चार प्रकार का विमर्श किया गया है। अन्त में यह स्थापित किया है मुक्ति-साधक कर्मक्षय ज्ञानयोग का फल है और अहिंसादि के उत्कर्ष विना वह ज्ञानयोग सिद्ध नहीं होता। इससे यह भी फलित हो जाता है-वेदशास्त्रों में विहित होने पर भी वह हिंसा तत्त्वत पापजनक ही है।

यहां यज्ञीय हिंसा के बचाव में मीमांसक कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र और नैयायिकों के अभिप्राय की व्याख्याकार ने सख्त आलोचना की है और महाभारत-मनुस्मृति-योगवशिष्ट आदि ग्रन्थों का भी हिंसामय यज्ञ-यागों के प्रति विरोध उट्टङ्कित किया गया है। यज्ञीय हिंसा के विरोध उपरांत व्याख्याकार ने जैन दर्शन अनुसार 'हिंसा का लक्षण' प्रस्तुत कर अन्त में वेदशास्त्र के अप्रामाण्य का प्रमाणसिद्ध उद्घोष कर दिया है।

तदनन्तर इस स्तबक में शुभाशुभ सर्व कर्म के कर्त्ता के रूपमें आत्मा को दीखा कर वह क्यों अपने ही अहित में भी प्रवृत्त होता है इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि कर्म जनित मूढता हि अहितकर कृत्यों में आत्मा को प्रवृत्त करती है। यहां कर्मवाद को प्राधान्य मिल जाता है तब उसके सामने कालवादी अपनी दृष्टि से कालिक कारणता की घोषणा करता है. स्वभाववादी स्वभाव की कारणता को प्रस्तुत करता है, नियतिवादी नियति को ही सर्वभावजनयित्री के रूपमें उपस्थित करता है। इन वादों के सामने कर्मवादी कर्म कारणता को सुरक्षित रखना चाहता है। सिद्धान्ती इन सभी एकान्तवादों में अलग अलग दूषण आरोपित करके अन्त में यह स्थापित करता है कि कार्यमात्र में कालादि में से कोई एक ही कारण नहीं है और उनकी स्वतन्त्र कारणता भी नहीं है किन्तु उनका समवाय (समुदाय) ही भावमात्र का कारण है-द्वितीय स्तबक यहां पूर्ण होता है।

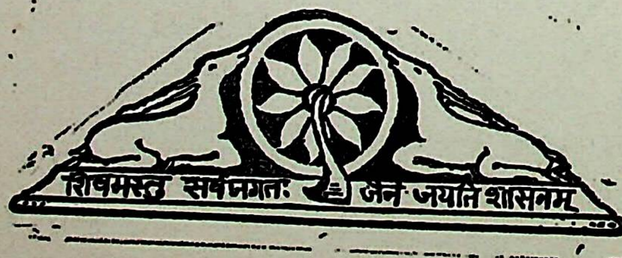
[तृतीय स्तबकान्तर्गत विषयवृंद]

तृतीय स्तबक में १ से १७ कारिका तक ईश्वरकर्तृत्ववाद की समालोचना की गयी हैं। इस में पूर्व भाग में सांख्यमत-पातञ्जलमत और न्याय-वैशेषिक वादियों की ओर से विस्तृत पूर्वपक्ष में विशेषतः उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि कारिका का निरूपण करने के बाद उत्तर भाग में उन सभी का सविस्तर प्रतिकार किया गया है। विशेषतः यहां व्याख्या में पक्ष-प्रतिपक्ष रूपमें नव्यन्याय की शैली को चरम सीमा प्राप्त हुई है। जैन दर्शन में कर्तृत्ववाद औपचारिक या वास्तविक रीति से किस प्रकार संगत हो सकता है यह भी अन्त में दिखाया गया है। विषयानुक्रमणिका में विस्तार से ग्रन्थगत सभी विषयों का निर्देश किये जाने से यहां विस्तार नहीं किया है।

कारिका १८ से सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों के पूर्वपक्षरूप में निदर्शन किया है। २१ वीं कारिका से सांख्यमत के प्रतिकार का आरम्भ है और उसमें प्रतिबिम्बवाद पर गहन चर्चा यहां प्राप्त होती है। ३६ वीं कारिका में सांख्यमत में जिस रीते से जितना संगतनिरूपण है उसके प्रति अंगुलीनिर्देश किया गया है। अन्त में मूर्त्त और अमूर्त्त का परस्पर तादात्म्यादि संबंध की संगति पर विचार किया गया है। प्रकृतिवाद की सत्यता के हेतु देकर सांख्यमत का उपसंहार किया है।

मूलग्रन्थकार और व्याख्याकार दोनों महर्षि का परिचय प्रथमस्तबक में दिया हुआ है, तद-तिरिक्त उनके बनाये ग्रन्थों का भी वहां परिचय दिया हुआ है इसलिये यहां अधिक विस्तार न कर प्रान्त में यही शुभेच्छा व्यक्त करना उचित है-जिज्ञासु अधिकारी मुमुक्षु वर्ग इस ग्रन्थ का अध्ययन कर मुक्ति मंदिर को शीघ्र प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त करें।

मुनि जयसुंदरविजय
श्रीपालनगर, मुंबई-६



द्वितीय-तृतीयस्तबक-विषयानुक्रम

स्तबक–२

पृष्ठांक विषय

द्वितीयस्तबक समाप्त

तृतीयस्तबक

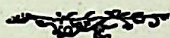


॥ अर्हम् ॥

हिन्दीविवेचनविशदीकृत

स्याद्वादकल्पलताटीकाविभूषित

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय



द्वितीयः स्तबकः

(टी०)–अप्रतीपाय दीपाय सतामान्तरचक्षुषे । नमः स्याद्वादितन्त्राय स्वतन्त्राय विवस्वते ॥२॥

वार्तान्तरमाह–

मूलम्–हिंसादिभ्योऽशुभं कर्म तदन्येभ्यश्च तच्छुभम् ।
जायते नियमो मानात् कुतोऽयमिति चापरे ॥ १ ॥

हिंसादिभ्यः=अविरत्यादिहेतुभ्यः, **अशुभं**=पापं कर्म भवति । **तदन्येभ्यश्च**=विरत्यादिहेतुभ्यः, **शुभं**=पुण्यं, **तत्**=कर्म भवति । **अयं नियमः**=प्रतिनियतहेतुहेतुमद्भावनिश्चयः, **कुतः**=कस्मात् , **मानात्**=प्रमाणात् ? इति चापरे सन्दिहाना वादिनः प्राहुः । अव्युत्पन्नानां चेयमाशङ्का धर्माऽधर्मपदवाच्यत्वावच्छिन्नधर्मिताका, अन्यथा धर्मिग्राहकमानेनोक्तनियमोपरक्तयोरेव धर्माऽधर्मयोः सिद्धावीदृशशङ्कानुदयादिति ध्येयम् ॥१॥

[टीका के मङ्गलश्लोक का भावार्थ]

स्याद्वादियों का शास्त्र वस्तुतत्त्व को प्रदर्शित करने वाला ऐसा प्रदीप है जिसके प्रकाश को धूमिल करने वाला कोई नहीं है, वह सत्पुरुषों की अन्तर्दृष्टि है जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व देखे जा सकते हैं, वह स्वतन्त्र सूर्य है जिसका उदय किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता और जिससे समस्त पदार्थ बेरोकटोक प्रकाशित होते रहते हैं । ऐसा महान शास्त्र सब का वन्दनीय है ।

[पुण्य–पाप के नियम में आशङ्का]

यहां प्रथम कारिका में अदृष्ट के सम्बन्ध में एक दूसरी बात कही गयी है, वह यह कि कुछ संशयग्रस्त वादियों की यह शङ्का है कि–'अविरति आदि हेतुओं से पाप होता है और विरति आदि हेतुओं से पुण्य होता है'-इस प्रकार के नियत हेतुहेतुमद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है, अतः कभी अविरति आदि से पुण्य का और विरति आदि से पाप का भी जन्म होना चाहिये ।

इदमेवाभिप्रेत्य व्युत्पत्तिपुरस्कारेणैव समाधानवार्त्तामाह–

मूलम्–आगमाख्यात्तदन्ये तु तच्च दृष्टाद्यबाधितम् ।
सर्वार्थविषयं नित्यं व्यक्तार्थं परमात्मना ॥२॥

तदन्ये तु=असन्दिहानास्तत्त्ववादिनः, **आगमाख्याद्** मानात् 'नियमं ब्रुवते' इति वाक्यशेषः । कथमेतदत्र मानम् ? इत्यत आह **तच्च**=आगमाख्यं, **दृष्टाद्यबाधितम्**= दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धम् । एतेन 'पयसा सिञ्चति' इत्यादेरिव बाधितत्वनिरासः । तथापि स्वाऽविषये प्रकृतनियमे कथं तद् मानम् ? इत्यत आह-**सर्वार्थविषयं**=यावदभिलाप्यविषयम् , प्रज्ञापनीय-भावानामनन्तभागस्य श्रुतनिबद्धत्वेऽपि तदभ्यन्तरभूतया मत्याऽनिबद्धानामपि तेषां ग्रहण-श्रवणाद् नानुपपन्नमेतत् । कृत्रिमत्वात् कथमीदृशमेतद् ? इत्यत आह-**नित्यं**=प्रवाहापेक्षया-ऽनादिनिधनम्, भरतादौ विच्छेदकालेऽपि महाविदेहेऽविच्छेदात् , तथाप्यनाप्तोक्तत्वादनीदृश-मेतद् इत्याह-**परमात्मना**=क्षीणदोषेण भगवता. **व्यक्तार्थं**=प्रतिपादितार्थम् ॥२॥

अगर कहें,-'यह शङ्का धर्म अधर्मरूप अदृष्टधर्मिक है । शङ्का में धर्मिज्ञान कारण होता है, अतः जिस प्रमाण से धर्म अधर्मरूप धर्मी का ज्ञान होगा, उस प्रमाण से अविरति आदि से ही पाप होने और विरति आदि से ही पुण्य होने के नियम का भी ज्ञान हो जाने से यह शङ्का नहीं हो सकती' -यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिन्हें धर्म अधर्म शब्द का वाच्यार्थ विशेष रूप में ज्ञात नहीं है, उन्हें धर्म-अधर्मपदवाच्यत्वरूप से धर्म-अधर्मरूप धर्मों में उक्त शङ्का होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥१॥

[पुण्य-पाप के नियामक आगम का प्रामाण्य]

द्वितीय कारिका में पूर्वकारिका में उठायी गयी शङ्का का समाधान किया गया है. और वह समाधान अदृष्ट शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इस अभिप्राय से सम्भव हुआ है कि अदृष्ट की सत्ता में प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है, प्रत्यक्ष आदि से दृष्ट न होने से ही वह अदृष्ट है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अदृष्ट की प्रामाणिकता के विषय में संशयहीन तत्त्ववादियों का कहना है कि 'अदृष्ट' यह आगम प्रमाण से सिद्ध हैं, और आगम दृष्ट तथा इष्ट से अविरुद्ध होने के नाते प्रमाण है। जिस प्रकार जलकरणक सिञ्चन दृष्ट एवं इष्ट से अविरुद्ध होने से तद्बोधक 'पयसा सिञ्चति' यह वाक्य बाधित नहीं होता, उसी प्रकार अदृष्टबोधक आगम भी बाधित नहीं हो सकता । 'अविरति आदि से ही पाप और विरति आदि से ही पुण्य होता है' यह नियम आगम का अविषय भी नहीं है. क्योंकि जितने भी अभिलापयोग्य पदार्थ हैं वे सब आगम के विषय हैं। आशय यह है कि प्रज्ञापनीय भावों का अनन्तभाग यद्यपि श्रुतनिबद्ध=शास्त्रप्रतिपाद्य है तथापि श्रुत के अन्तर्गत मतिज्ञान से श्रुत में अनिबद्ध भावों का भी ग्रहण होने से उन भावों की सत्ता में भी आगम का प्रामाण्य अक्षुण्ण है। कृत्रिम अर्थात् किसी एक मानव से रचित होने से भी आगम को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता,

नन्विद स्वगृहवार्त्तामात्रम्, अप्रत्यक्षे पापादौ तत्प्रामाण्यग्राहकमानाभावादित्याशङ्कायामाह–

मूलम्–चन्द्रसूर्योपरागादेस्ततः संवाददर्शनात् ।
तस्याऽप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न प्रामाण्यं न युज्यते ॥ ३ ॥

ततः=तद्बोधितात्, चन्द्रसूर्योपरागादेरर्थात्, तमाश्रित्य इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, संवाददर्शनाद्=अविसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वनिश्चयात्, तस्य=शब्दस्य, अप्रत्यक्षेऽपि=श्रोत्र-ऽप्रत्यक्षेऽपि पापादौ, प्रामाण्यं=तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकज्ञानजनकत्वम्, न युज्यत इति न=न निश्चीयत इति न, किन्तु निश्चीयत एवेत्यर्थः ॥३॥

यदि नाम क्वचिद् दृष्टः संवादोऽन्यत्र वस्तुनि ।
तद्भावस्तस्य तत्त्वं वा कथं समवसीयते ? ॥ ४ ॥

पराभिप्रायमाह- यदि नाम क्वचित्=चन्द्रोपरागादावर्थे संवादो दृष्टः, तदा तदभिधायकवाक्यस्य प्रामाण्यं सिध्यतु, अन्यत्र=पापादौ वस्तुनि, तद्भावः=संवादभावः, तस्य=पापाद्यभिधायकवाक्यस्य, तत्त्वं वा=प्रमाणत्वं वा, कथं समवसीयते ? प्रामाण्यव्याप्य-संवादित्वग्रहाऽभावात् पापाद्यभिधायकवाक्ये प्रामाण्यनिश्चयो दुर्घट इति समुदायार्थः ॥४॥

क्योंकि वह प्रवाहरूप से नित्य है। एकत्र भरतादि क्षेत्र में उसके विच्छेदकाल में भी अपरत्र महाविदेह क्षेत्र में वह अविच्छिन्न रहता है। वह अनाप्तरचित भी नहीं है क्योंकि जिसने समस्त दोषों का क्षय कर डाला है ऐसे भगवान ने उसके अर्थों का प्रतिपादन किया है ॥२॥

[संवाद से परोक्ष वस्तु में भी आगम का प्रामाण्य]

"अदृष्ट के अस्तित्व में आगम प्रमाण है' ये सब पूर्व कारिका में कही गयी बातें केवल अपने घर की बाते हैं. परीक्षा करने पर उन की वास्तविकता नहीं सिद्ध हो सकती. क्योंकि पाप आदि अदृष्ट प्रत्यक्षसिद्ध नहीं अतः उन में आगम प्रमाण है' इस बात में कोई प्रमाण नहीं हो सकता"–इस शङ्का का प्रस्तुत तीसरी कारिका में समाधान किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

चन्द्र-सूर्य का ग्रहण आगमगम्य है और उस का संवाद=प्रत्यक्ष प्रमाण से अवगम देखा जाता है, तो जैसे प्रत्यक्षदृश्य चन्द्रग्रहण आदि अर्थ में आगम प्रमाण है वैसे ही वह श्रोता को प्रत्यक्षदृश्य न होनेवाले पाप आदि अदृष्ट में भी प्रमाण हो सकता है। इसलिये 'अदृष्ट में आगम को तद्वद्विशेष्यक-तत्प्रकारकज्ञानरूप प्रमा की जनकता नहीं है,' यह बात युक्तिसंगत नहीं हो सकती, किन्तु आगम अदृष्ट में भी प्रमाण का जनक है,' यही युक्तिसंगत है ॥३॥

चौथी कारिका में वादी का अभिप्राय स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है–चन्द्रग्रहण आदि जिन अर्थों में आगम का अन्य प्रमाण से संवाद-समर्थन देखा जाता है उन अर्थों में आगम का प्रामाण्य ठीक

अत्र समाधानमाह–

आगमैकत्वतस्तच्च वाक्यादेस्तुल्यतादिना ।
सुवृद्धसम्प्रदायेन तथा पापक्षयेण च ॥ ५ ॥

आगमैकत्वतः=दृष्टाऽदृष्टसंवाद्यागमयोरेकत्वात्, 'तस्य तथात्वं समवसीयते' इति योजना, संवादित्ववत् संवादिजातीयत्वस्यापि प्रामाण्यव्याप्यत्वात् । अत एव जलादिज्ञाने दृष्टसंवादजातीयत्वेन प्रागेव प्रामाण्यनिश्चयाद् निष्कम्पा प्रवृत्तिर्घटत इति भावः । आगमैकत्वमेव कथम्? इत्याह--तच्च=आगमैकत्वं च वाक्यादेः=वाक्यपदगाम्भीर्यादेः, तुल्यतादिना समवसीयते । नन्विदमयुक्तम् आगमानुकारेण पठ्यमानेऽन्यत्रापि तत्तुल्यतासत्त्वात्, अनन्तार्थत्वादेश्च दुर्ग्रहत्वात्, इत्यत आह--सुवृद्धसम्प्रदायेन=ज्ञानचरणसम्पन्नगुरुपरम्परया । नन्वियमपि मिथोविवादाक्रान्ता, सुवृद्धत्वप्रमापकहेत्वन्तरानुसरणे च तदेवागमैकत्वग्राहकमस्तु, इत्यत आह-तथा पापक्षयेण च=सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमेन च । 'अयं हि सर्वत्र यथावस्थिततत्त्वग्रहे मुख्यो हेतुः, लब्धीन्द्रियरूपतदभिव्यञ्जकतयैवान्योपयोगात्, तदभिव्यक्तिव्यापारकतयैव 'तथा' इत्यनेन हेत्वन्तरसमुच्चयात्' इति वदन्ति ॥५॥

है, किन्तु पाप आदि जिन वस्तुओं में उसका प्रमाणान्तर से संवाद का दर्शन सम्भव नहीं है, उन वस्तुओं में उसका प्रमाणान्तर से संवाद मानना अथवा उन वस्तुओं में उस को प्रमाण मानना ठीक नहीं है । आशय यह है कि प्रमाणान्तर से संवादित-समर्थित होना प्रामाण्य का व्याप्य हैं, और आगम में उसका ग्रहण सम्भव नहीं हैं, अतः पापादि-बोधक आगम में प्रामाण्य का ग्राहक संवाद न होने से उस में प्रामाण्य का निश्चय अशक्य हैं ।।४।।

[आगमैक्यादि से प्रामाण्य का समर्थन]

पञ्चम कारिका में पूर्वकारिका में उठायी गयी शङ्का का समाधान किया गया है, जो इस प्रकार है—

जिन आगमों में प्रमाणान्तर का संवाद दृष्ट हैं और जिन आगमों में प्रमाणान्तर का संवाद दृष्ट नहीं हैं, वे दोनों एक ही आगम हैं । अतः यह उचित नहीं है कि एक ही आगम का एक भाग प्रमाण हो और दूसरा भाग अप्रमाण हो। आशय यह है कि जैसे प्रमाणान्तरसंवादित्व प्रामाण्य का व्याप्य है, वैसे ही प्रमाणान्तरसंवादिजातीयत्व भी प्रामाण्य का व्याप्य है, अतः जिन आगमवचनों में प्रमाणान्तर का संवाद दृष्ट नहीं है उन में प्रमाणान्तरसंवादी आगम के सजातीयत्व से प्रामाण्य का अनुमान हो जायगा । इस प्रकार का अनुमान अन्यत्र दृष्ट भी है, जैसे पहले पीये हुए जल में पिपासाशामकत्व का निश्चय होने से तज्जातीयत्व हेतु से नवीन जल में पिपासाशामकत्व का अनुमान हो कर उसके पान में पिपासु की निर्बाध प्रवृत्ति होती है । उक्त दोनों आगमों में एकत्व है' इस का निश्चय उन दोनों के वाक्यों, पदों की गम्भीरता, रचनाशैली आदि की समानता से सम्पन्न होता है । शंका की जाय -"आगम का अनुकरण करके रचे गये नवीन वाक्यों में उक्त समानता हेतु तो एकागमत्व का व्यभिचारी है क्यों

विपर्यये बाधकमाह—

मूलम्-अन्यथा वस्तुतत्त्वस्य परीक्षैव न युज्यते ।
आशङ्का सर्वगा यस्माच्छद्मस्थस्योपजायते ॥६॥

अन्यथा=उक्तरीत्या संशयाऽविच्छेदे, वस्तुतत्त्वस्य परीक्षैव=सदसद्विचार एव, न युज्यते, यस्माद् हेतोः, छद्मस्थस्य=अक्षीणज्ञानावरणीयस्य, सर्वगा=सर्वार्थविषयिणी, आशङ्का जायते ॥६॥

कि वह तो अप्रमाणभूत शास्त्रों में भी मिलता है जहां एकागमत्व नहीं हैं। अगर कहें-'अनन्तार्थता से एकागमत्व का निर्णय करेंगे 'जैसे दृष्टसवाद आगम में अनन्तार्थता हैं वसे अदृष्टसंवादआगम में भी हैं'-तब भी वह अनन्तार्थता दुर्ज्ञेय है। अतः उस से आगमैकत्व का अनुमान उचित न होने से दोनों में एकागमत्व दुर्ज्ञेय हैं"-यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त हेतुओं से अनुमान सम्भव न होने पर भी उक्त द्विविध आगमों में एकत्व का निश्चय ज्ञान-चारित्र्य से सम्पन्न गुरुओं की परम्परा से हो सकता है ।

[पापक्षय भी आगमैकत्व का निश्चायक है]

यदि यह शंका की जाय कि "गुरुओं की सुवृद्धता, ज्ञान-चारित्र्यसम्पन्नता, विवादग्रस्त है, उसके निश्चयार्थ-अन्य हेतु का पल्ला पकडने पर उसी से उक्त द्विविध आगमों में एकागमत्वका निश्चय सभव में होने से गुरुपरम्परा को उसका निश्चायक मानना युक्तिसगत नहीं है। अभिप्राय यह हैं कि गुरुपरम्परा सुवृद्धता ज्ञानादिसंपन्नता का निश्चायक कोई समीचीन हेतु सुलभ न होने से उक्त द्विविध आगमों में एकागमत्व का निश्चय दुष्कर है'-तो आगमैकत्व का निश्चायक अन्य हेतु भी है-कि पापक्षय से अर्थात् सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कर्मों के क्षयोपशम से उक्त द्विविध आगमों में एकागमत्व का या जिन आगमों में प्रमाणान्तर का संवाद दृष्ट नहीं है उन में सम्यक्त्व का अर्थात् प्रामाण्य का दृढ निश्चय होने में कोई बाधा नहीं है । तात्पर्य यह है कि जो पुरुष दुष्कर्मों से आक्रान्त होते है उन्हीं को उक्त प्रकार के आगम वचनों में प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता किन्तु जिसके दुष्कर्मों का गुरुपरंपरा के प्रति श्रद्धा गुरू पदेश इत्यादि से क्षयोपशम हो जाता है उन्हें उक्त प्रकार के आगम वचनों में अनायास ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है । वस्तुतत्त्ववादी विद्वानों का कहना है कि सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कर्मों का क्षयोपशम ही सर्वत्र वस्तु के यथावस्थिततत्व (सत्य स्वरूप)-वास्तविकता के ज्ञान का मुख्य हेतु होता है, अन्य हेतु का उपयोग उक्त क्षयोपशम-जिसको लब्धीन्द्रिय भी कहते हैं-की अभिव्यक्ति के सम्पादनार्थ ही होता है । कारिका में 'तथा' शब्द से क्षयोपशमव्यञ्जक उन हेत्वन्तर का ही समुच्चय इसी आशय से किया गया है ॥५॥

छठवीं कारिका में पूर्व कारिका में उक्त अर्थ के विपरीत पक्ष में बाधक का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कर्मों के क्षयोपशम से यदि अदृष्ट-प्रमाणान्तरसंवादवाले आगमों में अप्रामाण्य के संशय की निवृत्ति न मानी जायेगी तो वस्तुतत्त्व की परीक्षा-'यह वस्तु सत् और यह असत् है'-इस प्रकार के चिन्तन को अवकाश ही न हो सकेगा क्योंकि छद्मस्थ-जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय नहीं हुआ है उसको सभी वस्तुओं की वास्तविकता में शंका स्वभावतः होती ही रहती है ॥६॥

अस्तु तर्ह्यपरीक्षैव, इत्यत आह–

अपरीक्षापि नो युक्ता गुणदोषाऽविवेकतः ।
महत्संकटमायातमाशङ्के न्यायवादिनः ॥ ७ ॥

अपरीक्षापि=अविचारोऽपि, नो=नैव, युक्ता । कस्मात् ? इत्याह-गुणदोषाविवेकतः=निष्कम्पप्रवृत्ति–निवृत्तिप्रयोजकानिश्चयात् । तस्मात् परीक्षाऽपरीक्षाभयाऽयोगात्, न्यायवादिनः=तार्किकस्य महत् संकटमायातमित्याशङ्के । एतेन 'वक्त्रधीनत्वात् शब्दस्याऽप्रामाण्यम्' इत्यपि निरस्तम्, गुणवद्वक्तृकत्वेन तस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेः । 'अत एव अनुमानादस्य विशेषः, शाब्दप्रमायां वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानस्य गुणत्वात्, इति गुणवद्वक्तृप्रयुक्तशब्दप्रभवत्वादेव शाब्दमनुमानज्ञानाद् विशिष्यते' इति वदतां सम्मतिटीकाकृतामाशयः ।

अत्रेदमवधेयम्–"एते पदार्थास्तात्पर्यविषयमिथःसंसर्गवन्तः, आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वात्, 'दण्डेन गामभ्याज' इति पदस्मारितपदार्थवत्" इति न शाब्दस्थलीयानुमानशरीरम्, अनाप्तोक्तपदस्मारिते व्यभिचारात् । 'आप्तोक्तत्वेन विशेषणीयो हेतुरिति' चेत् ? न, आप्त-

[परीक्षा-अपरीक्षा उभय के अयोग से संकट]

पूर्व कारिका में कहा गया है कि सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कर्मो के क्षयोपशम से संशय की निवृत्ति न मानने पर वस्तुतत्त्व की परीक्षा न हो सकेगी, उस पर यह कहा जा सकता है कि 'परीक्षा न हो, क्या हानि है ?'–प्रस्तुत सप्तम कारिका में इसी कथन का उत्तर दिया गया है ।

कारिका का अर्थ इस प्रकार है–'वस्तुतत्त्व की परीक्षा न हो सके तो न हो, कोई हानि नहीं है'–यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वस्तुतत्व की परीक्षा न हो सकने पर गुणदोष के अविवेक से अर्थात् निर्बाध प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रयोजक का निश्चय न हो सकने से मनुष्य की प्रवृत्ति निवृत्ति की उपपत्ति न हो सकेगी । परिणाम यह होगा कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संशय की निवृत्ति न मानने पर संशय की निवृत्ति न होने से वस्तुतत्त्व की परीक्षा न हो सकेगी । इस से एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रयोजक का निश्चय न हो सकने के भय से वस्तुतत्त्व की परीक्षा भी स्वीकार्य न हो सकेगी,-तब तो तार्किक को महान संकट उपस्थित हो जायगा ।

दूसरी कारिका में जो यह कहा गया था कि- अविरति आदि हेतुओं से पाप का और विरति आदि हेतुओं से पुण्य का उदय होता है-इस नियम में आगम प्रमाण है'–उस के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि "आगम तो शब्दात्मक हैं और शब्द वक्ता के आधीन होता है अतः वक्ता के दोष से शब्द में दोष सम्भव होने से शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता"–किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि सदोष वक्ता के शब्द अप्रमाण होने पर भी गुणवान वक्ता के शब्द में प्रामाण्य मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती । "अनुमान से शब्द का यही वैशिष्ट्य है कि शब्द से होने वाली प्रमा में वक्ता का वाक्यार्थविषयकयथार्थज्ञानरूप गुण कारण होता है । गुणवान् वक्ता के शब्द से उत्पन्न होने के कारण ही शब्दज्ञान अनुमिति से विलक्षण होता है" सम्मति ग्रन्थ के टीकाकार का भी यही आशय है ।

त्वस्य पूर्वं दुर्ग्रहत्वात् । अत एव योग्यताया हेतुप्रवेशेऽपि न निर्वाहः, एकपदार्थेऽपरपदार्थवत्त्वरूपायास्तस्याः प्रागनिश्चयात्, निश्चये वा सिद्धसाधनात् । आकाङ्क्षापि समभिव्याहृतपदस्मारितजिज्ञासारूपा स्वरूपसत्येव हेतुः, न तु ज्ञाता । योग्यतासहिताऽऽसत्तिरपि न नियामिका, 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यत्र 'राज्ञः पुरुषः' इति भागे व्यभिचारात् । एतेन-'एतानि पदानि तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि, आकाङ्क्षादिमत्पदत्वात्,' इत्यनुमानशरीरे उक्तयोग्यताया हेतुविशेषणेऽपि न सिद्धसाधनम्-इत्युक्तावपि न निस्तारः ।

[शब्द प्रमाण स्वतन्त्र नहीं है—वादस्थल—पूर्वपक्ष]

वैशेषिक आदि कतिपय दर्शन शब्द को अनुमान से भिन्न प्रमाण और शाब्दज्ञान को अनुमिति से भिन्न प्रमाण नहीं मानते। उन का कहना है कि वाक्य का श्रवण होने पर जब वाक्य घटक पदों से तत्तत् अर्थ की स्मृति हो जाती है तब उन अर्थों में वक्ता के अभिमत परस्परसम्बन्ध का अनुमान हो जाता है । अनुमान का आकार इस प्रकार होता है-"अमुक अमुक पदार्थ वक्ता के अभिमत परस्पर सम्बन्ध के आश्रय है-क्योंकि आकांक्षा आदि से युक्त पदों से स्मारित है—जो पदार्थ आकांक्षा आदि से युक्त पदों से स्मारित होते हैं वे वक्ता के अभिमत परस्पर सम्बन्ध के आश्रय होते हैं, जैसे 'दण्डेन गामभ्याज' इस वाक्य के दण्ड पद, तृतीयाविभक्ति, गो पद, द्वितीया विभक्ति, अभ्याज-सोपसर्ग धातु और लोट् प्रत्यय, इन पदों से स्मारित दण्ड, करणता, कर्मता, अपसारण और कृति रूप अर्थ-स्पष्ट है कि करणता के साथ दण्ड का और कर्मता के साथ गो का निष्ठत्वसम्बन्ध, एवं अपसारण के साथ करणता-कर्मता का निरूपकत्व सम्बन्ध तथा अपसारण के साथ कृति का साध्यत्व सम्बन्ध वक्ता को अभिमत है, और वे वे पदार्थ उन सम्बन्धों के आश्रय है।

[अनुमान से शब्दप्रमाण की निरर्थकता नहीं हो सकती-उत्तरपक्ष]

शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले मनीषियों का कहना है कि-उक्त अनुमानाकार से शब्दज्ञान को गतार्थ (निष्प्रयोजन) नहीं किया जा सकता. क्योंकि अनाप्त पुरुष से उक्त पदों द्वारा स्मारित अर्थों में परस्पर सम्बन्ध न होने से आकांक्षादिमत्पदस्मारितत्व हेतु में उक्त साध्य का व्यभिचार होने के कारण अनुमान का उक्त आकार सम्भव हो नहीं है । हेतुघटक पद में आप्तोक्तत्व विशेषण देने से भी इस दोष का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द ज्ञान के पूर्व वाक्यघटक पदों में आप्तोक्तत्व का निश्चय नहीं हो सकता, कारण कि शाब्दज्ञान का प्रवृत्ति आदि के साथ संवाद होने पर ही उसके प्रयोजक वाक्य में आप्तोक्तत्व की जानकारी हो सकती है. उससे पूर्व नहीं होती ।

हेतु के शरीर में योग्यता का प्रवेश कर के भी इस दोष से मुक्ति नहीं पायी जा सकती. क्योंकि एक पदार्थ में अपर पदार्थ का सम्बन्ध ही योग्यता है जो शाब्दज्ञान से ही गृहीत हो सकने के कारण उस से पूर्व निश्चित नहीं हो सकती, जबकि उस के हेतुघटक होने पर शाब्दज्ञानात्मक अनुमिति के पूर्व उस का निश्चय आवश्यक होगा और यदि शब्द से अतिरिक्त किसी अन्य साधन से शाब्दज्ञान के पूर्व योग्यता का निश्चय हो भी जायगा तो योग्यताघटित हेतु से अनुमान न हो सकेगा. क्योंकि उस स्थिति में अनुमान से वेदितव्य एक पदार्थ में अपर पदार्थ के सम्बन्ध का निश्चय पहले ही हो जाने

अथ तात्पर्यरूपाकाङ्क्षा हेतुप्रविष्टेति न व्यभिचारः । न च कर्मत्वादौ घटादिसंसर्गासिद्धावपि कर्मत्वादौ निरूपितत्वसम्बन्धेन घटादिकप्रकारकबोधोन जात इति वाच्यं, 'कर्मत्वादिकं घटादिमात्, घटाकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वात्,' इत्यनुमानस्यापि सम्भवात्, इति चेत् न अनुमानाद् नियतबोधानुपपत्तेः । 'शब्दात्मकविलक्षणानुमितौ व्युत्पत्तेरपि तन्त्रत्वान्न दोष' इति चेत् ?, न व्युत्पत्तेः पदस्य शब्दहेतुत्वगर्भत्वात् ।

से सिद्धसाधन दोष हो जायगा, और यह सर्वसम्मत है कि अनुमान प्रमाण से सिद्ध का साधन नहीं होता, क्योंकि सिद्धि से अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाता है।

आकांक्षा को जो हेतु का घटक बनाया गया है, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि हेतु का घटक होने पर उस के ज्ञान की अपेक्षा होगी, जब कि आकांक्षा 'समभिव्याहृत-वाक्यान्तर्गत पद से स्मारित पदार्थ की जिज्ञासा रूप होने से वह स्वरूपेण-सत् होकर ही शाब्दज्ञान की सम्पादिका होती है, ज्ञात हो कर नहीं होती।

[योग्यता और आसत्ति से घटित हेतु भी असमर्थ]

'आकांक्षादिमत्पदस्मारितत्व' हेतु में आदि पद से योग्यता सहित आसत्ति भी विवक्षित है, क्योंकि अयोग्य और आसत्तिहीन पदों से स्मारित अर्थों में वाक्य से परस्पर सम्बन्ध का बोध नहीं होता। परंतु योग्यता सहित आसत्ति से घटित भी हेतु उक्त अनुमानाकार को सम्पन्न करने में असमर्थ है, क्योंकि 'यह राजा का पुत्र चल रहा है मार्ग में से मनुष्यों को हटाया जाय' इस अर्थ के बोधक 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्य के घटक 'राज्ञः पुरुषः' इस भाग में भी योग्यता सहित आसत्ति विद्यमान है किन्तु इस भाग से स्मारित अर्थों में वक्ता का अभिमत सम्बन्ध नहीं है क्योंकि 'राज्ञः' का सम्बन्ध 'पुत्रः' के साथ विवक्षित है, न कि 'पुरुषः' के साथ। अतः आकांक्षा-योग्यताआसत्तिमत्पदस्मारितत्व हेतु उक्त वाक्य के 'राज्ञः पुरुषः' इस भाग से स्मारित अर्थों में वक्ता के अभिमत परस्परसम्बन्धरूप साध्य का व्यभिचारी है, और व्यभिचारी हेतु साध्य का अनुमापक नहीं होता।

'योग्यता को हेतुघटक मानने पर सिद्धसाधन दोष दिया गया है, उस का परिहार अनुमानाकार को बदल देने से हो सकता है, जैसे अनुमान का आकार यदि यह कर दिया जाय कि "अमुक अमुक पद स्मारित पदार्थो के विवक्षित सम्बन्ध की प्रमा से प्रयुक्त है, क्योंकि आकांक्षा योग्यता और आसत्ति से युक्त पद है, जैसे 'दण्डेन गामभ्याज' इस वाक्य के घटक पद' तो इस अनुमान के पूर्व हेतुघटक योग्यता का निश्चय होने पर भी सिद्धसाधन नहीं होगा क्योंकि इस नये अनुमान में पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध रूप योग्यता साध्य नहीं हैं किन्तु 'तादृशसम्बन्ध प्रमापूर्वकत्व' साध्य है, और वह उक्त अनुमान से पूर्व पक्ष में निर्णीत नहीं है'-किन्तु अनुमानाकार के इस परिवर्तन से भी कोइ लाभ नहीं है क्योंकि उक्त 'राज्ञः पुरुषः' इस भाग में व्यभिचार दोष अवारित हो रहता है।

[तात्पर्य रूप आकांक्षा का हेतु में प्रवेश निरर्थक है)

यदि यह परिहार किया जाय कि "तात्पर्य रूप आकाङ्क्षा को हेतु का घटक बनाने पर उक्त व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्य के 'राज्ञः पुरुषः' इस

किञ्च, एवं प्रत्यक्षादिना सिद्धावपि विनैवेच्छां शाब्दबोधानुदयः स्यात् । न च पक्षताया लिङ्गभेदभिन्नत्वेन तत्तल्लिङ्गकानुमितौ तदहेतुत्वादेव नानुपपत्तिरिति वाच्यं, तथाप्यन्वितान्वयवारणाय तल्लिङ्गकतदनुमितौ तल्लिङ्गकतदनुमित्यभावस्य हेतुत्वापेक्षया घटपदजन्यशाब्दबोधे घटपदजन्यशाब्दबोधस्यैव प्रतिबन्धकत्वे लाघवाद् अतिरिक्तशाब्दसिद्धेः ।

भाग का 'राजकीय पुरुष' अर्थ में तात्पर्य न होने से उस भाग के अथ में 'आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्ययुक्तपदस्मारितत्व' हेतु का अभाव है, अतः उक्त भाग के अर्थ में 'तात्पर्यविषयमिथः-संसर्ग' रूप साध्य का अभाव होने पर भी हेतु में साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचार की सम्भावना नहीं है ।-

इस पर शंका हो सकती है कि-'उक्त अनुमान से कर्मत्व आदि में घट आदि का संसर्ग सिद्ध होने पर भी कर्मत्व आदि में निरूपितत्व सम्बन्ध से घटादिप्रकारक बोध की उपपत्ति उक्त अनुमान से नहीं हो सकती । अतः उस बोध के निर्वाहार्थ शब्द को तादृश बोध के प्रति कारण मानना आवश्यक होने से शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण तथा शाब्दज्ञान को विलक्षण प्रमा मानना आवश्यक है'-किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि 'घटाकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्व हेतु से 'कर्मत्वादिकं घटादिमत्' इस आकार का कर्मत्वआदि में निरूपितत्व सम्बन्ध से घटादिप्रकारक अनुमिति का भी जन्म हो सकता है, अतः शाब्दज्ञान को अनुमिति से विलक्षण प्रमा और शब्द को अनुमान से भिन्न प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है" ।-

(अनुमान से शब्दवत् नियत बोध की अनुपपत्ति)

इस परिहार के विरुद्ध शब्दप्रमाणवादियों का कहना है कि शब्द श्रवण के अनन्तर शब्द से उपस्थापित अर्थ का ही बोध होता है, उस बोध में शब्द से अनुपस्थापित अर्थ का भान नहीं होता, किन्तु उस बोधको यदि अनुमितिरूप माना जायगा तो उस में परामर्शविषयीभूत शब्दानुपस्थित अर्थ का भी भान होने लगेगा, अतः शब्द से नियतबोध की ही उपपत्ति के लिये उसे अनुमान से भिन्न प्रमाण मानना आवश्यक है ।-'अन्य अनुमिति में नहीं किन्तु शाब्दज्ञानात्मक अनुमिति में व्युत्पत्ति= पदनिष्ठवृत्तिज्ञान से जन्य पदार्थ की उपस्थिति--को कारण मानने से यह दोष नहीं होगा'-यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि व्युत्पत्ति के स्वरूप में पदनिष्ठ शाब्दज्ञानकारणता प्रविष्ट रहती है । अतः शाब्दज्ञान में व्युत्पत्ति को प्रयोजक तभी माना जा सकता है जब शाब्दज्ञानरूप विलक्षण प्रमा के प्रति शब्द को विलक्षण प्रमाण के रूप में कारण माना जाय । आशय यह है कि 'अमुक पद अमुक अर्थ के शाब्दबोध का जनक हो, या अमुक अर्थ अमुकपदजन्य शाब्दबोध का विषय हो' इस प्रकार के संकेत का ज्ञान या उस से होने वाली पदार्थोपस्थिति ही व्युत्पत्ति है । इसलिये जब उसे शाब्दज्ञान का प्रयोजक माना जायगा तब शाब्दज्ञान को अनुमिति मानने का अवसर ही नहीं उपस्थित हो सकता क्यों कि शाब्दज्ञान को विलक्षण प्रमा मानने पर ही उक्त व्युत्पत्ति बन सकती है।

(अनुमितिपक्ष में शाब्दबोधानुदय की आपत्ति)

शाब्दज्ञान को अनुमिति मानने में एक और भी बाधा है, वह यह कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों के मिथः संसर्ग का निश्चय स्वरूपसिद्ध रहने पर भी शब्द से पदार्थसंसर्गज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस के लिये पदार्थसंसर्ग के शाब्दज्ञान की इच्छा अपेक्षित नहीं होती, किन्तु यदि

एवं पदजन्यविशिष्टवैशिष्ट्यबोधे पदजन्यविशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानहेतुत्वादिनापि तत्सिद्धिः।

अपि च 'घटात् पृथग्' इत्यन्वये शाब्दसमानाकारानुमितिर्दुर्घटा, पृथक्त्वपक्षकानुमितौ तद्वतोऽभानापत्तेः, तद्वतः पक्षत्वे च तत्रैव पञ्चम्यर्थभानापत्तेः। वस्तुतः 'नानुमिनोमि किन्तु शाब्दयामि' इति विषयनाविशेषसिद्ध्या शाब्दस्यातिरेकः। न च शाब्दानुमितिसामग्रीसमाहारे

शाब्दज्ञान को अनुमिति माना जायगा तो अनुमिति के प्रति अनुमितीच्छाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूप पक्षता के कारण होने से उक्त निश्चय एवं शाब्दज्ञान की इच्छा का अभाव इन दोनों के रहने पर पक्षता न होने के कारण शाब्दज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी। यदि यह कहा जाय कि-"अनुमितीच्छाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव को पक्षता नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक लिङ्ग का परामर्श और सिद्धि के रहने पर अन्यलिङ्गक अनुमिति की इच्छा होने पर अनुमितीच्छाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव रहने पर भी अनुमिति नहीं होती, अतः तल्लिङ्गकतत्पक्षकतत्साध्यक अनुमिति के प्रति तल्लिङ्गकतत्पक्षक-तत्साध्यकानुमितीच्छाविरहविशिष्ट तत्पक्षधर्मिक-तत्साध्यप्रकारकसिद्ध्यभाव को ही पक्षताविधया कारण मानना आवश्यक है, तो इस प्रकार लिङ्गभेद से पक्षता का भेद होने से आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्व हेतु से होने वाली पदार्थसंसर्गानुमिति के प्रति पक्षता को कारण न मानने से उक्त दोष की प्रसक्ति नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह वस्तुस्थिति है कि अन्वित का अन्वयबोध नहीं होता अर्थात् शाब्दबोध की धारा नहीं होती किन्तु अनुमितिपक्ष में प्रथम अन्वयबोध के उत्पादक कारणों के विद्यमान रहने पर उन्हीं कारणों से दूसरे तीसरे अन्वयबोध की आपत्ति हो सकती है, अतः उसके वारणार्थ शाब्दज्ञान को अनुमिति रूप मानने वालोंको तल्लिङ्गक अनुमिति में तल्लिङ्गक अनुमिति के अभाव को कारण मानना होगा और शाब्दज्ञान को विलक्षण प्रमा मानने वालों को घट आदि पदों से होनेवाले शाब्दज्ञान के प्रति उसी शाब्दज्ञान को प्रतिबन्धक मानना होगा, जिस में पूर्वापेक्षया लाघव है, इसलिये शाब्दज्ञान को अनुमिति से भिन्न मानना ही उचित है।

'पदजन्य विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक बोध में पदजन्यविशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान कारण होता है' इस कार्यकारणभाव से भी अनुमिति से भिन्न शाब्दज्ञान की सिद्धि अनिवार्य है, क्योंकि पदजन्य बोध यदि अनुमितिरूप होगा तो उसके जन्म में पदजन्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की अपेक्षा न होगी।

('घटात् पृथक्' अनुमिति की दुर्घटता)

शाब्दबोध को अनुमिति मानने में एक और भी संकट है, वह यह कि 'घटात् पृथक्' इस वाक्य से शाब्दबोधवादी के मत में 'घटावधिकपृथक्त्ववान' का बोध होता है जो शाब्दबोध को अनुमिति मानने पर न हो सकेगा, क्योंकि अनुमिति में पृथक्त्व को पक्ष मानने पर पृथक्त्व के आश्रय का भान नहीं होगा, ओर पृथक्त्व के आश्रय को पक्ष मानने पर 'घटात्' इस पञ्चम्यन्त शब्द के अर्थ घटावधिकत्व का पृथक्त्व में भान न हो कर पृथक्त्वके आश्रय में उस के भान की आपत्ति होगी।

युगपदुभयोत्पत्तिवारणायैकसामग्र्या अपरत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवम् , वह्न्यादेरशाब्दानुमितेः अपरस्य शाब्दानुमितेश्चैकदोत्पत्तिवारणाय तत्रापि शाब्दानुमितेः शाब्देतरानुमितिप्रतिबन्धकत्वकल्पनावश्यकत्वात् , इत्यन्यत्र विस्तरः ॥७॥

निगमयन्नाह—

मूलम्—तस्माद् यथोदितात्सम्यगागमाख्यात् प्रमाणतः ।
हिंसादिभ्योऽशुभादीनि नियमोऽयं व्यवस्थितः ॥८॥

तस्माद्=उक्तोपपत्तेः, यथोदितात्=पृथक् प्रमाणत्वेन व्यवस्थापितात्, सम्यगागमाख्यात्=आप्तोक्तशब्दाभिधानात् प्रमाणतः, हिंसादिभ्यः=हिंसाऽहिंसादिभ्यः, अशुभादीनि=पापपुण्यादीनि, बहुवचनाद् दुःखसुखादिसंग्रहः, अयं नियमः=नियतहेतुहेतुमद्भावः, व्यवस्थितः=सिद्धः ॥८॥

('शाब्दयामि' अनुव्यवसाय से शब्दस्वतन्त्रप्रमाण की सिद्धि)

वास्तविक बात तो यह है कि शब्दजन्य बोध का अनुभव अनुमितित्वरूप से न होकर शाब्दत्वरूप से ही होता है क्योंकि शब्दजन्य बोध होने पर 'शब्दाद् अर्थं नानुमिनोमि किन्तु शाब्दयामि=मुझे शब्द से अर्थ कि अनुमिति नहीं हुई है किन्तु शाब्दबोध हुआ है' इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है, इस अनुव्यवसाय से अनुमिति विषयता से शाब्दज्ञान की विलक्षण विषयता सिद्ध होने से शाब्दज्ञान में अनुमितिभिन्नता की सिद्धि अनिवार्य है ।

(उभयपक्ष में गौरव तुल्यता)

'शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न मानने पर किसी एक विषय के शाब्दबोध और उसी विषय की अनुमिति को सामग्रियों का एक काल में सन्निधान होने पर एक ही समय उस विषय के शाब्दबोध और अनुमिति की उत्पत्ति का वारण करने के लिए एक की सामग्री को अन्य के प्रति प्रतिबन्धक मानने से गौरव होगा' इस प्रकार शाब्दबोध के अनुमितिभिन्नता पक्ष में गौरव दोष का आपादन उचित नहीं हो सकता, क्योंकि शाब्दबोध के अनुमितिरूपता पक्ष में भी इस प्रकार का दोष अनिवार्य है, जैसे वह्नि की अशाब्द अनुमिति और अन्य वस्तु की शाब्द अनुमिति की सामग्रियों का एक काल में सन्निधान होने पर दोनों अनुमितियों की एक साथ उत्पत्ति न होकर पहले शाब्द अनुमिति की ही उत्पत्ति होती है, अतः अशाब्द अनुमिति के प्रति शाब्द अनुमिति की सामग्री को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक हो जायगा। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र किया गया है ॥७॥

('हिंसादि से पाप और अहिंसादि से पुण्य'-नियम की सिद्धि)

आठवीं कारिका में पूर्वोक्त विचार का उपसंहार करते हुये यह कहा गया है कि उक्तयुक्तियों से यह सिद्ध है कि शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण है और जैनागम आप्तोक्त शब्द होने से असन्दिग्ध प्रमाण है । इस प्रमाण से हिंसा आदि का पाप आदि के साथ यह नियत हेतुहेतुमद्भाव सिद्ध है कि

क्लिष्टहिंसाद्यनुष्ठानात् प्राप्तिः क्लिष्टस्य कर्मणः ।
यथाऽपथ्यभुजो व्याधेरक्लिष्टस्य विपर्ययात् ॥९॥

एतदेव भावयन्नाह-क्लिष्टात्=संक्लेशबाहुल्यात् हिंसाद्यनुष्ठानात् क्लिष्टस्य=ज्ञानावरणादिप्रकृतिस्य, कर्मणः प्राप्तिर्भवति, यथा अपथ्यभुजः=विरुद्धभोजिनो व्याधेः=रोगस्य प्राप्तिः । तथा विपर्ययात्=अक्लिष्टाहिंसाद्यनुष्ठानात् अक्लिष्टस्य=सातवेदनीयादिशुभप्रकृतिकस्य कर्मणः, प्राप्तिर्भवति, यथापथ्यभोजिनो व्याधिविगमात् सुखस्य प्राप्तिरिति ॥९॥

आगमाद् नियममुक्त्वा स्वभावात् तं व्यवस्थापयितुमाह-

मूलम्—स्वभाव एव जीवस्य यत्तथा परिणामभाक् ।
बध्यते पुण्यपापाभ्यां माध्यस्थ्यात्तु विमुच्यते ॥१०॥

एष जीवस्य=चेतनस्य; स्वभावो यत्तथापरिणामभाक्,हिंसादिपरिणतः पुण्यपापाभ्यां बध्यते, माध्यस्थ्यात्तु=वैराग्यात्तु विमुच्यते=क्षीणकर्मा भवति । इत्थं चैतदवश्यमङ्गीकर्तव्यम् , अन्यथा 'दण्डादेरेव घटजनकत्वं, न वेमादेः' इति कुतः ? इति प्रश्ने किमुत्तरमभिधानीयमायुष्मता ? न च प्रश्नस्यैवानुपपत्तिः, 'पर्वते वह्निः कुतः ?' इत्यत्रेव ज्ञापकहेतुजिज्ञासया तदुपपत्तेः । न चैवं स्वभावेऽपि प्रश्नापत्तिः, तत्र व्याघातेन शङ्काया एवानुदयादिति ॥१०॥

हिंसा आदि निषिद्ध कर्म पाप के और उस के द्वारा दुःख आदि के कारण हैं, एवं अहिंसा आदि विहित कर्म पुण्य के और उस के द्वारा सुख आदि के कारण हैं ॥८॥

नववीं कारिका में उक्त विषय को ही उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

क्लिष्ट आचरण यानी संक्लेशपूर्ण हिंसा आदि कार्यों के करने से क्लिष्टकर्म अर्थात् ज्ञानादि का आवरण करने वाले कर्म की प्राप्ति (बन्ध)होती है, यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार विरुद्ध भोजन करनेवाले रोगी को रोग की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार अक्लिष्ट=क्लिष्टविपरीत आचरण से यानी सक्लेशहीन अहिंसा आदि कार्यों के करने से सातवेदनीय-सुखोत्पादक आदि शुभपरिणामी कर्म की प्राप्ति होती है, यह भी ठीक उसी प्रकार, जैसे पथ्यभोजी मनुष्य को रोग की निवृत्ति होने से सुख की प्राप्ति होती है ॥९॥

(बन्ध और मोक्ष का कारण जीवस्वभाव है)

हिंसा आदि का पाप आदि के साथ एवं अहिंसा आदि का पुण्य आदि के साथ हेतु हेतुमद्भाव का नियामक आगम है, यह कहने के बाद 'स्वभाव भी उसका नियामक है' यह बात दसवीं कारिका में बतायी गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

उक्तमेवाङ्गीकारयति-

मूलम्-सुदूरमपि गत्वेह विहितासूपपत्तिषु ।
कः स्वभावागमावन्ते शरणं न प्रतिपद्यते ? ॥११॥

इह=शास्त्रे, सुदूरमपि गत्वा=बहून्यपि प्रमाणानि परिगृह्य, उपपत्तिषु=सूक्ष्मयुक्तिषु, विहितासु=प्रकटीकृतासु, को वादी, अन्ते=बाधकतर्कोपस्थितौ, स्वभावागमौ शरणं न प्रतिपद्यते ?=स्वपक्षसाधनार्थं बलवत्त्वेन नाङ्गीकुरुते ! सर्व एव तथा प्रतिपद्यत इत्यर्थः । बौद्धेनाऽहेतुकस्य कार्यस्य स्वभावेन कादाचित्कत्वसमर्थनात्, मीमांसकेन च यागीयहिंसायामधर्मजनकत्वाभावे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवेदवाक्यस्यैव प्रमाणत्वेनाऽऽश्रयणादिति ॥११॥

चेतन प्राणी का यह स्वभाव ही है कि वह हिंसा आदि के कर्ता रूप में परिणत होकर पुण्य-पाप के बन्धन को प्राप्त करता है और मध्यस्थ अर्थात् हिंसा आदि से विरत होकर उस बन्धन से मुक्त होता है, अपने पूर्व प्राप्त कर्मबन्धों का क्षय करता है। इस स्वभाववाद का अङ्गीकार परमावश्यक है, अन्यथा 'दण्डआदि ही घट के उत्पादक होते हैं, वेमा आदि पट के कारण घट का उत्पादन क्यों नहीं करते ?' इस प्रश्न का कोई उचित उत्तर न दिया जा सकेगा। यहाँ यह कहना कि "अमुक कारण ही अमुक कार्य का जनक होता है दूसरा क्यों नहीं होता ? यह प्रश्न ही नहीं हो सकता क्यों कि जिस कार्य का जो कारण होता है उसी से उस का जन्म होना लोकसिद्ध है"-ठीक नहीं है क्योंकि जैसे 'पर्वत में वह्नि किस हेतु से ज्ञेय है ?' इस प्रकार ज्ञापक हेतु की जिज्ञासा होती है, वैसे ही 'दण्ड आदि में ही घट की कारणता क्यों है ?' इस प्रकार ज्ञापक हेतु की जिज्ञासा होने में कोई बाधा नहीं है। 'ज्ञापक हेतु की उक्त जिज्ञासा के समान, स्वभाव के भी ज्ञापक की जिज्ञासा होने से स्वभाव-कल्पना में अनवस्था होगी' यह शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि स्वभाव को शंका-का विषय नहीं बनाया जा सकता, कारण कि उसे शङ्का का विषय बनाने की चेष्टा करने पर शंका कारणों भी शङ्का का विषय हो जाने से शङ्का का जन्म ही दुर्घट हो जायगा ॥१०॥

(स्वभाव और आगम अंतिम शरण्य है)

इस कारिका में पूर्वकारिका में उक्त स्वभाववाद और आगमवाद को अङ्गीकार करने की विवशता बतायी गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

शास्त्र में कीसी पक्ष का समर्थन करने के लिए अनेक प्रमाणों द्वारा सूक्ष्मयुक्तियों का प्रदर्शन करने पर जब उन के बाधक तर्क उपस्थित होते हैं तब किस वादी को स्वभाव और आगम का सहारा नहीं लेना पडता ? अर्थात् समस्तवादियों को अपने पक्षका समर्थन करने के लिए स्वभाव और आगम को ही बलवान प्रमाण के रूप में ग्रहण करना पडता है। बौद्ध कार्य को अहेतुक मानते हुये भी कादाचित्क-कालविशेष में ही होने वाला, कालान्तर में न होने वाला मानते हैं। कार्य के सहेतुकत्व पक्ष में तो हेतु के कादाचित्क होने से कार्य का कादाचित्क होना युक्तिसंगत है, पर

परः पर्यनुयुङ्क्ते—

मूलम्-प्रतिपक्षस्वभावेन प्रतिपक्षागमेन च ।
बाधितत्वात्कथं ह्येतौ शरणं युक्तिवादिनाम् ? ॥१२॥

प्रतिपक्षस्वभावेन=उक्तविपरीतस्वभावेन, **प्रतिपक्षागमेन**=उक्तविपरीतागमेन च बाधितत्वात्, **हि**=निश्चितम्, **एतौ**=उक्तस्वभावागमौ, **युक्तिवादिनाम्**=युक्तिप्रधानवादिनाम्, न तु श्रद्धामात्रवताम्, **कथं शरणम्** ? कथमर्थसिद्धिक्षमौ ? न कथंचिदित्यर्थः ॥१२॥

कार्य के अहेतुकत्व पक्ष में कार्य की उत्पत्ति में किसी हेतु की अपेक्षा न होनें से उस का सार्वदिक होना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कादाचित्क होना तो कथमपि सम्भव नहीं है, किन्तु बौद्ध यही उत्तर देकर इस संकट से मुक्त होते हैं कि कार्य का यह स्वभाव ही है कि वह कादाचित्क ही हो, सार्वदिक न हो।

इसी प्रकार 'याग में होनेवाली हिंसा पापजनक नहीं होती' इस पक्ष का समर्थन करने के लिये मीमांसकों को भी कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता, विवश होकर उन्हें यही कहना पडता है कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत=स्वर्ग के इच्छुकव्यक्ति को ज्योतिष्टोम याग करना चाहिये' इस आशय का वेदवाक्य ही इस बात में प्रमाण है कि हिंसायुक्त भी याग से पाप का उदय न होकर स्वर्गप्रद पुण्य का ही उदय होता है ॥११॥

[प्रतिपक्ष के होने पर स्वभाव--आगम शरण्य कैसे ?]

१२ वी कारिका में स्वभाव और आगम की प्रमाणता के विरुद्ध प्रतिवादी का प्रश्न प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है–

एक वादी किसी एक स्वाभिमत पक्ष का समर्थन करने के लिये जिस स्वभाव या आगम का सहारा लेता है, अन्यवादी उस पक्ष के विरोधी पक्ष के समर्थन के लिये उक्त स्वभाव और उक्त आगम से विपरीत स्वभाव और विपरीत आगम को भी प्रस्तुत कर सकता है । जैसे चार्वाक आदि नास्तिक दार्शनिक यह कह सकते हैं कि "किसी धनपति की हिंसा से लोकसुखसम्पादक प्रचुर धन की प्राप्ति हो सकती है, अतः तदर्थ अन्य प्रयास अनपेक्षित है, हिंसा का यह स्वभाव ही है या समझदार पूर्वपुरुषों का यही कथन है कि हिंसा से सुख ही प्राप्त होता है, किसी प्रकार का अहित नहीं होता ।" तो इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा विरुद्ध स्वभाव और विरुद्ध आगम प्रस्तुत करने पर वादी द्वारा प्रस्तुत किये गये स्वभाव और आगम से उसके अभिमत पक्ष की सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी ? जो वादी श्रद्धामात्र को महत्त्व न दे कर युक्ति को ही प्रधानता प्रदान करते हैं, स्वभाव और आगम से उन्हें कैसे सन्तुष्ट किया जा सकता है, निर्बाधयुक्ति के विना किसी भी पक्ष को उनके गले के नीचे कैसे उतारा जा सकता है ? स्पष्ट है कि स्वभाव और आगम के बल पर युक्तिवादियों के समक्ष किसी पक्ष का समर्थन कथमपि नहीं किया जा सकता ॥१२॥

मूलम्-प्रतीत्या बाध्यते यो यत्स्वभावो न स युज्यते ।
वस्तुनः कल्प्यमानोऽपि वह्न्यादेः शीततादिवत् ॥१३॥

समाधत्ते-यद् = यस्मात् कारणात्, यः स्वभावः प्रतीत्या = प्रमाणेन, बाध्यते स कल्प्यमानोऽपि तत्स्वभावत्वेन वह्न्यादेः शीततादिवद् जात्याऽऽपाद्यमानोऽपि वस्तुनः स्वभावो न युज्यते = न सत्तर्कविषयो भवति । तथा च 'वह्न्यादेर्यदि उष्णत्वादिस्वभावः स्यात्, शीतत्वाद्यपि स्याद्' इतिवत् 'हिंसादेर्यद्यधर्मजनकत्वादिस्वभावः स्याद्, धर्मजनकत्वाद्यपि स्याद्' इति न बाधकमिति भावः ॥१३॥

मूलम्-वह्नेः शीतत्वमस्त्येव, तत्कार्यं किं न दृश्यते ? ।
दृश्यते हि हिमासन्ने, कथमित्थं ? स्वभावतः ॥१४॥

पर आह-वह्नेः शीतत्वमस्त्येव = स्वाभाविकमेव मृगतृष्णिकादिवत् । तत्राह--यदि भ्रमादुपलभ्यमानमपि शीतत्वं वह्निस्वभावः, तदा तत्कार्यं = तत्सङ्गेन रोमाञ्चाविर्भावादि, किं न दृश्यते ? । पर आह-हि=निश्चितम्, हिमासन्ने वह्नौ, शीतकार्यं रोमाञ्चादि दृश्यते, तत्राचार्य आह-इत्थं कथम् ? हिमासन्न एव वह्निः शीतकार्यं जनयति, नान्यदा' इति कथम् ! । पर आह-स्वभावतः, यथा दण्डादेश्चक्रादिसंयुक्तस्यैव कार्यजनकत्वस्वभावः, तथा वह्नेर्हिमासन्नस्यैव रोमाञ्चजनकत्वस्वभाव इत्यर्थः ॥१४॥

[प्रमाण से बाधित हो वह स्वभाव कल्पनायोग्य नहीं]

१३ वी कारिका में पूर्व कारिका में उठाये गये प्रश्न का समाधान किया गया है, जो इस प्रकार है,- जो स्वभाव जिस वस्तु में प्रमाण से बाधित होता हो वह उस वस्तु का स्वभाव नहीं माना जा सकता, जैसे यदि यह आपादन किया जाय कि 'जिस प्रकार उष्ण स्पर्श अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार शीत स्पर्श को भी अग्नि का स्वभाव होना चाहिये, क्यों कि उष्ण और शीत दोनों ही स्पर्शजातीय हैं, और इस में कोई तर्क नहीं है कि जिस जाति का एक पदार्थ किसी वस्तु का स्वभाव हो उसी जाति का दूसरा पदार्थ उस का स्वभाव न हो' तो इस आपादकतर्क से शीतस्पर्श अग्नि का स्वभाव नहीं बन सकता, क्योंकि अग्नि में शीत स्पर्श प्रत्यक्ष-प्रमाण से बाधित है। ठीक उसी प्रकार यदि यह आपादन किया जाय कि अधर्मजनकत्व यदि हिंसा का स्वभाव है तो धर्मजनकत्व को भी हिंसा का स्वभाव होना चाहिये, क्यों कि अधर्म और धर्म दोनों ही अदृष्ट हैं, अतः इस में कोई तर्क नहीं है कि हिंसा में अधर्मरूप एक अदृष्ट का जनकत्वस्वभाव हो और धर्मरूप दूसरे अदृष्ट का जनकत्व स्वभाव न हो,-तो इस आपादकतर्क से भी धर्मजनकत्व हिंसा का स्वभाव नहीं बन सकता, क्योंकि यह आपाद्यमान स्वभाव आगमप्रमाण से बाधित है। निष्कर्ष यह है कि जैसे प्रत्यक्ष बाधित होने से शीतस्पर्श अग्नि का स्वभाव नहीं होता उसी प्रकार आगम बाधित होने से धर्मजनकत्व हिंसा का स्वभाव नहीं हो सकता। १३।

एतदेव दृष्टान्तेन दृढयति-

मूलम्--हिमस्यापि स्वभावोऽयं नियमाद् वह्निसन्निधौ ।
करोति दाहमित्येवं वह्न्यादे शीतता न किम्? ॥१५॥

हिमस्याप्ययं स्वभावो यद् नियमात्=अवश्यं, वह्निसन्निधौ = वह्निसमीप एव, दाहं करोति, सामीप्य एवायस्कान्तवत् नागदमनीवत् कार्यकारित्वाद्, इति हेतोः, एवं=हिमस्य दाहजनकत्ववत्, वह्न्यादेः शीतता न किं ?=किं न स्वभावः ? ॥१५॥

[अग्नि शीत हैं--पूर्वपक्ष]

१४ वी कारिका में पूर्व कारिका में किये गये समाधान का वादी द्वारा प्रतिवाद किया गया है, जो इस प्रकार है-

कभी कभी अग्नि में भी शीतस्पर्श की बुद्धि होती है, अतः जैसे मृगतृष्णिका में जल की बुद्धि होने से बुद्धिकाल में जल का अस्तित्व बहुतों को मान्य है, वैसे ही अग्नि में शीतस्पर्श की बुद्धि होने से अग्नि में भी उसका अस्तित्व मान्य है, इस प्रकार शीतत्व अग्नि का स्वाभाविक ही धर्म है। यह प्रश्न उठाना कि-'अग्नि में शीतत्व का उपलम्भ भ्रममूलक है, और यदि भ्रम से उपलभ्यमान वस्तु का भी अस्तित्व माना जायगा तो अग्नि के सम्पर्क से' शीतस्पर्श की अनुभूति रोमाञ्च का उद्गम आदि कार्य भी होना चाहिये'-अवसरोचित नहीं है, क्योंकि हिम के सन्निधान में अग्नि के सम्पर्क से शीतानुभव और रोमाञ्च उद्गम आदि कार्य का होना सर्वमान्य हैं। यह प्रश्न भी उठाना कि 'यदि शीतत्व अग्नि का स्वाभाविक धर्म हैं तो हिम के सन्निधान में ही अग्निसम्पर्क से उक्त कार्य क्यों होते है, हिम के असन्निधान में भी क्यों नहीं होते ?' उचित नहीं है, क्योंकि ये बातें वस्तु के स्वभाव पर निर्भर होती है अतः जैसे चक्र आदि से संयुक्त दण्ड आदि का ही घटजनकत्व स्वभाव होता है, केवल दण्ड आदि का नहीं होता वैसे ही हिमसन्निहित अग्नि का ही शीतकार्यजनकत्वस्वभाव है केवल अग्नि का नहीं। इस स्वभाव के कारण ही केवल अग्नि से शीत का कार्य न होकर हिमासन्न अग्नि से ही होता है ॥१४॥

(हिम के दृष्टान्त से अग्नि में शैत्य का समर्थन)

पूर्व कारिका में कही गयी बात को ही १५ वी कारिका में दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

जैसे अयस्कान्तमणि समीपस्थ ही लौह का आकर्षण करता हैं और नागदमनी समीपस्थ ही नाग का दमन करती है, उसी प्रकार अग्नि के समीप में ही हीम दाह का जनक होता है, अग्नि से दूर रह कर दाह का जनक नहीं होता, तो फिर अग्नि के समीप में ही दाह का जनक होने पर भी जैसे दाहजनकत्व हिम का स्वभाव है वैसे ही हिम के सन्निधान में ही शीतकार्य का जनन करने वाले अग्नि का शैत्य स्वभाव क्यों नहीं हो सकता ? उस में विवाद का क्या अवसर है ! ॥१५॥

अत्रोत्तरमाह—

मूलम्- व्यवस्थाऽभावतो ह्येवं या त्वद्बुद्धिरिहेदृशी ।
सा लोष्टादस्य यत्कार्यं तत् त्वत्तस्तत्स्वभावतः ।।१६।।

एवम्=उक्तरीत्या, व्यवस्थाऽभावतः=सम्यङ्नियामकाभावात् हि=निश्चितम्, या इह=विचारे, ईदृशी = स्वभावान्यथात्वप्रकल्पनात्मिका, त्वद्बुद्धिः, सा लोष्टात्=पाषाणात्, त्वत्समीपस्थे तत्र त्वत्स्वभावसंक्रमात्, तथा, अस्य = लोष्टस्य, यत्कार्यम्, अभिघातादिकम्, तत्, त्वत्तः सकाशात्, लोष्टसमीपस्थस्य तव तत्स्वभावतः = लोष्टस्वभावात् ।।१६।।

ततः किम् ? इत्याह—

मूलम्—एवं सुबुद्धिशून्यत्वं भवतोऽपि प्रसज्यते ।
अस्तु चेत् को विवादो नो बुद्धिशून्येन सर्वथा ।।१७।।

एवं = लोष्टस्वभावत्वे, भवतोऽपि लोष्टवत् सुबुद्धिशून्यत्वं = सम्यग्बुद्धिरहितत्वं, प्रसज्यते, अपिना लोष्टस्यापि बुद्धियुक्तत्वं स्यादिति प्रागुक्तं स्मार्यते । इष्टापत्तावाह—अस्तु न्यायानुगतं तत्स्वभावत्वमिति चेत् ? तदा सर्वथा बुद्धिशून्येन भवता सह, नः=अस्माकं, को विवादः ? एवं चावश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनो हिमादेरेव रोमाञ्चादिकार्यसम्भवे तत्सहभूतस्य वह्नेरन्यथासिद्धत्वाद् न तज्जनकत्वं, न वा तदनुरोधेन शीतस्वभावत्वमिति प्रकृतेऽप्येवं व्यवस्था भावनीया ।

अथैवं कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वे नीलादिवत् साधारण्यं स्यादिति चेत्, स्यादेव, सर्वैस्तत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपम्, अन्यग्रहानधीनग्रहविषयत्वरूपमपि तद् हेतुशक्तावस्त्येव,

---

[अग्नि शीत होने पर अतिप्रसङ्ग--उत्तरपक्ष]

'शैत्य अग्नि का स्वभाव है' इस कथन का उत्तर देने के लिये १६ वी कारिका की रचना हुयी है। अर्थ इस प्रकार है,-

जिस प्रकार समीचीन नियामक के अभाव में भी अग्नि के सामीप्य मात्र से हिम में दाहकत्व स्वभाव और हिम के सामीप्यमात्र से अग्नि में शैत्यस्वभाव की कल्पना आप करते हैं, उसी प्रकार वह कल्पना निश्चितरूप से पाषाण को भी होनी चाहिये, क्योंकि सामीप्यमात्र से ही यदि एक वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु में संक्रान्त होगा तो आप के समीपस्थ पाषाण में आप की बुद्धि का भी सङ्क्रमण आवश्यक है। इसी प्रकार पाषाण से होने वाले अभिघात आदि कार्य आप से भी होने चाहिये, क्योंकि पाषाण के सन्निधान में उस के स्वभाव का संक्रमण आप में भी होना अनिवार्य है ।।१६।।

व्यञ्जकस्वभावे त्वन्यघटितत्वादेव नास्ति । न च परापेक्षत्वादलीकत्वापत्तिः, तथा नियमाऽभावात्, अभ्यधिष्महिं च भाषारहस्ये-।। [श्लो०-३०]

ते होंति परावेक्खा वंजगमुहदंसिणो त्ति ण य तुच्छा ।
दिट्ठमिणं वेचित्तं सरावकप्पूरगंधाणं ।। इति, अधिकं तद्विवरणादवसेयम् ।

(स्वभाव के अन्योन्य संक्रम की आपत्ति)

१७ वीं कारिका में पूर्व कारिका में उद्भावित अर्थ का निष्कर्ष बताते हुये किसी वस्तु के अस्वाभाविक धर्म को उस का स्वभाव बताने का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है, आप में पाषाणस्वभाव का संक्रमण होने पर आप बुद्धिशून्य हो जायेंगे और पाषाण में अन्य के स्वभाव का संक्रमण होने पर पाषाण बुद्धिमान हो जायगा;-युक्तिसंगत होने से यह बात यदि मान ली जायगी तो बुद्धिशून्य व्यक्ति से हमारा विवाद ही क्या रह जायगा ? अर्थात् उस स्थिति में आप से कोई विवाद करना सम्भव ही न होगा । अतः अन्ततो गत्वा यही कहना होगा कि जब रोमाञ्चोद्गम आदि शीतकार्य की उपपत्ति के लिये हिम का सन्निधान अनिवार्य है तो अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्ती होने से वही उक्त कार्य का जनक है और अग्नि अवश्यक्लृप्त नियतपूर्ववर्ती से भिन्न होने के कारण उक्त कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होने से उक्तकार्य का जनक नहीं है; अतः उक्तकार्यजनकत्व के आधार पर उस में शैत्यस्वभाव की कल्पना नहीं हो सकती । यही दृष्टि प्रकृत विषय हिंसा आदि के अधर्मादिजनकत्वस्वभाव और अहिंसा आदि के धर्मादिजनकत्वस्वभाव के विषय में भी उपादेय है ।

(सर्वकार्यसाधारण कारणता की आपत्ति का निवारण)

उक्त दृष्टि अपनाने पर यह तर्क उठ सकता है कि-' कारणत्व यदि स्वाभाविक होगा, उसे सर्वसाधारण होना चाहिये अर्थात् जो वस्तु किसी एक कार्य का कारण है उसे सब वस्तु का कारण होना चाहिये क्योंकि जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है वह किसी के प्रति उस का स्वभाव हो और किसी के प्रति उस का स्वभाव न हो ऐसा नहीं होता किन्तु वह सभी के प्रति उस का स्वभाव होता है । जैसे कोई वस्तु यदि नीलस्वभाव है तो वह कुछ लोगों के प्रति नील और कुछ लोगों के प्रति अनील न होकर सब के प्रति नील ही होती है. उसी प्रकार जो वस्तु कारणस्वभाव होगी उसे किसी एक ही कार्य का कारण न होकर सब कार्यों का कारण होना न्यायसंगत है'—किन्तु यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि कारणत्व नीलत्व के समान किसी वस्तु का निरपेक्ष स्वभाव न होकर कार्यसापेक्षस्वभाव है अर्थात् समान्यतः कारणत्व किसी वस्तु का स्वभाव नहीं होता अपि तु तत्तत्कार्यकारणत्व वस्तु का स्वभाव होता है, और वह सर्वसाधारण होता ही है; क्योंकि जो वस्तु किसी एक मनुष्य की दृष्टि से जिस कार्य की कारण होती है वह सभी की दृष्टि से उस कार्य की कारण होती है ।

आशय यह है कि कारणत्व में जिस साधारण्य का आपादान वादी को करना है उस का दो प्रकार हो सकता है। १) सब मनुष्यों द्वारा कारण रूप से ज्ञायमान होना-[सर्वैः कारणत्वेन ज्ञायमानत्वं]

१-ते भवन्ति परापेक्षा व्यञ्जकमुखदर्शिन इति न च तुच्छाः । दृष्टमिदं वैचित्र्यं शरावकर्पूरगन्धयोः ।।

एवं प्रतिपक्षस्वभावो निराकृतः, ततः प्रतिपक्षागमनिराकरणे प्राप्तेऽप्यागमशरणार्थं प्रसङ्गाद् वार्तान्तरमुत्थापयति-

मूलम्-अन्यस्त्वाहेह सिद्धेऽपि हिंसादिभ्योऽशुभादिके।
शुभादेरेव सौख्यादि केन मानेन गम्यते ? ॥ १८ ॥
अत्रापि ब्रुवते केचित् सर्वथा युक्तिवादिनः।
प्रतीतिगर्भया युक्त्या किलैतदवसीयते ॥ १९ ॥

अन्यस्तु वादी आह, इह=न्याये लोके च, हिंसादिभ्य एवाशुभादिके सिद्धेऽपि, शुभादेरेव=पुण्यकर्मादेरेव सौख्यादि भवति न पापादेः, इति केन मानेन गम्यते ? ॥१८॥

और (२) अन्य ज्ञान की अपेक्षा न करने वाले ज्ञान का विषय होना (अन्यज्ञानानधीनज्ञानविषयत्वं), किन्तु इन दोनों ही का आपादान नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों प्रकार का साधारण्य कारणत्व में विद्यमान हैं, जैसे,-जिस वस्तु को एक मनुष्य जिस कार्य का कारण समझता है, सभी मनुष्य उस वस्तु को उस कार्य का कारण समझते हैं, एवं किसी वस्तु को किसी कार्य के कारणरूप में जानने के लिये किसी अन्यज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

(कारणता कार्यसापेक्ष होती है)

पूरे कथन का अभिप्राय यह है कि 'कारणत्व' कार्यनिरपेक्ष न होकर कार्यसापेक्ष होता है, किन्तु कार्यविशेष के विना भी यदि सामान्य कारणत्व का निर्वचन किसी प्रकार हो सके तो उस में भी उक्त दोनों प्रकार का साधारण्य विद्यमान हैं, हां, तत्कार्यकारणत्व के ज्ञान में तत्कार्यज्ञान की अपेक्षा होने से उस में दूसरे साधारण्य की उपपत्ति में बाधा आपाततः अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु विचार करने पर वह बाधा भी नहीं हो सकती क्योंकि तत्कार्य तत्कार्यकारणत्व का व्यञ्जक है, और व्यञ्जक से घटित वस्तु के विषय में दूसरे प्रकार का साधारण्य सामान्यतः अन्यग्रहानधीनग्रहविषयत्वरूप न होकर व्यञ्जकान्यग्रहानधीनज्ञानविषयत्वरूप होता है, और वह व्यञ्जकसापेक्ष वस्तु में अक्षुण्ण होता है।

शंका-"कारणत्व यदि परापेक्ष होगा तो अलीक=अवास्तविक हो जायगा, क्योंकि जो परापेक्ष होता है वह अलीक होता है। अतः जैसे स्फटिकमणि में प्रतीत होनेवाली रक्तता जपाकुसुम के सन्निधान को सापेक्ष होने से अलीक होती है, उसी प्रकार कार्यसापेक्ष होने से कारणत्व भी अलीक हो जायगा"-यह शङ्का उचित नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'जो परापेक्ष होता है वह अलीक होता है, यह नियम नहीं है, यह तथ्य व्याख्याकारने 'भाषारहस्य' नामक ग्रन्थ में 'ते होन्ति०' इस गाथा द्वारा अभिहित किया है। गाथा का अर्थ इस प्रकार है-परापेक्ष वस्तु में कई व्यञ्जक सापेक्ष होती हैं, अलीक नहीं होती, प्रामाणिक वस्तुओं में यह वैचित्र्य देखा जाता है कि उन में कोई वस्तु किसी व्यञ्जक की अपेक्षा किये बिना ही अभिव्यक्त होती है जैसे कपूर का गन्ध, और कोई वस्तु व्यञ्जक के सन्निधान में ही अभिव्यक्त होती है जैसे शराव=मिट्टी के पके नये बर्तन-का गन्ध। इस विषय की अधिक जानकारी उक्तगाथा के विवरण से ज्ञातव्य है ॥१७॥

अत्र केषांचित्समाधानवार्तामाह–**अत्रापि**=उक्तपूर्वपक्षेऽपि, **केचित् सर्वथा युक्तिवादिनः**=आगमनिरपेक्षयुक्तिप्रणयिनः, **ब्रुवते** । किं ब्रुवते ? इत्याह–**प्रतीतिगर्भया**=अनुभवसहकृतया, **युक्त्या** तर्केण, **'किल'** इति सत्ये, **एतत्**=प्राक् पर्यनुयुक्तम्, **अवसीयते**=निश्चीयते ॥१९॥

मूलम्–तथाहुर्नाशुभात् सौख्यं तद्बाहुल्यप्रसङ्गतः ।
बहवः पापकर्माणो विरलाः शुभकारिणः ॥ २० ॥

तन्मतमेवाह–**ते**=वादिन आहुर्यद् **अशुभात्**=पापकर्मणः, **सौख्यं न** भवति । कुतः ? इत्याह–**तद्बाहुल्यप्रसङ्गतः**=सुखभूयस्त्वप्रसङ्गात् । इदमपि कुतः ? इत्याह–**पापकर्माणः**=हिंसादिकारिणो **बहवो** व्याधादयः, **शुभकारिणः**=हिंसादिनिवृत्ताः साधुप्रभृतयः **विरलाः**=स्तोकाः । एवं च 'सुखं यदि पापजन्यं स्यात् यावत्पापकर्मवृत्ति स्यात्, दुखं च यदि पुण्यजन्यं स्यात् पुण्यसमानाधिकरणं न स्याद्' इति तर्कशरीरं बोध्यम् ॥२०॥

['शुभकर्मसे ही सुख' इसमें क्या प्रमाण ?]

प्रतिपक्षी स्वभाव का निराकरण करने के बाद यद्यपि प्रतिपक्षी आगम का ही निराकरण करना उचित है, तथापि आगम का शरण लेने के लिये प्रसङ्गवश एक अन्य विषय की चर्चा १८ वी कारिका में की गयी है, जो इस प्रकार है-

एक अन्य वादी का यह प्रश्न है कि न्याय और लोक के अनुसार यह यद्यपि सिद्ध है कि हिंसा आदि निन्दित कर्मों से ही अशुभ-पाप आदि का जन्म होता है, तथापि 'सुख आदि का उदय शुभ-पुण्य कर्मों से ही होता है' इस में क्या प्रमाण है ? ॥१८॥

१९ वी कारिका में कुछ लोगों द्वारा उक्त प्रश्न के समाधान की चर्चा की गयी है । समाधान इस प्रकार है-जो विद्वान आगम को मान्यता न दे कर केवल युक्तियों का ही अवलम्बन करते हैं, उन की ओर से उक्त प्रश्न के समाधान में यह कहा जाता है कि पाप कर्म से सुख नहीं होता, किन्तु पुण्य कर्म से ही सुख होता है इस बात का निश्चय अनुभव और तर्क से सम्पन्न होता है. यह सत्य है इस में कोई संशय नहीं है ॥१९॥

[पाप से सुख होने पर सुखीजनबहुलता की आपत्ति]

२० वी कारिका में युक्तिवादियों का ही मत स्पष्ट किया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

युक्तिमात्रवादी विद्वानों का यह कहना है कि पापकर्म से सुख का जन्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि पापकर्म से सुख का जन्म होगा तो संसार में हिंसा आदि पापकर्म करने वाले व्याध आदि की संख्या अधिक होने से पापकर्म की अधिकता के कारण अधिक सुख की उत्पत्ति होगी। फलतः संसार के दुःखी जनों की अपेक्षा सुखी जनों की बहुलता होनी चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है, संसार में तो सुखी प्राणियों की अपेक्षा दुःखी प्राणी ही अधिक हैं । इसी प्रकार पुण्य कर्म से यदि दुःख का जन्म

अत्रापाद्यविपर्ययप्रदर्शनेन शुद्धत्वमाह-

मूलम्--न चैतद् दृश्यते लोके दुःखबाहुल्यदर्शनात् ।
शुभात् सौख्यं ततः सिद्धमतोऽन्यच्चाप्यतोऽन्यतः ॥२१॥
अन्ये पुनरिदं श्राद्धा ब्रुवते आगमेन वै ।
शुभादेरेव सौख्यादि गम्यते नान्यतः क्वचित् ॥२२॥

न चैतद् आपाद्यमानं, लोके=जगति दृश्यते । कुतः ? इत्याह दुःखबाहुल्यदर्शनात् =दुःखस्य पुण्याऽसमानाधिकरणत्वदर्शनात् , इदमुपलक्षणं सुखे यावत्पापकर्तृवृत्तित्वाभावस्य । ततः शुभात् =पुण्यात् सौख्यम् , अतः सौख्याद् अन्यद् = दुःखं चापि, अतः =पुण्याद् अन्यतः =पापात् , सिद्धम् ॥२१॥

नेदं स्वतन्त्रसाधनं, किन्त्वापाततः प्रसङ्गापादनं, तच्च न साधकम् , इत्यन्येषां वार्तान्तरमाह-'अन्ये पुनरिति' । अन्ये पुनः श्राद्धाः = आगमे श्रद्धावन्तः, इदं वक्ष्यमाणं ब्रुवते । किम् ? इत्याह-वै=निश्चितम् , शुभादेरेव =पुण्यादेरेव, सौख्यादि फलमित्यागमेन गम्यते क्वचित् = कुत्रापि, अन्यतः = अन्येन मानेन न गम्यते ॥२२॥

होगा तो हिंसा आदि से निवृत्त रहकर पुण्य कर्म करने वाले साधुपुरुषों की सख्या कम होने से पुण्यकर्म की अल्पता के कारण दुःख की उत्पत्ति अल्प होगी, फलतः संसार में सुखी जनों की अपेक्षा दुःखी जनों की संख्या अल्प होनी चाहिये, जब कि ऐसा नहीं है। इसलिये पाप कर्म से सुख की उत्पत्ति मानना यह तर्कसगत नहीं है।

तर्क का शरीर इस प्रकार ज्ञातव्य है-

सुख यदि पाप से उत्पन्न होगा तो उसे सभी पापकर्मी जीवों में रहना चाहिये। इसी प्रकार दुःख यदि पुण्य से उत्पन्न होगा तो उसे भी सभी पुण्यकर्मी जीवों में रहना चाहिये। और उस स्थिति में न तो कोई पापी दुःखी हो सकेगा, और न कोई पुण्यवान सुखी हो सकेगा ॥२०॥

[लोक में दुःखबहुलता होने से पुण्य से सुख की सिद्धि]

इक्कीसवीं कारिका में पूर्वोक्त तर्क को विपरीतानुमानपर्यवसायी बताकर उस की शुद्धता बतायी गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है,—

पूर्व कारिका में पाप कर्म को सुख का उत्पादक मानने पर ससार में अधिक सुख की उत्पत्ति का आपादान किया गया था, जिस से यह विपरीत अनुमान फलित होता है कि पापकर्म सुखका उत्पादक नहीं है, क्यों कि संसार में सुख को अधिकता नहीं देखी जाती, प्रत्युत दुःख को ही अधिकता देखी जाती है। देखने में यही आता है कि दुःख पुण्य का असमानाधिकरण होता है, पुण्यवान् को नहीं होता। यह इस बात का उपलक्षण है कि सुख कभी पापकर्मी जीवों को नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध है कि पुण्य से सुख का और पुण्य से भिन्न पाप से सुख से भिन्न दुःख का जन्म होता है ॥२१॥

कुतः ? इत्याह–

मूलम्--अतीन्द्रियेषु भावेषु प्राय एवंविधेषु यत् ।
छद्मस्थस्याऽविसंवादि मानमन्यन्न विद्यते ॥२३॥
यच्चोक्तं दुःखबाहुल्यदर्शनं तन्न साधकम् ।
क्वचित्तथोपलम्भेऽपि सर्वत्राऽदर्शनादिति ॥२४॥

प्रायः=बाहुल्येन, एवं विधेषु=उक्तजातीयेषु, अतीन्द्रियेषु = ऐन्द्रियकक्षयोपशमाऽग्राह्येषु, भावेषु, यत्=यस्मात् कारणात्, छद्मस्थस्य=अक्षीणघातिकर्मणः, अविसंवादि=अप्रामाण्यशङ्कादिविरहितम्, अन्यत्=शब्दातिरिक्तम्, मानं=प्रमाणं, न विद्यते । प्रातिभादिना योगिभिस्तद्ग्रहणात् प्रायोग्रहणम् । अत्र च यद्यप्यतीन्द्रियार्थे पूर्वमागमस्य प्रमाणान्तरानधिगतवस्तुप्रतिपादकत्वेनाहेतुवादत्वं, तथाऽप्यग्रे तदुपजीव्यप्रमाणप्रवृत्तौ हेतुवादत्वेऽपि न व्यवस्थाऽनुपपत्तिः, आद्यदशापेक्षयैव व्यवस्थाभिधानात् । अतो यदन्यत्रोक्तम् ' 'आगमश्चोपपत्तिश्च' इत्यादि, तद् नानेन सह विरुध्यते, अपूर्वत्वं चादृष्टस्योपपद्यत इति ध्येयम् ॥२३॥

[आगम ही शुभ में सुखकारणता का बोधक है]

बाइसवीं कारिका में यह बताया गया है कि तर्क स्वतन्त्र साधन न होने से उक्त अर्थ का साधक नहीं हो सकता अतः उक्त अर्थ की सिद्धि अन्य साधन से करनी होगी, और वह अन्य साधन होगा 'आगम'। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

आगम में श्रद्धा रखनेवाले पुण्यात्मा मनीषियों का यह कहना है कि पुण्यकर्म से ही सुख होता है और पापकर्म से ही दुःख होता है, यह बात निश्चित रूप से 'आगम' प्रमाण से ही सिद्ध हो सकती है, किसी अन्य प्रमाण से कदापि नहीं सिद्ध हो सकती। केवल तर्क से इस बात की सिद्धि की आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि तर्क कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह तो प्रमाणान्तर का उपोद्बलक (पोषक) मात्र है, अतः उक्त बात की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण होना आवश्यक है और वह प्रमाण आगम ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं, उक्त तर्क का उसी आगम की परिचर्या में विनियोग हो सकता है ॥२२॥

[अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान आगम विना दुःशक्य]

इस तेईसवीं कारिका में उक्त विषय में एक मात्र आगम ही प्रमाण क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जो इस प्रकार है–

उक्त विषय जैसे अतीन्द्रिय(=इन्द्रियजन्य क्षयोपशम से अग्राह्य) पदार्थों के सम्बन्ध में छद्मस्थ-घातीकर्मों से आवृत पुरुष शब्द से अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर सकते, 'जो योगी के प्रातिभ ज्ञान से भिन्न हो तथा अप्रामाण्यशङ्का आदि से कवलित न हो, इसलिये उक्त विषय में हिंसा

टिप्पण–१ आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियानामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥

उक्ततर्के बाधकमुक्त्वा प्रकृतोपपत्तिमाह–यच्च दुःखबाहुल्यमुक्तं तर्कघटकत्वेन, तत् साधकम्=आपादकमपि न, कुतः ? इत्याह–क्वचिद्=भरतादौ, तथोपलम्भेऽपि दुःखबाहुल्यदर्शनेऽपि, सर्वत्र=महाविदेहादौ, अदर्शनाद्=दुःखबाहुल्यानुपलम्भात् । इतिःहेतुसमाप्त्यर्थः ॥२४॥

मूलम्-सर्वत्र दर्शनं यस्य तद्वाक्यात् किं न साधनम् ?
साधनं तद् भवत्येवमागमात्तु न भिद्यते ॥२५॥

अथ यस्य सर्वत्र=सर्वक्षेत्रेषु, दर्शनं=दुःखबाहुल्यज्ञानं, तद्वाक्याद् दुःखबाहुल्यं ज्ञात्वा साधनम्=उक्तप्रसङ्गसाधनं, किं न भवेद् , आपाद्यव्यतिरेके निश्चयसाम्राज्याद् ?, इति चेत् , तत् साधनं भवत्येव, तु=पुनः, एवम्=उक्तप्रकारेण, आगमाद् न भिद्यते, श्रुतानुसारिमतेः श्रुतान्तर्भूतत्वात् । अत एव भव्याभव्यादिभावानां पूर्वम् "[1]तत्थ य अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा" इति गाथाप्रतीकेनाऽहेतुवादविषयत्वमुक्त्वापि "[2]भविओ सम्मद्दंसण-नाण चरित्त-पडिवत्तिसम्पण्णो । णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥" इति गाथानन्तरमागमोपगृहीतहेतुप्रवृत्त्या हेतुवादविषयत्वमुक्तं भगवता सम्मतिकृता, इत्यवधेयम् ॥२५॥

आदि के अधर्मादिजनकत्व और अहिंसा आदि के धर्मादिजनकत्व में एकमात्र आगम ही प्रमाण है । अतीन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में आगम पहले यद्यपि प्रमाणान्तर से अनधिगत वस्तु का ही प्रतिपादन करता है, अतः आगमप्रतिमाद्यवस्तु हेतुवाद पर निर्भर नहीं होती तथापि बाद में आगम के आधार पर प्रमाणान्तर की भी प्रवृत्ति होने से वह वस्तु हेतुवाद पर भी आश्रित हो जाती है, फिर भी 'उक्त विषय में एकमात्र आगम ही प्रमाण है' इस व्यवस्था की अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आद्य प्रतिपादन की अपेक्षा ही यह व्यवस्था कही गयी है । इसीलिये जो अन्यत्र आगम और युक्ति दोनों को अतीन्द्रियार्थों का साधक बताया गया है उसका उक्तव्यवस्था से कोई विरोध नहीं होता और अदृष्ट में अपूर्वत्वकी उपपत्ति भी हो जाती है क्योंकि आगमिक आद्यप्रतिपादन के पूर्व उसमें अन्य कोसी प्रमाण की प्रवृति नहीं हो सकती ॥२३॥

चौबीसवीं कारिका में उक्त तर्क से उक्त विषय की सिद्धि में बाधक बताकर आगम की साधकता का उपपादन किया गया है, वह इस प्रकार कि-उक्त तर्क के अङ्गरूप में सुख की अपेक्षा दुःख की बहुलता देखने की जो बात कही गयी है, वह भी [3] भरतक्षेत्र में देखे जाने पर भी [3] महाविदेह क्षेत्र में उपलब्ध न होने से उक्त विषय की सिद्धि में सहायक नहीं हो सकती ॥२४॥

---

१ "तत्र चाऽहेतुवादो भव्याभव्यादयो भावाः" (सम्मतिसूत्रे गाथा १४०) २ "भव्यः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिसम्पन्नः । नियमात् दुःखान्तकृत् इति लक्षणं हेतुवादस्य" ॥ (सम्मतिसूत्रे गाथा १४१)

३ भरतक्षेत्र और महाविदेहक्षेत्र के परिचय के लिये क्षेत्रसमास, बृहत् संग्रहणी आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं ।

नन्वागमेनापि कथमयं नियमो बोधनीयः, पापादपि सुखदर्शनेन व्यभिचारनिश्चयाद् ? इत्यत आह--

मूलम्-अशुभादप्यनुष्ठानात् सौख्यप्राप्तिश्च या क्वचित् ।
फलं विपाकविरसा सा तथाविधकर्मणः ॥२६॥

अशुभादप्यनुष्ठानात्-क्षुद्रदेवताविशेषोद्देशेन भूतवधाद्याचारादपि, या क्वचित् **सौख्यप्राप्तिः** पुत्रप्राप्त्यादिजन्या, सा **विपाकविरसा**=आयत्यहितानुबन्धिनी, **तथाविध-कर्मणः**=प्राचीनपापानुबन्धिपुण्यस्य फलम् । न चैवं तत्कर्मानपेक्षा स्यात्, पापजनकव्यापारम-पेक्ष्यैव तस्योद्देश्यफलजनकत्वात्, तद्विपाकजनकतया तदपेक्षणात् । अत एव 'क्वचित्' इत्यनेन व्यभिचारसूचनात् तत्कर्मणस्तत्फलजनकत्वमपास्तम् । न चैहिकतत्तत्फलोद्देशेन तत्तत्कर्म-

[दुखबहुलताद्रष्टा के वाक्य से प्रसंगसाधन शक्य है]

पूर्व कारिका में इस बात का संकेत किया गया है कि "सुख यदि पाप से उत्पन्न हो तो उसे दुःख से अधिक होना चाहिये" इस प्रसङ्गापादन के लिये सुख से दुःख के बहुल होने का ज्ञान अपेक्षित है, जो उक्त प्रसङ्ग के उद्भावक व्यक्ति को सुलभ नहीं है, अतः उक्त प्रसङ्गापादन दुष्कर है । प्रस्तुत २५ वीं कारिका में इस संकेत के विरुद्ध बात कही गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार हैं,-

जिस व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में सुख की अपेक्षा दुःख बाहुल्य का दर्शन प्राप्त है, उसके वचन से उक्त प्रसङ्ग के उद्भावक व्यक्ति को भी दुःखबाहुल्य का ज्ञान हो सकता हैं, अतः उक्त प्रसङ्गापादन में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, क्योंकि संसार में सुख की अपेक्षा दुःखबाहुल्य का ज्ञान रहने पर उक्त आपादान का पर्यवसान इस प्रकार के विपरीतानुमान में अनायास सम्पन्न हो सकता है कि 'सुख पापजन्य नहीं हो सकता क्योंकि संसार में सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक है, जब कि सुख को पापजन्य मानने पर पापाधिक्य के कारण उसी को अधिक होना चाहिये'।

(दुखबाहुल्यद्रष्टा के वाक्य का आगमप्रमाण में अन्तर्भाव)

प्रसङ्गापादन के इस समर्थन के सम्बन्ध में आगमवादी का कहना हैं कि यह ठीक है कि सभी क्षेत्रों में दुःख बाहुल्यद्रष्टा के वचन से दुःखबाहुल्य का ज्ञान करके उसके द्वारा उक्त प्रसङ्गापादन सुकर हो सकता है किन्तु तब 'सुख पापजन्य नहीं हो सकता' इस बात का निश्चायक तर्क न हो सकेगा किन्तु आगम ही होगा, क्योंकि तर्क के लिये अपेक्षित दुःखबाहुल्य का ज्ञान समस्त क्षेत्रों में दुःख-बाहुल्य के द्रष्टा पुरुष के वचन से होता है जो आगम से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुत का अनुसरण करने वाली मति का श्रुत में ही अन्तर्भाव उचित है ।

यही कारण है कि भगवान् सम्मतिसूत्रकार ने पहले 'तत्थ य अहेउवाओ' इसगाथा से भव्यत्व अभव्यत्व आदि भावों को अहेतुवाद का विषय बताया और बाद में आगमानुमोदित हेतु की प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर 'भविओ सम्मद्दंसण' इस दूसरी गाथा से उन भावों को हेतुवाद का भी विषय बताया है ।।२५।।

विधानादङ्गादिवैकल्यप्रयुक्तो व्यभिचार इति न दोष इति वाच्यं, साङ्गादपि पुत्रेष्टयादेः क्वचित् पुत्राद्यनुत्पाददर्शनात् । एतेन 'प्रतिबन्धकादृष्टध्वंस एव पुत्रेष्टयादिफलं, प्रतिबन्धकाभाव-सहकृतदृष्टकारणसमाजाच्च पुत्राद्युत्पत्तिरिति न दोष' इति निरस्तम् , प्रतिकूलकर्माभाववद-नुकूलकर्मणोऽप्यवश्यमपेक्षणात् , तद्विपाकार्थमेव तत्कर्मान्यथासिद्धेः ॥२६॥

इदमेव दृष्टान्तेन दृढयति-

(अशुभानुष्ठान से सुख प्राप्ति वस्तुतः जन्मान्तरीयकर्म का फल है)

'पाप से भी सुख की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः पुण्य के अभाव में भी सुख का जन्म होने से व्यतिरेक व्यभिचार होने के कारण 'पुण्य से सुख होता है' इस नियम का निश्चय आगम से भी कैसे हो सकता है ?' २६ वीं कारिका में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

यह सही है कि क्षुद्र देवता के प्रीत्यर्थ प्राणिवध जैसे बलिप्रदान आदि अशुभ कर्मों के करने से कभी कभी पुत्र आदि का लाभ होने से सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु वह सुख प्राप्ति भविष्य में अहित का जनक होती है अतः वह पूर्वकृत पापानुबन्धी पुण्य का ही फल होती है न कि क्षुद्रदेवतो-द्देश्यक प्राणिवध आदि से होने वाले पाप का फल होती है। उन कर्मों की अपेक्षा तो इसलिये होती है कि पापानुबन्धी पुण्य पापकृत्यों के सहयोग से ही अभीष्ट फल के जनक होते हैं, अतः उक्त पुण्य के विपाकार्थ ही उन कृत्यों की आवश्यकता होती है। इसीलिये उक्त पाप कृत्यों से क्वचित् ही सुख प्राप्ति होने की बात कह कर उन्हें सुख का व्यभिचारी बता कर उन की सुखजनकता का निराकरण सूचित किया गया है।

यह कहा जा सकता है कि-"इस जन्म में होनेवाले तत्तत् फलों के लिये ही तत्तत् कर्मों का विधान है। अतः तत्तत् कर्म तत्तत् फल के कारण तो हैं ही, कभी कभी यदि उन कर्मों से उन फलों की प्राप्ति नहीं होती तो यह बात उन की अङ्गविकलता के कारण होती हैं। अतः अङ्गसम्पन्न कर्मों को तत्तत् फल का कारण मानने में व्यभिचार नहीं हो सकता" किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अङ्गों से सम्पन्न भी पुत्रेष्टि आदि याग से पति-पत्नी की शारीरिक अक्षमता के कारण पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती, अतः अङ्गसम्पन्न कर्मों को भी तत्तत् फल का कारण मानने में व्यभिचार का होना निर्विवाद है।

इस पर यह कहना कि-"पुत्रेष्टि का फल पुत्रोत्पत्ति नहीं है किन्तु पुत्रोत्पत्ति के प्रतिबन्धक अदृष्ट का विनाश है, पुत्रोत्पत्ति तो प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने पर पुत्र जन्म के दृष्ट कारणों से ही सम्पन्न होती हैं" वह ठीक नहीं है, क्योंकि फलोत्पत्ति में प्रतिकूल कर्म के अभाव के समान अनुकूल कर्म का होना भी आवश्यक है। अतः अनुकूल कर्म के साचिव्यसम्पादनार्थ ही अवान्तर कर्मों की अपेक्षा होने से, अवान्तरकर्म अनुकूलकर्म के फल के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं। इसलिये यह निष्कर्ष सर्वात्मना संगत है कि क्षुद्र देवता के उद्देश्य से किये जानेवाले प्राणिवध आदि कर्म की उपयोगिता पूर्वकृत पापा-नुबन्धी पुण्य को फलोन्मुख बनाने मात्र में है, फलोदय तो उस पुण्य का ही कार्य होता है ॥२६॥

अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से होनेवाला इष्टलाभ उन कर्मों का फल न होकर पूर्वकृत पापानुबन्धी पुण्य का ही फल होता है, इस पूर्वकारिकोक्त विषय को २७ वीं कारिका में दृष्टान्तद्वारा दृढ किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है,-

मूलम्-ब्रह्महत्यानिदेशानुष्ठानाद् ग्रामादिलाभवत् ।
न पुनस्तत एवैतदागमादेव गम्यते ॥२७॥

ब्रह्महत्याया निदेशः='त्वं ब्राह्मणं व्यापादय, ततोऽहं तव ग्रामादि दास्यामि' इति राजाज्ञा, ततोऽनुष्ठानम्=ब्रह्महत्याकरणम्, ततो ग्रामादिलाभवत्=स ग्रामादिलाभो यथा प्राचीनपापानुबन्धिपुण्यादेव, न पुनस्तत एव=ब्रह्महत्याया एव, तथा प्रकृतमपीति भावः। ननु ब्रह्महत्यायास्तत्फलबोधको न विधिः, इतरत्र तु तादृशविधिश्रवणाद् वैषम्यम्, इत्यत आह एतद्=उपपादितम्, आगमादेव गम्यते-आगम एव हि हिंसासामान्ये दुःखजनकत्वं बोधयति, तत्कथं स एव हिंसाविशेषस्य सुखजनकत्वं बोधयेत्? इति भावः। अधिकमग्रे विवेचयिष्यामः । इत्थं चैतदवश्यमुपेयम्, अन्यथा श्रोत्रियेणापि म्लेच्छादिकृतकर्मविशेषात् फलविशेषदर्शनात् किं तत्र समाधानं विधेयम्? ॥२७॥

नन्वागमोऽपि प्रतिपक्षागमबाधित एवेत्युक्तमेव, इत्यतस्तेषां निर्बलत्वेनाऽप्रतिपक्षत्वमवसरसंगत्याऽऽह-

(ब्रह्महत्या ग्रामादिलाभ का कारण नहीं हो सकती)

किसी राजाने अपने किसी कर्मचारी को आज्ञा दी कि 'तुम ब्राह्मण का वध करो, मैं इस कार्य के पुरस्कार स्वरूप तुम्हे ग्राम दूंगा'। कर्मचारी ने आज्ञा मान कर ब्राह्मण का वध किया. राजाने उसे ग्राम दिया। तो जिस प्रकार यह ग्रामलाभ पूर्वकृत पापानुबन्धी पुण्य का ही फल है, न कि ब्रह्महत्या का फल है, उसी प्रकार अन्य अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से होने वाला इष्टलाभ भी पूर्वकृत पापानुबन्धी पुण्य का ही फल होता है, न कि उन अशुभ कर्मों का,-यही मानना उचित है । अगर कहें-ब्रह्महत्या करने से ग्राम लाभ होता है इस बात का तो बोधक कोई शास्त्रीयविधिवाक्य नहीं है किन्तु 'अमुक देवता को अमुक बलि प्रदान करने से पुत्रादि की प्राप्ति होती है' इस बात का बोधक शास्त्रीय विधिवाक्य है अत: इस विषमता के कारण उक्त दृष्टान्त से प्रकृत कर्म के विषय में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता"-तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आगम ही हिंसामात्र में दु खजनकता का बोधन करता है, फिर वही हिंसाविशेष में सुखजनकत्व का बोधन कैसे कर सकता है? । इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। इस प्रकार अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से होनेवाले इष्टलाभ के विषय में जो बात कही गयी है, उसे स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा किसी श्रोत्रिय को म्लेच्छोचित कर्म करने से होनेवाले इष्टलाभ के सम्बन्ध में जब यह प्रश्न ऊठेगा कि 'यह इष्टलाभ म्लेच्छोचित कर्म का फल है ? या पूर्वकृत किसी पुण्य का ?' तो इस प्रश्न का क्या समाधान हो सकेगा ? ॥२७॥

'हिंसा आदि से पाप और दुःख होता है तथा अहिंसा आदि से पुण्य और सुख होता है इस बात का प्रतिपादक आगम हिंसाविशेष से सुखादि के जन्म का प्रतिपादन करने वाले प्रतिपक्षी आगम से बाधित है-यह आक्षेप पहेले किया गया है। अब उसके समाधान का अवसर प्राप्त है, अतः २८ वीं कारिका में प्रतिपक्ष आगमों को निर्बल बताते हुये उन्हें अभिमत आगम का अविरोधी बताया गया है।

मूलम्–प्रतिपक्षागमानां च दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः ।
तथाऽनाप्तप्रणीतत्वादागमत्वं न युज्यते ॥ २८ ॥

प्रतिपक्षागमानां=जैनातिरिक्तदर्शनानां, **दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः**=अबाधितप्रत्यक्षादिस्वाभ्युपगमविरुद्धार्थाभिधायकत्वात्, '**तथा**' इति हेत्वन्तरसमुच्चये, **अनाप्तप्रणीतत्वाद्**=यथार्थवाक्यार्थज्ञानशून्यवक्तृकत्वाद्, **आगमत्वं**=प्रमाणशब्दत्वं न युज्यते ॥२८॥

अत्रोभयहेत्वभिधानेऽपि द्वितीयहेतुग्रहेऽपि प्रथम एव हेतुः, इत्युपजीव्यत्वात् तस्यैवाश्रयणं युक्तमित्युपदर्शयन् तदुपदर्शनमेव प्रतिजानीते–

मूलम्-दृष्टेष्टाभ्यां विरोधाच्च तेषां नाप्तप्रणीतता ।
नियमाद् गम्यते यस्मात् तदसावेव दर्श्यते ॥२९॥

तेषां=विप्रतिपन्नागमानां दृष्टेष्टाभ्यां विरोधाच्च नाप्तप्रणीतता, नाप्तपदस्य नाकादिमध्यनिवेशाश्रयणादनाप्तप्रणीततेत्यर्थः । 'आप्तप्रणीतता' इत्युत्तरं नञो योजनात् तत्र क्रियान्वये तात्पर्यादाप्तप्रणीतत्वाभाव इति वाऽर्थः । **नियमात्**=व्याप्तिबलात्, **गम्यते**=अनुमीयते **यस्मात्**, **तत्**=तस्माद् हेतोः, **असावेव**=दृष्टेष्टाभ्यां विरोध एव, **दर्श्यते**=शब्देन श्रोतॄणां बोध्यते ॥२९॥

(जैनेतर शास्त्र अप्रामाणिक क्यों है ?)

कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

जैन दर्शन से अतिरिक्त सभी दर्शन का आगम जैनदर्शन के प्रतिपक्ष आगम हैं किन्तु उन आगमों में जैनदर्शन का विरोध करने की क्षमता नहीं है, क्योंकि वे दृष्ट और इष्ट से विरुद्ध होने के कारण निर्बल हैं। और जैनागम दृष्ट और इष्ट से अविरुद्ध होने के कारण प्रबल है। जैनेतर आगमों में अबाधित-प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन होने से दृष्टविरोध और उन्हीं आगमों में एकत्र स्वीकृत अर्थ का अन्यत्र विरोध होने से इष्टविरोध स्पष्ट है, जब कि जैनागमों में ऐसा कुछ नहीं है। कारिका में 'तथा' शब्द से अन्य हेतु का भी समुच्चय किया गया है, वह हेतु है 'अनाप्तप्रणीतत्व'। जैनेतर सभी आगम अनाप्त= वाक्यार्थ के यथार्थज्ञान से शून्य पुरुष' द्वारा रचित है, अतः उन्हें आगम यानी प्रमाणभूतशब्द मानना उचित नहीं है ॥२८॥

[जैनेतर शास्त्र दृष्टेष्टविरुद्ध है]

पूर्व कारिका में जैनागम से भिन्न आगमों के प्रमाण न होने में दो हेतु बताये गये हैं-एक दृष्ट-विरोध तथा इष्टविरोध और दूसरा अनाप्तप्रणीतत्व-आप्तपुरुष से रचित न होना। किन्तु ये दोनों समान नहीं हैं, इन में पहला हेतु जैनातिरिक्त आगमों के अप्रमाणत्व का हेतु होने के साथ ही दूसरे हेतु का भी हेतु होता है, अतः उपजीव्य होने के कारण प्रथम हेतु का ही आश्रय लेना उचित है ।

२६ वीं कारिका में इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुये प्रथम हेतु के ही प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है,-

विप्रतिपन्न आगम-वे आगम जिन के प्रामाण्य में जैनों की विमति है, आप्तपुरुष से रचित नहीं है, क्योंकि उनमें दृष्टविरोध तथा इष्टविरोध है, और यह नियम है कि जिस में दृष्टविरोध एवं इष्टविरोध होता है वह आप्तपुरुष से रचित नहीं होता। उन आगमों में दृष्टविरोध और इष्टविरोध किस प्रकार है, यह बात ही अब बतानी है।

(प्रासङ्गिक 'नाप्त'पदसाधुता विचार)

प्रस्तुत कारिका में जैनेतर आगमों को 'नाप्तप्रणीत' कहा गया है। व्याख्याकारने उस के दो अर्थ बताये हैं, एक है (i) 'नाप्त' अनाप्त से रचित होना, और दूसरा है न आप्त-(ii) आप्त से रचित न होना इन में पहला अर्थ 'नाप्त' पद को नञ् और आप्त पद के समास से निष्पन्न मानने पर फलित होता है, किन्तु ऐसा मानने पर यद्यपि 'नाप्त' शब्द की निष्पत्ति संकटग्रस्त मालुम पडती है, क्योंकि 'नञ्' शब्द समासघटक होने पर 'न लोपो नञः' इस पाणिनीय सूत्र ६-३-७३ से 'न्' का लोप और 'तस्मान्नुडचि' पा० सूत्र ६-३-७४ से 'अ और आप्त' के बीच नुट् (न्) का आगम होने से-और सिद्धहेम सूत्र 'अन् स्वरे' ३। २। १२९ से सीधा ही नञ् का अन् आदेश होकर 'अनाप्त' शब्द ही 'अनादि' 'अनन्त' 'अनगार' आदि शब्दों के समान सिद्ध हो सकता है, 'नाप्त' शब्द नहीं, तथापि पाणिनीयमत से 'नाकादि'गणपाठ में 'नाप्त' शब्द का प्रवेश मान लेने से कोई सकट नहीं रहता-चूंकि जहां उक्त सूत्रद्वय लागू नहीं होते है वैसे सुरूढप्रयोग निपातन से सिद्ध होते है। उनप्रयोगोंको 'अकृतस्य विधिः' 'प्राप्तेः बाधनम्' 'अधिकार्थविवक्षा' इन तीन निमित्त पाकर वैयाकरणलोग निपातनरूप से घोषित करते है एवं इसके लिए आकृतिसंज्ञक गणपाठ देते हैं।

सिद्धहैम व्याकरण में तो 'नखादयः' (३-२-१२८) सूत्र ही दिया गया है। यहां नख आदि' शब्द से बहुवचन आकृतिगण का सूचक है। आकृतिगणसूचक सूत्र में जहां 'आदि' शब्द एकवचनान्त होता है, वहां सीमित अर्थात् उस गणपाठ में जितने उल्लिखित है उतने ही शब्द लिये जाते है, और जहां बहुवचनान्त 'आदिशब्द होता है, जैसे कि 'नखादयः' वहां वैसा संख्याका नियम नहीं है। इसलिये 'न खम् अस्य इति नखः' 'न भ्राजते नभ्राट्' 'न अस्य कुलम् अस्ति इति नकुलः' 'नासत्यम्' 'नपुंसकम्' इत्यादिवत् 'अनाप्त' अर्थ में 'नाप्त' शब्द प्रयोग भी साधु है। तात्पर्य, पाणिनीयव्याकरणानुसार नाकादिगणपाठ से व सिद्धहमव्याकरणानुसार नखादिआकृतिगण सनिवेश से 'नाप्त' प्रयोग साधु सिद्ध होता हैं।

अथवा अलबत्ता नञ् से समास न कर के, निषेधार्थक 'न' अव्यय के साथ ही समास कर देने से 'नैकधा' 'नैकत्र' 'नके' प्रयोगों के समान 'नाप्त' शब्दप्रयोग सिद्ध हो सकता हैं तथापि व्याख्याकार ने नञ् के साथ समास करने हेतु नाकादि गण की ही गतिविधि प्रस्तुत कर 'नाप्त' शब्द की साधुता का समर्थन यह कहते हुए किया है कि जिस प्रकार 'न अकं यस्मिन् स नाकः' इस अर्थ में 'न' और 'अक' का समास होकर 'नाक' शब्द बनता है, उसी प्रकार 'न' और 'आप्त' शब्द के समास से 'नाप्त' शब्द भी बन सकता है।

दूसरा अर्थ 'नाप्तप्रणीतता' शब्द को 'आप्त प्रणीतता न' इस रूप में योजित करने से और नञ् पदार्थ अभाव में प्रणयन क्रिया का अन्वय करने से 'आप्तप्रणीतता का अभाव' ऐसा भी लब्ध

तत्रादौ मण्डलतन्त्रादिवादिमते तं प्रदर्शयति—

मूलम्-अगम्यगमनादीनां धर्मसाधनता क्वचित् ।
उक्ता लोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥३०॥

अगम्यगमनादीनां=लोकशास्त्रनिषिद्धभगिन्यादिगमनमांसभक्षणप्रभृतीनाम्, क्वचित् =मण्डलतन्त्रादिग्रन्थे धर्मसाधनता उक्ता । सा लोकप्रसिद्धेन=आविद्वदङ्गनादिसिद्धेन 'भगिन्यादिगमनादिकं न धर्मजनकम्' इत्याकारेण श्रुतनिश्रितादिमतिज्ञानरूपेण प्रत्यक्षेण [विरुध्यते=]बाध्यते । न चोक्तागमस्यैव किं नैतद्बाधकत्वमिति वाच्यम्, बहुसिद्धत्वेनास्यैव बलवत्त्वात् । न च 'शतमप्यन्धानां न पश्यति' इति न्यायाद् बहुसिद्धत्वमप्रयोजकम्, उपजीव्यजातीयत्वात्, अनुकूलतर्कसहकृतत्वाच्चेत्यवसेयम् । उक्तो लोकदृष्टविरोधः ।

हो सकता है । अतः इस अर्थ में 'आप्त' शब्द या 'आप्तप्रणीत' शब्द के साथ नञ्' शब्द का समास मानने की आवश्यकता न होने से 'नाप्त' या 'नाप्तप्रणीतता' शब्द के साधुत्व को लेकर कोई प्रश्न ही नहीं ऊठ सकता, क्योंकि कारिका में उक्त प्रकार के शब्द का सन्निवेश ही न मान कर 'न' पद को असमस्त एवं 'आप्तप्रणीतता' पद के उत्तर योजनार्ह मान सकते हैं ।

(अगम्यागमन से धर्मोत्पत्ति में प्रत्यक्ष बाध)

जैनेतर सभी आगमों में दृष्टविरोध बताना है । ३० वी कारिका द्वारा सर्वप्रथम मण्डलतन्त्र आदि वादियों के मत में दृष्टविरोध प्रदर्शित किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

लोक और शास्त्र दोनों में भगिनी आदि को अगम्य-'सम्पर्क के अयोग्य' मान कर उनके सम्पर्क का निषेध किया गया है । मांसभक्षण जैसे कार्य भी लोक-शास्त्र दोनों में ही वर्ज्य माने गये हैं, किन्तु मण्डलतन्त्र आदि ग्रन्थों में उन निन्द्य कर्मों को भी धर्म का साधन बताया गया है । किन्तु उन कर्मों को धर्म का साधन मानना ठीक नहीं है, क्योंकि विद्वान पुरुष से लेकर अशिक्षित नारी तक के लोगों को श्रुतनिश्रित आदि मतिज्ञान के रूप में यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि भगिनीगमन जैसे गर्हित कर्म धर्म के साधन नहीं होते । अतः मण्डलतन्त्र जैसे ग्रन्थ के बल पर लोकशास्त्र-गर्हित कर्मों में प्रत्यक्षबाधित धर्मसाधनता को स्वीकार करना उचित नहीं है ।

(मण्डलतन्त्रीय आगम निर्बल क्यों है ?)

यदि यह शंका की जाय कि-"मण्डलतन्त्र आगम को ही उक्त प्रत्यक्ष का बाधक क्यों न माना जाय" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष बहुजनमान्य होने के कारण उक्त आगम से बलवान है । इस पर यह शंका करना कि-"बहुजनमान्यता से किसी को बलवान् नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि सैंकडों अन्धों का वचन एक चक्षुष्मान् के वचन से दुर्बल माना जाता है । अतः जो बहुजनमान्य होता है वह बलवान होता है-इस नियम में कोई प्रयोजक नहीं है"--ठीक नहीं है, क्योंकि 'मण्डलतन्त्र आगम से उक्त प्रत्यक्ष बलवान है' यह बात केवल बहुजनमान्यता पर ही आधारित नहीं है, अपितु उपजीव्यजातीयता पर भी आधारित है । कहने का आशय यह है कि आगम बाहुल्येन प्रत्यक्ष

अथेष्टविरोधमाह-

मूलम्-स्वधर्मोत्कर्षादेव तथा मुक्तिरपीष्यते ।
हेत्वभावेन तद्भावो नित्य इष्टेन बाध्यते ॥३१॥

तथा तैर्वादिभिः स्वधर्मोत्कर्षादेव=स्वाभिमताऽगम्यगमनादिधर्मप्रकर्षादेव, मुक्तिरपीष्यते, तथा च हेत्वभावेन=सर्वाऽगम्यगमनादीनां दुःशकतया तदुत्कर्षरूपचरमहेत्वसम्भवेन, तद्भावः=मुक्त्युत्पादः, नित्यः=हेतुनिरपेक्षः स्यात्, नञ्प्रश्लेषेण अनित्यः=अभवनशीलः स्यादिति वा, स च इष्टेन=उक्तरीत्या सहेतुकत्वाभ्युपगमेन, बाध्यते ।

'तद्भावः=मुक्तिसद्भावः, अनित्यः स्यात्, हेत्वभावेन मुक्तानां मुक्तताक्षतेः, तथा चेष्टबाधः' इति ग्रन्थकृदाशयस्तु हिंसाध्यवसायविशेषरूपहिंसोत्कर्षेण प्राक्कर्मक्षयसम्भवेऽप्यग्रे तदभावेन क्षणिकत्वद्वाराऽभावसम्भवादुपपाद्यः ॥३१॥

गृहीत अर्थ का प्रतिपादक तथा प्रत्यक्षगृहीत होकर ही अर्थ का प्रत्यायक होने से प्रत्यक्ष का उपजीवक है, और प्रत्यक्ष उस का उपजीव्य है, उपजीव्य उपजीवक से सदैव बलवान होता है। अतः उक्त प्रत्यक्ष उपजीव्य का सजातीय होने के कारण उक्त आगम से निस्सन्देह बलवान है ।

इस के अतिरिक्त जो 'बहुजनमान्य होता है वह अल्पजनमान्य से बलवान होता है' इस नियम के अनुकूल तर्क भी है, वह यह कि यदि बहुजनमान्य को बलवान् न माना जायगा तो अपने अभिमत की पुष्टि में बहुजनसम्मति बताने की लोकप्रवृत्ति का व्याघात होगा। यतः ऐसी लोकप्रवृत्ति है अतः बहुजनसम्मत को बलवान मानना निर्विवाद है।

इस प्रकार मण्डलतन्त्र आगम में लोकदृष्ट का विरोध स्पष्ट है ॥३०॥

[हेतु के असम्भव से मुक्ति-इष्ट का बाध]

३१ वीं कारिका द्वारा उक्त आगम में इष्टविरोध बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

मण्डलतन्त्रवादी अगम्यगमन एवं प्राणिहिंसा आदि को ही धर्म मानते हैं और उन धर्मों के उत्कर्ष को ही मुक्ति का हेतु मानते है. जो इष्टविरोध होने से उचित नहीं है। इष्टविरोध इसप्रकार है कि- इष्ट है मुक्ति का हेतुओं से सम्पन्न होना और वह मण्डलतन्त्र के मत में अनुपपन्न है, क्यों कि उस मत में अगम्यगमन-प्राणिहिंसा आदि का उत्कर्ष ही मुक्ति का हेतु है जो किसी भी व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण अगम्यों का गमन एवं समस्त प्राणियों की हिंसा सम्भव न होने से दुर्घट है। फलतः हेतु के अभाव में मुक्ति का सद्भाव नित्य हो जायगा अर्थात् मुक्ति सब को सर्वदा स्वतः सुलभ हो जायगी, अथवा कारिका में 'तद्भावो नित्यः' इस वाक्य में 'नित्यः' के पूर्व अकार का प्रश्लेष कर कारिकाकार का इस कथन में तात्पर्य माना जा सकता है कि हेतु के अभाव में मुक्ति अनित्य अर्थात् हेतु के विना उत्पन्न न हो सकने से सर्वथा अस्तित्वशून्य हो जायगी । इस प्रकार मुक्ति के विषय में मण्डलतन्त्र की उक्त मान्यता में इष्टविरोध स्पष्ट है।

पराभिप्रायमाह—

मूलम्-माध्यस्थ्यमेव तद्धेतुरगम्यगमनादिना ।
साध्यते तत्परं येन तेन दोषो न कश्चन ॥ ३२ ॥

माध्यस्थ्यमेव=अरक्तद्विष्टत्वमेव, तद्धेतुः=मुक्तिहेतुः । तत्परं=प्रकृष्टम्, क्लेशवासनयाऽक्षोभ्यमिति यावत्, येन=कारणेन, अगम्यगमनादिना, साध्यते, गम्यागमनादिषु तुल्यतया प्रवृत्तेः, तेन कारणेन कश्चन न दोषः । माध्यस्थ्योत्कर्षेण मुक्तेः, तत्साधनतया चागम्यगमनाद्युपयोगस्य समर्थनादिति भावः ॥३२॥

अत्रोत्तरमाह—

मूलम्-एतदप्युक्तिमात्रं यदगम्यगमनादिषु ।
तथाप्रवृत्तितो युक्त्या माध्यस्थ्यं नोपपद्यते ॥३३॥

ग्रन्थकारने स्वनिर्मित व्याख्या में प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध का यह आशय बताया है कि 'हेतु का अभाव होने से मुक्त पुरुषों की मुक्तता की हानि होने के कारण मुक्ति का सद्भाव अनित्य हो जायगा अर्थात् मुक्ति की उत्पन्नता का व्याघात होगा' ।

प्रकृत व्याख्याकार ने इस आशय की उपपत्ति इस प्रकार की है कि कृत्स्न कर्मों का क्षय ही मुक्ति है जो मण्डलतन्त्र के मत में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि हिंसा के विशेष अन्तिम अध्यवसाय से पूर्वकर्मों का क्षय हो जाने पर भी उस अन्तिम अध्यवसाय से होने वाले कर्म का क्षय न हो सकेगा, क्योंकि उसके अनन्तर हिंसा का कोई अन्य अध्यवसाय सम्भव नहीं रहता जिस से उस का नाश उत्पन्न हो सके, और उस कर्म को क्षणिक मानने का अन्य कोई आधार भी नहीं है, फलतः उक्त मत में कृत्स्न कर्मों का क्षय न हो सकने से मुक्ति की अनित्यता का प्रसङ्ग अर्थात् उस की उत्पन्नता का व्याघात निर्विवाद है ॥३१॥

(अगम्या-गमनादि से मध्यस्थभावप्राप्तिद्वारा मोक्ष--पूर्वपक्ष)

३२वीं कारिका में मुक्ति के लिये अगम्यगमन आदि को आवश्यक मानने में मण्डलतन्त्र का क्या अभिप्राय हैं, इसे स्पष्ट किया गया हैं। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

माध्यस्थ्य ही मुक्ति का कारण हैं, माध्यस्थ्य का अर्थ है रागद्वेष से रहित होना। राग द्वेषस्वरूप क्लेश की वासना से क्षोभ न हो वैसा उस का प्रकर्ष होने पर ही मुक्ति का उदय होता है और वह प्रकर्ष प्राप्त होता है समान भाव से अर्थात् गम्य स्त्रियों के समान अगम्य स्त्रियों का गमन करने से। आशय यह है कि किसी स्त्री को गम्य और किसी को अगम्य मानने पर गम्य के प्रति राग और अगम्य के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, अतः गम्य अगम्य का भेद न कर समान भाव से सभी स्त्रियों से सम्पर्क करना चाहिये, ऐसा करने से सब के प्रति समभाव होने से रागद्वेष का अभाव होता है और यही रागद्वेष का अभाव जब प्रकृष्ट अवस्था में पहुंचता है तब मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है, मुक्ति की प्राप्ति में अगम्यगमन आदि के उपयोग का समर्थन इस प्रकार मुक्तिहेतुभूत माध्यस्थ्य को सिद्ध करने में करते है इसलिए उद्देशमें कोई दोष नही हैं ॥३२॥

एतदपि=अनन्तरोदितमपि, उक्तिमात्रम्=युक्तिशून्यम्, यत्=यस्मात्कारणात् अगम्यगमनादिषु तथा प्रवृत्तितः=गम्यगमनादितुल्यप्रवृत्तेः, युक्त्या विचार्यमाणं माध्यस्थ्यं नोपपद्यते ॥३३॥

कुतस्तद्युपपद्यते ? इत्याह—

मूलम्—अप्रवृत्त्यैव सर्वत्र यथासामर्थ्यभावनः ।
विशुद्धभावनाभ्यासात् तन्माध्यस्थ्यं परं यतः ॥३४॥

सर्वत्र=गम्यागमनादौ, **यथासामर्थ्यभावतः**=स्वपरिहारसामर्थ्यमनतिक्रम्य, **अप्रवृत्त्यैव**=तन्निबन्धनविषयद्वेषात् तदनिच्छया निर्ममत्वमासाद्य विशुद्धानां मैत्र्याद्युपबृंहितानां भावनानामनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षाणामभ्यासाद् दृढमानसोत्साहात् परमनिर्ममत्वप्राप्तेः, विषयद्वेषस्याऽपि वह्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवद् विषयेच्छां विनाश्य तत्कालं विनाशात्, **तत्**=प्रागुक्तम्, **परम्**=उत्कृष्टं, माध्यस्थ्यं भवति—**यतः** अतोऽन्यथा नोपपद्यत इति भावः । तदिदमुक्तं वशिष्ठेनापि—

मानसीवासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः मैत्र्यादिवासना राम ! गृहाणामलवासनाः ॥

(अगम्यागमनादि से माध्यस्थ की अनुपपत्ति—उत्तरपक्ष)

३३वीं कारिका से पूर्वकारिका में उक्त मत का उत्तर दिया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार हैं-

पूर्व कारिका में कहा गया है कि मुक्ति का हेतु है माध्यस्थ्य, और उस की सिद्धि के लिये आवश्यक है अगम्यगमन आदि कार्यों का अभ्यास। किन्तु यह कथन कोरा कथनमात्र है, इस में कोई युक्ति नहीं है। क्योंकि युक्तिपूर्वक विचार करने पर यह बात अत्यन्त स्फुट हो जाती है कि 'जिस मनोभाव से मनुष्य गम्य स्त्रियों का गमन करता है उसी भाव से अगम्यस्त्रियों का भी गमन करने से सम्पूर्ण स्त्रियों के विषयमें उस में माध्यस्थ्य आ जाता है, किसी के प्रति उस के मन में राग या द्वेष नहीं उत्पन्न होता' यह कल्पना निस्सार है ॥३३॥

(अप्रवृत्ति-विशुद्धभावना के अभ्यास से माध्यस्थ्य)

पूर्व कारिका द्वारा माध्यस्थ्य की सिद्धि के मण्डलतन्त्रोक्त साधनों का खण्डन कर देने पर प्रश्न ऊठता है कि तो फिर माध्यस्थ्यसिद्धि का अन्य उपाय क्या है ? ३४ वीं कारिका में उसी उपाय का ही प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

अपने सामर्थ्य के अनुसार संसार के सभी विषयों में प्रवृत्ति का परिहार करने से ही माध्यस्थ्य की सिद्धि और विशुद्ध भावना के अभ्यास से उस के उत्कर्ष की प्राप्ति होती है। इन से अतिरिक्त माध्यस्थ्य की सिद्धि और प्रकर्ष की प्राप्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है।

आशय यह है कि सांसारिक विषयों में प्रवृत्त होना मनुष्य का स्वभाव है, अतः उन में प्रवृत्त होते रहने से वह विषयों के सम्बन्ध में मध्यस्थ यानी रागद्वेष से मुक्त नहीं हो सकता, उस के लिये

तत्र वासनालक्षणमिदम्–

"दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् । यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥"

सा च द्विविधा मलिना शुद्धा च, तत्र शुद्धा योगशास्त्रसंस्कारप्राबल्यात् तत्त्वज्ञान-साधनत्वेनैकरूपापि मैत्र्यादिशब्दैर्विभक्ता । मलिना तु त्रिविधा लोकवासना, शास्त्रवासना देहवासना चेति । 'सर्वे जना यथा न निन्दन्ति तथैवाचरिष्यामि' इत्यशक्यार्थाभिनिवेशो लोकवासना, अस्याश्चाशक्याऽर्थत्वपुमर्थानुपयोगित्वाभ्यां मलिनत्वम् । शास्त्रवासना त्रिविधा पाठव्यसनम्, बहुशास्त्रव्यसनम्, अनुष्ठानव्यसनं चेति, मलिनत्वं चास्याः क्लेशावहत्व-पुमर्थानुपयोगित्वदर्पहेतुत्वैः । देहवासना च त्रिविधा आत्मत्वभ्रान्तिः, गुणाधानभ्रान्तिः दोषापनयनभ्रान्तिश्च । गुणाधानं द्विविधं-लौकिकं शास्त्रीयं च । आद्यं सम्यक् शब्दादिविषय-सम्पादनम्, अन्त्यं गङ्गास्नानादिसम्पादनम्, दोषापनयनमप्येवं द्विविधम् । आद्यमौषधेन व्याध्याद्यपनयनम्, अन्त्यं स्नानादिनाऽशौचाद्यपनयनम् । एतन्मालिन्यं चाऽप्रामाणि-कत्वाद्, अशक्यत्वात्, पुमर्थानुपयोगित्वात् पुनर्जन्महेतुत्वाच्च ।

आवश्यक है कि मनुष्य विषयों में प्रवृत्त न होने के लिये प्रयत्नशील रहें । विषयों से दूर रहने का प्रयत्न करते रहने से धीरे धीरे उनके प्रति मनुष्य के मन में द्वेष हो जायगा और द्वेष हो जाने पर उन में उस का आकर्षण होना बन्द हो जायगा, आकर्षित हो कर उन्हें पाने की उस की इच्छा सदा के लिये समाप्त हो जायगी । इससे विषयों में मनुष्य का ममत्व न रह जायगा । फलतः संसार के सभी संयोग अनित्य हैं, ससार में जीव अशरण-हैं इस प्रकारकी अनित्यता-अशरणादिकी निर्मल भावना-अनुप्रेक्षा का हृदय से अभ्यास कर सकेगे । वह अभ्यास भी मैत्री करुणादि चार भावों से समर्थित बना रखेगे । इस प्रकार मैत्र्यादि भावों से पोषित अनित्यतादिकी अनुप्रेक्षा के अभ्यास से विषयों से विमुख रहने के लिये मनुष्य के मन में दृढ उत्साह होगा, जिस से विषयों के प्रति अत्यन्त उत्कृष्टकोटि-की विरक्ति-निर्ममता का उदय होगा जिससे राग का आत्यन्तिक अभाव हो जायगा । विषयों में विरक्ति के इस उपपादन से यह प्रश्न उठ सकता है कि इस विषयविरक्ति का मूल तो है विषयद्वेष, जो विषयों से दूर रहने के प्रयत्न से उदित होता है, फिर उस द्वेष के रहते रागद्वेषराहित्यरूप माध्यस्थ्य की सिद्धि कैसे हो सकती हैं ? व्याख्याकारने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि जैसे आग वाह्य तृण आदि इन्धन को जलाकर स्वयं भी बुझ जाती है उसी प्रकार विषयद्वेष विषयेच्छा को नष्टकर तत्काल ही स्वयं नष्ट हो जाता हैं, अतः विषयों में प्रवृत्त न होने का प्रयत्न करने से विषयों के प्रति रागद्वेषराहित्यरूप माध्यस्थ्य की सिद्धि और ममतामुक्त विषयों में अनित्यता दर्शन आदि की विशुद्धभावना के अभ्यास से माध्यस्थ्य के प्रकर्ष की प्राप्ति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

व्याख्याकार ने उक्त तथ्य की पुष्टि में योगवासिष्ठ ग्रन्थ से वशिष्ठऋषि का एक वचन उद्धृत किया है जिस में राम को मनोगत प्राक्तन विषय वासनाओं को त्याग कर मैत्री आदि निर्मल वासनाओं को अपनाने का उपदेश दिया गया है ।

शुद्धवासनया चेयं मलिनवासना क्षीयते । तथा हि सुखिषु मैत्रीं भावयतः तदीयं सुखं मदीयमेवेति कृत्वा 'सर्वं सुखजातीयं मे भूयाद्' इति चिन्तात्मिका रागवासना निवर्तते । दुःखिषु करुणां भावयतश्च ईर्ष्यादिनिवृत्त्या द्वेषवासना निवर्तते । पुण्यवत्सु मुदिताभावनात् पुण्याऽकरणानुशयनिवृत्तेस्तद्वासना निवर्तते । तथा पापेषूपेक्षां भावयतस्तत्करणनिमित्तकानुशयनिवृत्तेस्तद्वासना निवर्तत इति । ततोऽशुक्लाऽकृष्णपुण्यप्रवृत्तिचित्तप्रसादाभ्यां परं माध्यस्थ्यम् । इति पातञ्जलानां प्रक्रिया ॥३४॥

[वासना का स्वरूप और भेद]

योगवासिष्ठ में वासना के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि-दृढ भावना के कारण पूर्वापर विचारदशा को त्याग कर वस्तु को ग्रहण करने का नाम है 'वासना'। उस के दो भेद हैं मलिन और शुद्ध। शुद्धवासना से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तत्त्वज्ञान का साधन होने की दृष्टि से वह वासना एक ही रूप की है किन्तु योगशास्त्र के प्रबल संस्कार से उसे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा शब्दों से विभाजित किया गया है।

मलिन वासना के तीन भेद हैं-लोकवासना शास्त्रवासना और देहवासना। 'मैं ऐसा आचरण करूंगा जिस से लोक में कोई भी व्यक्ति मेरी निन्दा न कर सके' इस प्रकार अशक्यकार्य करने का आग्रह ही लोकवासना है। विषय 'लोकरञ्जन' अशक्य और पुरुषार्थ सिद्धि के लिये अनुपयुक्त होने से इसे मलिन माना जाता है। शास्त्रवासना के तीन भेद हैं-पाठव्यसन-निरन्तर पढते रहने का व्यसन, बहुशास्त्रव्यसन=अनेक शास्त्रों को ही जानने का व्यसन, एवं अनुष्ठानव्यसन=शास्त्रोक्त कर्मों को ही करते रहने का व्यसन। क्लेशप्रद होने से, पुरुषार्थ की सिद्धि में उपयुक्त न होने से तथा अहंकार का कारण होनेसे शास्त्रवासना को मलिन वासना कहा जाता है। देहवासना के भी तीन भेद हैं-आत्मत्वभ्रान्ति=देह आदि जड पदार्थों में आत्मबुद्धि, गुणाधानभ्रन्ति=कर्मों से देह में रूपादि नवीन गुण का उदय होने की धारणा, तथा दोषापनयनभ्रान्ति=कर्मों से देह को अशौचादि दोष दूर होने की बुद्धि।

गुणाधान दो प्रकार का होता है-लौकिक और शास्त्रीय। देहको शब्द आदि विषयों के सम्यक् सम्पादन को लौकिक गुणाधान कहा जाता है। देहको गङ्गास्नान आदि के सम्पादनको शास्त्रीय गुणाधान कहा जाता है। दोषापनयन भी लौकिक-शास्त्रीय भेद से दो प्रकार का होता है। औषध द्वारा देहके व्याधि आदि को दूर करना लौकिक दोषापनयन है और शास्त्रानुसार स्नान आदि से अशौच आदि को दूर करना शास्त्रीय दोषापनयन है। अप्रामाणिक, अशक्य व पुरुषार्थ के लिये अनुपयुक्त तथा पुनर्जन्म का हेतु होने से देह वासना को मलिन कहा जाता है।

शुद्ध वासना से मलिन वासना का विनाश होता है। जैसे सुखी मनुष्यों में मैत्री-मित्रता की भावना करने से पराये सुख को भी मनुष्य 'उसका सुख मेरा ही सुख है' इसप्रकार अपना ही सुख समझने लगता है। अतः अपने सुख की आकाङ्क्षा समाप्त हो जाने से 'मुझे सभी सुख प्राप्त हो' इस प्रकार की रागवासना की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार दुःखीमनुष्यों में करुणा-कृपा की भावना से

पराभिप्रायमाह-

मूलम्-यावदेवंविधं नैतत् प्रवृत्तिस्तावदेव या ।
साऽविशेषेण साध्वीति तस्योत्कर्षप्रसाधनात् ॥३५॥
नाप्रवृत्तेरियं हेतुः कुतश्चिदनिवर्तनात् ।
सर्वत्र भावाविच्छेदादन्यथाऽगम्यसंस्थितिः ॥३६॥

यावदेवंविधं=सर्वत्राऽप्रवृत्तिरूपम्, एतत्=माध्यस्थ्यं न भवति, तावदेव या प्रवृत्तिः, साऽविशेषेण गम्यागम्यादितुल्यतयैव, साध्वी=न्याय्या, तस्य=माध्यस्थ्यस्य, 'उत्कर्षप्रसाधनात्' इति हेतोः गम्यगमनादौ प्रवृत्तिर्न्याय्येति निगर्वः ॥३५॥

अत्रोत्तरमाह-'इयम्'=अविशेषेण प्रवृत्तिः, अप्रवृत्तेः हेतुर्न, कुतः ? इत्याह-सर्वत्र विषये, भावाऽविच्छेदाद्=इच्छानिवृत्त्यभावात्, अन्यथा=क्वचिदिच्छानिवृत्त्यङ्गीकारे, अगम्यसंस्थितिः=अगम्यव्यवस्था, यदितरस्मिन् प्रवृत्तिस्तस्यैवागम्यत्वादिति भावः ॥३६॥

वैर आदि को निवृत्ति होने से द्वेष वासना का उन्मूलन हो जाता है। पुण्यशील मनुष्यों के प्रति मुदिता-हर्ष की भावना से 'पुण्य न करने के पश्चाताप' की निवृत्ति होने से पुण्यवासना का अवसान हो जाता है और पापी मनुष्यों में उपेक्षा-तटस्थता की भावना से पापानुष्ठानमूलक पश्चात्तापकी निवृत्ति से पापवासना का अन्त हो जाता है । फलतः अशुक्लाकृष्ण-पूर्णसात्त्विक पुण्य कर्मों में प्रवृत्ति और चित्त में प्रसन्नता के उदय से उत्कृष्ट माध्यस्थ्य की प्राप्ति होती हैं । योगशास्त्र स्रष्टा पतञ्जलि ने माध्यस्थ्यसिद्धि की यही प्रक्रिया बतायी हैं ।

[माध्यस्थ्य उदय के पूर्व गम्याऽगम्य में तुल्यभाव साधु है ?]

पैंतीसवीं कारिका में मण्डलतन्त्रवादी का अभिप्राय बताया गया है जो इस प्रकार है-समग्र विषयों में अप्रवृत्तिरूप माध्यस्थ्य जब तक नहीं सम्पन्न होता तब तक गम्य अगम्य सभी स्त्रियों में विना किसी भेदभाव के प्रवृत्त होना ही न्यायोचित है, क्योंकि उसी से माध्यस्थ्य का उत्कर्ष साधित हो सकता है । आशय यह है कि मनुष्य की इच्छा प्राप्त में न हो कर अप्राप्त में ही होती हैं, अतः गम्य स्त्रियों के सम्पर्क से उन स्त्रियों की इच्छा तो न होगी, पर अगम्य स्त्रियों की इच्छा बनी रहेगी वह इच्छा भी न हो. एतदर्थ उनके साथ सम्पर्क करना भी आवश्यक है, क्योंकि तभी समस्त स्त्रियों में रागराहित्यरूप उत्कृष्टमाध्यस्थ्य की सिद्धि हो सकती है।

[प्रवृत्ति से इच्छा अखंडित रहने से अप्रवृत्ति-माध्यस्थ्य का अनुदय]

छत्तीसवीं कारिका में उक्त अभिप्राय की अयुक्तता बतायी गयो है । जो इस प्रकार है--सम्पूर्ण विषयों में अप्रवृत्ति ही माध्यस्थ्य है, जो गम्य अगम्य सभी स्त्रियों में प्रवृत्त होने से सम्भव नहीं है क्योंकि सर्वत्र प्रवृत्त होते रहने से किसी से भी निवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक मनुष्य सर्वत्र प्रवृत्त होता रहेगा तब तक सभी विषयों में उस की इच्छा बनी रहेगी, और इच्छा रहते हुये प्रवृत्ति का

एतदुपचयार्थमेवाह—

मूलम्–तच्चास्तु लोकशास्त्रोक्तं तत्रौदासीन्ययोगतः ।
संभाव्यते परं ह्येतद् भावशुद्धेर्महात्मनः ॥३७॥

तच्च=अगम्यं, लोकशास्त्रोक्तं भगिन्याद्येव अस्तु, यादृच्छिककल्पनाया अप्रामाणिकत्वात् । तत्र=अगम्ये, औदासीन्ययोगतः=अरक्ताद्विष्टभावेन प्रवृत्तेः, महात्मनः दृढप्रतिज्ञस्य, भावशुद्धेः=एकान्तविहितानुष्ठानसम्पत्तेः, हि=निश्चितम् , परमेतद्=माध्यस्थ्यं, संभाव्यते, देशविरतिपरिणामेनानिकाचितस्य चारित्रमोहनीयस्याचिरादेव क्षयसम्भवात् ।

स्यादेतद् , इच्छानिरोधात् न तन्निवृत्तिः, किन्तु यथेच्छं प्रवृत्त्या सिद्धत्वज्ञानादेव, ततो योगार्थं यथेच्छं प्रवृत्तिरेवोचिता, का तत्र गम्याऽगम्यव्यवस्था ? मैवम् , यावत्सुखसिद्धत्वधियं विना विशेषदर्शिनः सामान्येच्छाया अविच्छेदात् , विशिष्य सिद्धत्वधियस्तु विशेषेच्छाया अनिवर्तकत्वात् , अन्यथा प्रोषितस्याज्ञातकान्तामरणस्य तत्कान्तावलोकनेच्छाऽभावप्रसङ्गाद् असिद्धविषये इच्छाया अनिरोधाच्च । तस्मात् सामान्येच्छाविच्छेदः सिद्धत्व-

---

परिहार हो नहीं सकता । और यदि किसी में इच्छा की निवृत्ति मान कर प्रवृत्ति का अभाव माना जायगा तो इस प्रकार की वस्तु यदि स्त्री होगी तो वही अगम्य हो जायगी, फिर गम्य-अगम्य में भेद न कर सभी स्त्रियों में प्रवृत्ति कैसे सम्भव हो सकेगी ? ॥३६॥

(लोक-शास्त्र कथित अगम्यादि में महात्मा का औदासीन्य)

३७ वीं कारिका द्वारा पूर्व कारिका में कथित अर्थ का समर्थन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

लोक और शास्त्र के अनुसार भगिनी आदि ही अगम्य हैं, क्योंकि गम्य अगम्य की मनमानी-कल्पना प्रमाणहीन होने से मान्य नहीं हो सकती । अत: उत्कृष्ट कोटि का माध्यस्थ्य अर्थात् रागद्वेष का पूर्ण अभाव तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य अपने में महात्मता स्थापित करे, लोक-और शास्त्र में निन्दनीय कर्मों को न करने की अटल प्रतिज्ञा करे, अपना भाव शुद्ध रखे, लोक-शास्त्र में मान्य कर्मों का एकान्तनिष्ठा से निरन्तर अनुष्ठान करे और अगम्य भगिनी आदि के सम्बन्ध में उदासीनभावापन्न अर्थात् राग-द्वेष रहित हो शुभ कर्मों में ही सदैव प्रवृत्त रहे ।

ऐसे मनुष्य को उक्त माध्यस्थ्य प्राप्त होने का कारण यह है कि मनुष्य की भावशुद्धि, सत्कर्म-परायणता और निन्द्यकर्मों से वैमुख्य आदि देशविरति का परिणाम है और उस परिणाम से भोगेतर कारणों से भी नाश-योग्य चारित्रमोहनीय कर्म अर्थात् सर्वविरतिपरिणामस्वरूप चारित्रभाव के आवारक (प्रतिबन्धक) अनिकाचित मोहनीय कर्म का शीघ्र ही विनाश हो जाता है । यहाँ अनिकाचित इसलिए कहा कि निकाचित कर्म अवश्य भोक्तव्य हैं जबकि अनिकाचित कर्म बिना भोग किये तप से भी नाश योग्य होते हैं ।

ज्ञानकृतो नास्ति विरक्तानाम्, किन्तु शुभादृष्टकृत एव । तच्च शुभादृष्टं विषयाप्रवृत्त्यैव भवति, तत्प्रवृत्त्या तु तत्प्रतिकूलादृष्टार्जनादुत्कटेच्छैव विषये जायते । तदुक्तं पतञ्जलिनाऽपि 'भोगाभ्यासमनुवर्तन्ते रागाः, कौशलं चेन्द्रियाणाम्' इति । 'गीतास्वप्युक्तम्—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" इति ॥

इत्थं चैतदवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, पिपासाया इव विषयेच्छायाः क्लिष्टकर्मोदयजनित-

(यथेच्छप्रवृत्ति से विषयपराङ्मुखता का असम्भव)

उक्त के सन्दर्भ में मण्डलतन्त्रवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि-"सम्पूर्ण विषयों में इच्छा का निरोध सम्भव न होने से इच्छा के निरोध से मनुष्य को विषयवैमुख्य भले न हो किन्तु औचित्य-अनौचित्य का विचार न कर इच्छानुसार विषयोपभोग में प्रवृत्त होने से विषयाधीन सुख में अब विषयसुख सिद्ध हो गया ऐसा सिद्धत्व का ज्ञान होने पर तो विषयवैमुख्य सुसम्पन्न हो सकता है, अतः योग की सिद्धि के लिये विषयों में यथेच्छ प्रवृत्ति ही उचित है, वहां स्त्रियों के सम्बन्ध में गम्या-अगम्यादि का भेद करना अनावश्यक है।"–किन्तु प्रस्तुत कारिका के व्याख्याता के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'समस्त सुख सिद्ध हो गए' ऐसा समस्त सुख में सिद्धत्व का ज्ञान हुये विना विशेषदर्शी अर्थात् प्राप्त सुखों से भिन्न सुख की सम्भाव्यता को जाननेवाले मनुष्य की सामान्य रूप से सुखमात्र की इच्छा का उच्छेद नहीं हो सकता, एक सुख के सिद्धत्व का ज्ञान दूसरे सुख की इच्छा का निवर्तक नहीं हो सकता। एक वस्तु की सिद्धि से यदि उस वस्तु के सदृश अन्य वस्तु की इच्छा का विच्छेद माना जायगा तो अपनी प्रेयसी से दूर परदेश गये पुरुष को उसकी मृत्यु का ज्ञान न होने की स्थिति में उसके पुनः अवलोकन की जो इच्छा होती है वह न हो सकेगी क्योंकि उसका अवलोकन प्रोषण के पूर्व हो चुका है । जो विषय सिद्ध नहीं है उस की इच्छा का निरोध होता भी नहीं है। अतः यही मानना युक्तिसंगत है कि विरक्त पुरुषों को जो समग्र इच्छा का विच्छेद होता है वह कतिपय इष्ट वस्तुओं के सिद्धत्वज्ञान से नहीं होता, अपि तु शुभादृष्ट के प्रभाव से होता है और वह शुभादृष्ट विषयों में यथेच्छ प्रवृत्ति से न हो कर विषयों में प्रवृत्त न होने से निष्पन्न होता है। विषयों में प्रवृत्त होने से तो विषयेच्छा-निवर्तक अदृष्ट के विरोधी अदृष्ट का उदय होता है जिस से विषय की उत्कट इच्छा का ही संवर्धन होता है । पतञ्जलि ने भी इस तथ्य की पुष्टि यह कहकर की है कि विषयोपभोग के अभ्यास से विषयों में राग की अभिवृद्धि होती है, और विषयग्रहण में इन्द्रियों की पटुता सम्पादित होती है ।

गीता में भी कहा गया है कि-काम=विषयसुख के उपभोग से काम=विषय सुख की इच्छा निवृत्त नहीं होती, प्रत्युत हवि-घृत आदि हवनीय द्रव्यों से अग्नि के समान अधिकाधिक बढती जाती है।

टिप्पण-१ गीता वचन के रूपमें निर्दिष्ट 'न जातु कामः कामानाम्' इत्यादि वचन प्रसिद्ध गीता भगवद्गीता में प्राप्य नहीं है किन्तु मनुस्मृति में प्राप्य है। अतः यहां 'गीता' शब्द से मनुस्मृति में तात्पर्य हो ऐसा प्रतीत होता है।

त्वेन तदुपशमेनैव तदुपशमात्। तदुपशमार्थमेव च पिपासोपशमनार्थं जलपानस्येव मौनीन्द्र-प्रवचनवचनामृतपानस्य न्याय्यत्वादिति। अधिकमध्यात्ममतपरीक्षायाम् ॥३७॥

अथ संसारमोचकागमेऽप्येतदतिदेशमाह—

मूलम्-संसारमोचकस्यापि हिंसा यद्धर्मसाधनम्।
मुक्तिश्चास्ति ततस्तस्याप्येष दोषोऽनिवारितः ॥३८॥

संसारमोचकस्यापि यद्=यस्मात् कारणात्, हिंसा धर्मसाधनम्, मुक्तिश्चास्ति 'अभ्युपगता' इति शेषः। ततः=तस्मात् कारणात्, तस्याप्येषः=पूर्वोक्तदोषोऽनिवारितः, हिंसाया धर्मसाधनताया लोकेष्टविरुद्धत्वात्, तदुत्कर्षाऽभावेन मुक्त्यभावप्रसङ्गाच्च।

स्यादेतत्-तृष्णानिमित्तैव हिंसा न धर्महेतुः, नतूपकारनिमित्ताऽपि, व्याधितस्याप्तवैद्येन दाहादिकरणात्, तथा च दुःखितानां दुःखविघाताय हिंसाभ्युपगमो न विरोत्स्यत इति। मैवम्, अविरतानां हतानां जीवानां प्रेत्यानन्तदुःखेष्वेव नियोजनात्। किञ्चैवं सुखिनामपि पापवारणार्थं घातः स्यात्, तथा चाऽपूर्वकारुणिकस्येव तव कुटुम्बघातोऽपि न्यायप्राप्तः। तस्माद् दुष्टोऽयमभिनिवेशः। दुःखकारणाऽधर्मविनाशेन धर्मे नियोजनादेव च कारुणिकत्वमुपपद्यते, इत्यार्हतमतं रमणीयम् ॥३८॥

इस प्रकार यह बात अवश्य माननी होगी कि विषय-सुख की इच्छा पानी पीने की इच्छा के समान क्लिष्ट कर्मो-पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न होती है, अतः उसका उपशम उन कर्मों के उपशम से ही सम्भव हो सकता है। इस लिये प्यास बुझाने के लिये जैसे पानी पीना आवश्यक होता है, उसी प्रकार विषयेच्छा का निरोध करने के लिये मौनीन्द्र भगवान द्वारा उद्भासित आगम के वचनामृत का पान भी आवश्यक है।

इस विषय में अधिक जानकारी 'अध्यात्म मत परीक्षा' ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है ॥३७॥

इस प्रकार मण्डलतन्त्र आदि आगम की सदोषता सिद्ध की गयी।

[संसारमोचकमत भी दोषाक्रान्त ही है]

संसारमोचक आगम में भी यही माना गया है कि-'हिंसा धर्म का साधन है, उस के उत्कर्ष से ही मुक्ति होती है'-अतः उस में भी पूर्वोक्तदोष का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि 'हिंसा धर्म का साधन है' यह बात लोकविरुद्ध एवं इष्टविरुद्ध है, तथा अतीत, अनागत, वर्तमान सभी प्राणियों की हिंसा सम्भव न होने से हिंसा के उत्कर्ष की सिद्धि न हो सकने के कारण मुक्ति के अभाव की भी आपत्ति होगी।

[उपकारबुद्धिप्रयुक्त हिंसा में भी औचित्य का अभाव]

यदि यह कहा जाय कि-"तृष्णावश की जानेवाली हिंसा धर्म का साधन न हो, किन्तु उपकारबुद्धि से की जानेवाली हिंसा को धर्म का साधन मानने में कोई बाधा नहीं है, यही कारण है कि आप्त

दोषाऽनिवारितत्वमेवोक्तं भावयति–

मूलम्–मुक्तिः कर्मक्षयादेव जायते नान्यतः क्वचित् ।
जन्मादिरहिता यत् तत् स एवात्र निरूप्यते ॥३९॥

मुक्तिः कर्मक्षयादेव=जन्महेतुपुण्याऽपुण्यविलयत एवासाधारणहेतोः, नान्यतः क्वचिद् दानादेः, अभय--सुपात्रदानादीनामपि व्यवहितहेतुत्वात् , जन्मादिरहिता-जन्ममरणाद्यनाश्लिष्टा, यद्=यस्माद् हेतोः, तत्=तस्मात् , स एव=कर्मक्षय एव, अत्र=प्रकृतस्थले निरूप्यते ॥३९॥

वैद्य व्याधिग्रस्त मनुष्य की दाह आदि द्वारा भी चिकित्सा करते हैं। अतः दुःखी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के लिये उन की हिंसा करने में कोई अनौचित्य नहीं हो सकता"–तो वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविरत अक्षीणसमग्रकर्मा जीवों की हिंसा करने पर अनन्त दुःखमय योनियों में उन्हें भटकना ही पडता है, न कि उनकी मुक्ति होती है । अतः हिंसा का कार्य निन्दनीय ही है। इसके अतिरिक्त यह भी आपत्ति होगी कि जैसे–अगर दुःखी जनों को दुःख से मुक्त करने के लिये उन की हिंसा उचित है तब तो उसी प्रकार पापकर्म से विरत करने के लिये सुखी जनों की भी हिंसा उचित हो सकती है। फलतः संसारमोचक आगम के अनुयायियों को अपनी अपूर्व करुणा से प्रेरित हो अपने कुटुम्ब की भी हिंसा न्याय प्राप्त होगी, तब यह हिंसा करने में कोई हिचक न होनी चाहिये, किन्तु यह सब नहीं होता, अतः हिंसा को धर्म का साधन मानना एक दुराग्रहमात्र है। इस स्थिति में आर्हत आगमों की यह मान्यता ही न्यायसंगत है कि मनुष्य को दुःख के कारणभूत अधर्म से दूर हटाकर उसे धर्म का आचरण करने की प्रेरणा प्रदान करने से ही उपदेशक की करुणाशीलता सिद्ध होती है ॥३८॥

३९वीं कारिका में 'मण्डलतन्त्र, संसारमोचक आदि आगमों के मत में दोष का परिहार होता ही नहीं यह जो कहा गया इस बात की पुष्टि की गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

मुक्ति मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। उस की प्राप्ति से ही मानवजीवन की सार्थकता और कृतार्थता होती है, किन्तु जन्म की शृङ्खला बनी रहने तक उस की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः जन्म की शृङ्खला का टूटना आवश्यक हैं, किन्तु वह शृङ्खला तब तक नहीं टूट सकती जब तक उस के कारणभूत पुण्य-अपुण्य कर्मों का उच्छेद न हो । फलतः स्पष्ट है कि जन्म के कारणभूत समग्र कर्मों का क्षय ही मुक्ति का असाधारण कारण है, उसी से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है। दान, दया आदि किसी अन्य कारण से उस की प्राप्ति नहीं हो सकती । अभय एवं सुपात्रदान अर्थात् चारित्रपात्र मुनियों को निर्दोष भिक्षा का दान आदि भी अच्छी बात है किन्तु वह मुक्ति का साक्षात् हेतु न होकर व्यवहित हेतु है । कर्मक्षय हुये बिना केवल दान आदि धर्मों से मुक्ति प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र है ।

यतः मुक्ति जन्म-मरण से रहित होती है, जन्म-मरण का चक्र चालू रहते उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः यह चक्र जिन कर्मों पर आश्रित है उन कर्मों के क्षयका निरूपण आवश्यक है, इसीलिये वर्तमान सन्दर्भ में कर्मक्षय का प्रतिपादन ही प्रस्तुत है ॥३९॥

किंहेतुकोऽयम् ? इति पर्यनुयुज्यते-

मूलम्-हिंसाद्युत्कर्षसाध्यो वा तद्विपर्ययजोऽपि वा ।
अन्यहेतुरहेतुर्वा स वै कर्मक्षयो ननु ? ॥४०॥

तथाहि 'ननु' इत्याक्षेपे, वै=निश्चितम्, स कर्मक्षयो हिंसाद्युत्कर्षसाध्यो वा स्यात्=हिंसोत्तरदुःखापनयनोत्कर्षसाध्यो वा स्यात्, तद्विपर्ययसाध्यो वा=अहिंसाद्युत्कर्षसाध्यो वा स्याद्, अन्यहेतुः=एतदुभयातिरिक्तहेतुर्वा स्यात्, अहेतुर्वा स्यात्, इति चत्वारः पक्षाः ॥४०॥

मूलम्-हिंसाद्युत्कर्षसाध्यत्वे तदभावे न तत्स्थितिः ।
कर्मक्षयाऽस्थितौ च स्यान्मुक्तानां मुक्तताक्षतिः ॥४१॥

आद्ये आह-हिंसाद्युत्कर्षसाध्यत्वे, तदभावे=हिंसाद्युत्कर्षाभावे, न तत्स्थितिः न कर्मक्षयस्थितिः, कर्मक्षयाऽस्थितौ च मुक्तानां मुक्तताक्षतिः स्यात् ॥४१॥

(कर्मक्षय के सम्भवित हेतु चतुष्टय)

प्रस्तुत चालीसवीं कारिका में 'ननु' शब्द से कर्मक्षय की सम्भाव्यता पर आक्षेप करते हुये उस के हेतुओं के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की गइ है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

कर्मक्षय के सहेतुक होने की सम्भावना के निश्चित रूप से चार ही पक्ष हो सकते हैं. जैसे-

१. कर्मक्षय हिंसा आदि के उत्कर्ष अर्थात् हिंसा के अनन्तर होनेवाले दु खराहित्य के उत्कर्ष से सम्पादित हो सकता है क्या ?

२ हिंसा आदि के विरोधी अहिंसा आदि के उत्कर्ष से सम्पादित हो सकता है क्या ?

३ उक्त दोनों हेतुओं से अतिरिक्त किसी अन्य हेतु से सम्पादित हो सकता है क्या ?

४ अथवा हेतु के विना ही सुलभ हो सकता है क्या ? ॥४०॥

४१ वीं कारिका से प्रथमपक्ष की अयुक्तता बतायी गयी हैं जो इस प्रकार हैं-

हिंसा आदि के उत्कर्ष से कर्मक्षय की सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि हिंसा आदि का उत्कर्ष कदापि सम्भव नहीं हैं, अतः उस से कर्मक्षय नहीं उपपन्न हो सकता, और कर्मक्षय न हो सकने पर मुक्त पुरुषों की शास्त्रों में कथित मुक्तता का समर्थन नहीं हो सकता।

आशय यह हैं कि हिंसा के उत्कर्ष की कल्पना दो प्रकार से की जा सकती है । सम्पूर्ण जीवों की हिंसा या हिंसाहत जीव की दुःखों से मुक्ति। किन्तु यह दोनों ही बाते असम्भव हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण जीवों की हिंसा नहीं कर सकता, और न कर्मों से बंधा जीव हिंसाहत होकर दुःखों से मुक्त भी हो सकता है क्योंकि कर्मवश उस का पुनर्जन्म और उस जन्म में दुःखों का आघात अनिवार्य हैं ।४१॥

द्वितीय आह–

मूलम्–तद्विपर्ययसाध्यत्वे परसिद्धान्तसंस्थितिः ।
कर्मक्षयः सतां यस्मादहिंसादिप्रसाधनः ॥ ४२ ॥

तद्विपर्ययसाध्यत्वे=अहिंसाद्युत्कर्षसाध्यत्वे, परसिद्धान्तसंस्थितिः=अन्याभ्युपगमप्रसङ्गः, यतः सतां=साधूनाम्, कर्मक्षयोऽहिंसादिप्रसाधन इष्टः ॥४२॥

तृतीय आह–

तदन्यहेतुसाध्यत्वे तत्स्वरूपमसंस्थितम् ।
अहेतुत्वे सदा भावोऽभावो वा स्यात् सदैव हि ॥४३॥

तदन्यहेतुसाध्यत्वे=उक्तोभयातिरिक्तसाध्यत्वे, तत्स्वरूपं=तदन्यहेतुस्वरूपम्, असंस्थितम्=अनिर्वचनबाधितं बाधकम् ।

चतुर्थ आह-अहेतुत्वे कर्मक्षयस्य, सदा भावः स्याद्, उत्पत्तिशीलत्वात्, हि=निश्चितम्, सदैवाभावो वा स्याद् अनुत्पत्तिशीलत्वात् ॥४३॥

तदत्र द्वितीय विकल्प एव न्याय्य इति दर्शयति–

मूलम्–मुक्तिः कर्मक्षयादिष्टा ज्ञानयोगफलं स च ।
अहिंसादि च तद्धेतुरिति न्यायः सतां मतः ॥४४॥

[कर्मक्षय अहिंसादि के उत्कर्ष से साध्य है ?]

४२ वीं कारिका में दूसरे पक्ष की त्रुटि बतायी गयी है, जो इस प्रकार हैं—

कर्मक्षय को हिंसादि के उत्कर्ष के विपरीत अहिंसा आदि के उत्कर्ष से साध्य मानने पर अन्य पक्ष-जो पक्ष अपने को इष्ट नहीं है-को स्वीकार करने की आपत्ति होगी क्योंकि 'अहिंसा आदि से कर्मों का क्षय होता है' यह साधुपुरुषों का धर्म एवं अध्यात्म में निष्ठा रखने वाले विवेकी पुरुषों का अभिमत पक्ष है ॥४२॥

४३ वी कारिका के पूर्वार्ध से तीसरे पक्ष की सदोषता बतायी गयी है जो इस प्रकार है–

हिंसा आदि निन्द्य कर्म और अहिंसा आदि स्तुत्य कर्म, इन दोनों से भिन्न हेतु द्वारा कर्मक्षय की सिद्धि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इस प्रकार का हेतु असंस्थित-असिद्ध है, उस का निर्वचन न हो सकने के कारण वह स्वयं बाधित हैं, अतः वह सिद्धान्तपक्ष का बाधक नहीं हो सकता।

कारिका के उत्तरार्ध से चौथे पक्ष का दोष बताया गया है, जो इस प्रकार है–

कर्मक्षय को अहेतुक-हेतुनिरपेक्ष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अहेतुक की निश्चितरूप से दो ही गति हो सकती हैं। एक यह कि हेतु के अभाव में भी यदि वह उत्पत्तिशील होगा, तो सदैव उस का अस्तित्व होना चाहिये, क्योंकि उसके होने में किसी की अपेक्षा नहीं है, और दूसरी यह कि यदि वह अनुत्पत्तिशील होगा तो उस की कभी भी उत्पत्ति न होने से उसे कभी न होना चाहिये अपि तु सदैव उस का अभाव ही रहना चाहिये ॥४३॥

मुक्तिः=परमानन्दप्राप्तिः, **कर्मक्षयादिष्टा**=कर्मक्षयजन्याऽभिमता, स च कर्मक्षयः, **ज्ञानयोगफलम्**=रत्नत्रयसाम्राज्यजन्यः **तद्धेतुः**=तत्कारणं च, **अहिंसादि**=हिंसाविरतिपरिणामादि, इति एषः, **सतां**=जैनागमोपनिषद्वेदिनाम्, **न्यायः**=सन्मार्गः, **मतः**=इष्टः। तदेवं संसारमोचकागमाऽसारता प्रतिपादिता ॥४४॥

अथ यज्वनामागमासारतां तद्वदेव प्रदर्शयति—

मूलम्-एवं वेदविहिताऽपि हिंसा पापाय तत्त्वतः ।
शास्त्रचोदितभावेऽपि वचनान्तरबाधनात् ॥४५॥

एवं=संसारमोचकाभिमतहिंसावत्, **वेदविहिताऽपि**='श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः' इत्यादिविधिनेष्टसाधनत्वेन बोधितापि **हिंसा**, **तत्त्वतः**=युक्त्या विचार्यमाणा पापाय भवति। विधिबोधितत्वे कथमेवं स्यात्? इत्यत्राह—**शास्त्रचोदितभावेऽपि**=प्रकृतविधिबोधितेष्टसाधनताकत्वेऽपि **वचनान्तरबाधनात्**—सामान्यतः प्रवृत्तेन निषेधविधिनाऽनिष्टसाधनत्वेन बोधनात् ॥४५॥

(अहिंसादि से ज्ञानयोग, उससे कर्मक्षय)

४४ वीं कारिका द्वारा 'अहिंसा आदि साधनों से ही कर्मों का क्षय सम्पन्न होता है' इस दूसरे पक्ष को ही न्याय-संगत बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

मुक्ति का अर्थ है परमानन्द की प्राप्ति और परमानन्द का अर्थ है आनन्द की वह अवस्था, जिस में किंचिन्मात्र भी दुःख के सम्पर्क की सम्भावना नहीं की जा सकती। यह मुक्ति मनुष्य को उस के समग्र कर्मों का क्षय होने पर ही सम्पन्न होती है और कर्मों का क्षय ज्ञानयोग से सम्पादित होता है। ज्ञान का अर्थ है सम्यक् ज्ञान और सम्यक दर्शन, योग का अर्थ है सम्यक् चारित्र्य। यह तीनों महाफलप्रद होने से बहुमूल्य होने के कारण रत्न कहे जाते हैं। इन तीनों रत्नों का प्रभूत मात्रा में संचय होने पर ही कर्मों का क्षय होता है और इन रत्नों की उपलब्धि अहिंसा आदि अर्थात् हिंसा-असत्य आदि के प्रतिज्ञाबद्ध त्यागस्वरूप विरतिमय चित्तपरिणाम के प्रमादमुक्त दीर्घकालीन सेवन से ही सम्भव होती है।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा आदि के सेवन से सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का अर्जन कर समग्र कर्मों का क्षय करना ही मोक्ष-प्राप्ति का निष्कण्टक मार्ग है जैनागम के रहस्य को जानने वाले मनीषी पुरुषों को यही अभिमत है। इस प्रकार संसारमोचक आगमों की असारता प्रतिपादित होती है। ४४॥

(वेदविहित हिंसा पापजनक है)

४५ वी कारिका में संसारमोचक आगम के समान याज्ञिकों=वैदिकों के भी आगमों की असारता बतायी गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

एतदेव भावयन्नाह-

मूलम्-'न हिंस्यादिह भूतानि' हिंसनं दोषकृन्मतम् ।
दाहवद् वैद्यके स्पष्टमुत्सर्गप्रतिषेधतः ॥४६॥

'न हिंस्यादिह' इत्यत्रस्थेहशब्दोऽन्यत्र योज्यः, तथा च 'न हिंस्याद् भूतानीह' इत्यर्थः। इदं च "न हिंस्याद् सर्वभूतानि" इति वेदवाक्यस्मारकम्। इह वाक्ये हिंसनं=राग-द्वेष मोह-तृष्णादिनिबन्धनहिंसासामान्यम्, दोषकृत्=अनिष्टजनकम्, स्पष्टम्=असंदिग्धतया मतम्=अभीष्टम्। किंवत्? इत्याह-वैद्यके दाहवत्='दाहो न कार्यः' इति वैद्यकनिषेधवाक्यनिषिद्धदाहवत्। कुतः? इत्याह-उत्सर्गप्रतिषेधतः=नञा समभिव्याहारादनिष्टसाधनत्वे निरूढलाक्षणिकप्रकृतविध्यर्थस्य व्युत्पत्तिमहिम्ना निषेध्यतावच्छेदकावच्छेदेनैवाऽन्वयात्। एतेन 'नञर्थे लिङर्थान्वये कथं दोषकृत्त्वबोधः? प्रकृतनिषेधविधेः पापजनकत्वे निरूढलक्षणायां च दृष्टान्तानुपपत्तिः, इति प्रकृतविध्यर्थनिषेधस्य हिंसात्वसामानाधिकरण्येनाऽन्वयाद् नानुपपत्तिः' इति निरस्तम्, सामानाधिकरण्येनापि विधिशङ्काविरहेण सामान्यत एव निषेधान्वयस्वीकारात् ॥४६॥

जिस प्रकार संसारमोचक आगमों में वर्णित हिंसा पापजनक होती है उसी प्रकार वेदविहित हिंसा भी-"श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः"=भूति-सम्पत्ति का इच्छुक वायुदेवता के उद्देश्य से शुभ्रवर्ण के बकरे का वध करे" जैसे वैदिक विधिवाक्य जिसे इष्ट का साधन बताते हैं.-युक्तिपूर्वक विचार करने पर वह पाप का जनक सिद्ध होती है । यदि यह कहा जाय कि-"शास्त्रीय विधिवाक्य जिस हिंसा का विधान करते हैं-जिसे इष्ट का साधन बताते हैं, उसे पाप का जनक कहना उचित नहीं है"-तो यह कथन ठीक नहीं हो सकता क्योंकि उक्त विधिवाक्य जैसे उसे इष्ट का साधन बताते हैं-उसी प्रकार 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'=किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये' इस प्रकार के निषेधक वचन सामान्यरूप से हिंसा मात्र को अनिष्ट का साधन भी बताते हैं और यह सर्वमान्य सत्य है कि जिस कर्म को शास्त्र अनिष्ट का साधन बताते हैं वह कर्म पाप का जनक होता है-क्योंकि पाप के द्वारा ही उस की अनिष्टसाधनता सिद्ध होती है ॥४५॥

['न हिंस्यात् सर्वभूतानि'-वेदवाक्यार्थ]

४६ वीं कारिका में भी पूर्वकारिका की ही बात पुष्ट की गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है जो न हिंस्यादिह भूतानि' इस भागको 'न हिंस्याद् भूतानि इह' इस रूप में पढने पर लब्ध होता है-

'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस वेदवाक्य में सभी प्रकार की हिंसा से, चाहे वह राग, द्वेष, मोह तृष्णा आदि किसी भी निमित्त से की जाय, अनिष्ट की उत्पत्ति होती है, यह बात असन्दिग्धरूप में कही गयी है और यह ठीक उसी प्रकार मान्य है जिसप्रकार वैद्यक शास्त्र के अनुसार 'दाहो न कार्यः' इस निषेधवाक्य से निषिद्ध सोना, पारा आदि धातु या प्राणी के अङ्ग आदि का दाह करने पर उस दाह से होने वाली अनिष्ट की उत्पत्ति मान्य है ।

ततः किम् ? इत्याह—

मूलम्-ततो व्याधिनिवृत्त्यर्थं दाहः कार्यस्तु चोदिते ।
न ततोऽपि न दोषः स्यात् फलोद्देशेन चोदनात् ॥४७॥

ततो='दाहो न कार्यः' इत्यनेन सामान्यत एव दाहस्यानिष्टसाधनत्वसिद्धेः, '**व्याधिनिवृत्त्यर्थं दाहः कार्यः**' इति **चोदितेऽपि**=विहितेऽपि, **तु**रप्यर्थः, **न ततोऽपि**=दाहात् **फलोद्देशेन**=व्याधिनिवृत्त्यर्थं **चोदनात्**=विधानाद् हेतोः, न दोषः तापलक्षणः स्यात्, किन्तु स्यादेव ॥४७॥

प्रश्न हो सकता है कि–' जिस हिंसा या जिस दाह को शास्त्र में इष्ट का साधन बताया गया है, उस से अनिष्ट की उत्पत्ति क्यों होगी ? क्यों कि निषेधक वचनों की पहुंच उन हिंसा और दाह आदि तक ही हो सकती है जिन में इष्टसाधनता का बोधक कोई शास्त्र नहीं है-" इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि निषेधवचन उत्सर्ग-सामान्यवचन होता है और उस में नञ् पद के सन्निधान से विधिप्रत्यय की अनिष्टसाधनता में निरूढलक्षणा होती है और इस निरूढलक्षणालभ्य अर्थ का अन्वय निषेध्यतावच्छेदक के सभी आश्रयों में होने का नियम है। अत: 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस वाक्य से निषेध्यतावच्छेदक हिंसात्व के आश्रय सभी हिंसा में और 'दाहो न कार्यः' इस वाक्य से निषेध्यतावच्छेदक दाहत्व के आश्रय सभी दाहों में अनिष्टसाधनता का बोध होता है, अत: जिन कर्मों में शास्त्र के किसी विशेष वचन से इष्टसाधनता का और सामान्यवचन से अनिष्टसाधनता का बोध होता है, ऐसे कर्मों से, इष्ट और अनिष्ट दोनों की उत्पत्ति होना ही न्याय संगत है।

यदि यह कहा जाय कि-'निषेधवाक्यस्थल में नञर्थ में लिङ्प्रत्ययार्थ का अन्वय होता है, अतः निषेधवाक्य से निषिध्यमान कर्म में लिङर्थ धर्मसाधनत्व के अभाव का ही बोध हो सकता है, पापजनकत्व का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उसका बोधक कोई पद नहीं है, नञ् के सन्निधान में विधिप्रत्यय की पापजनकत्व में निरूढलक्षणा मानकर भी उसके बोध की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकार की लक्षणा में कोई दूसरा दृष्टान्त नहीं है । इस स्थिति में निषेधवाक्य से निषेध्यतावच्छेदक के सभी आश्रयों में लिङर्थ के अभाव का अन्वय न मानकर उस के कतिपय आश्रयों में ही लिङर्थाभाव का अन्वय स्वीकार करने से हिंसाविशेष के विधायक तथा हिंसासामान्य के निषेधकवाक्यों में कोई विरोध न होगा फलत: शास्त्रविहित हिंसाविशेष से पाप की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता' - तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' जैसे निषेधवाक्यों के अर्थबोध के समय किसी प्रकार की हिंसा आदि जैसे कर्म के विधान की सम्भावना न रहने से उन वाक्यों से निषेध्यतावच्छेदक धर्म के सभी आश्रयों में ही लिङर्थाभाव का अन्वय मानना ही युक्तिसंगत है । ४६॥

(दाहजनित ताप दोष के समान पापबन्ध अनिवार्य)

पूर्व कारिका में निषेधवाक्य से जिस प्रकार के बोध का समर्थन किया गया है, प्रस्तुत कारिका ४७ में उस बोध की फलश्रुति बतायी गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

प्रकृते दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

मूलम् -एवं तत्फलभावेऽपि चोदनातोऽपि सर्वथा ।
ध्रुवमौत्सर्गिको दोषो जायते फलचोदनात् ॥४८॥

एवं चोदनातोऽपि=क्रत्वङ्गहिंसाविधेरपि, तत्फलभावेऽपि=तद्बोधितफलभावेऽपि, ध्रुवं=निश्चितम्, सर्वथाऽन्यहिंसातुल्यतयौत्सर्गिकः सामान्यनिषेधबोधितः दोषः=पापलक्षणः जायते, फलचोदनात्=फलोद्देशात्, तृष्णामूलकहिंसात्वेनैवाऽधर्मजनकत्वात्।

ननु निषेधविधिनाऽनिष्टसाधनत्वमात्रबोधने ततो निवृत्त्यनुपपत्तिः, बलवदनिष्ट-साधनत्वबोधने च व्याधिनिवृत्त्यर्थं दाहेऽपि प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, इति विशेषनिषेधे सामान्य-विधेस्तदितरपरत्ववद् विशेषविधौ सामान्यनिषेधस्यापि तदितरपरत्वमेव न्याय्यम्। अवश्यं चैतदभ्युपेयम्, कथमन्यथा तवापि सामान्यत आधाकर्मिकादिग्रहणनिषेधेऽप्यसंस्तरणादिदशायां तद्विधानम्? इति चेत्? न, आधाकर्मिकग्रहणाऽग्रहणयोः संयमपालनार्थमेकोद्देशेनैव विधानादुत्सर्गा--ऽपवादभावव्यवस्थितावपि प्रकृतेऽहिंसा-यागयोरेकार्थत्वाभावेनोत्सर्गाऽपवाद-व्यवस्थाया एवाऽयोगात्, सामान्यनिषेधे संकोचस्याऽन्याय्यत्वात्। तदुक्तं [1]स्तुतिकृता "नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च" [अन्य०व्य०द्वा० श्लोक ११] इति। प्रवृत्तिस्तु तत्र मूढानां श्येनादाविव दोषादेव।

'दाहो न कार्यः' इस निषेधवाक्य से दाह सामान्य में अनिष्टसाधनता का बोध होने का फल यह है कि 'व्याधिनिवृत्यर्थं दाहः कार्यः' इस शास्त्रवचन से दाह का विधान होने पर भी सामान्यनिषेध के कारण विहितदाह से भी दोष की उत्पत्ति का होना सिद्ध होता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि 'दाह व्याधिनिवृत्तिरूप विशेषफल के उद्देश्य से शास्त्रविहित है अतः सामान्यनिषेध होने पर भी उस से दोष नहीं होता'-क्योंकि व्याधिनिवृत्ति के लिये भी दाह करने पर उस से ताप दोष का होना तो निर्विवाद है ॥४७॥

(फलान्तर प्राप्त होने पर भी औत्सर्गिक दोषाऽनिवृत्ति)

इस कारिका में दाहरूप दृष्टान्त के द्वारा यज्ञ के अङ्गभूत दार्ष्टान्तिक हिंसा में पापजनकत्व का प्रतिपादन किया गया हैं। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

जिस प्रकार व्याधिनिवृत्ति के लिये दाह के विधायक वचन से दाह में फलसाधनता का बोध होने पर भी 'दाहो न कार्यः' इस सामान्यनिषेध के कारण वैद्यकशास्त्र से विहित भी दाह ताप दोष का जनक होता हैं, उसी प्रकार यज्ञ के अङ्गभूत हिंसा के विधायकवाक्य से उस हिंसा में फलसाधनता का बोध होने पर भी हिंसासामान्य का शास्त्रतः निषेध होने के कारण उस हिंसा से भी पापात्मक दोष की उत्पत्ति अनिवार्य है क्योंकि वह हिंसा भी अन्य हिंसा के सर्वथा समान है, क्योंकि फलविशेष की

१-न धर्महेतु वहिताऽपि हिंसा, नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारिस्फुरितं परेषाम् ॥११॥

अत एव सांख्या अपि सामान्यनिषेध-विशेषविधिबोधितानर्थहेतुकत्व-क्रत्वङ्गत्वयो-रेकत्र समावेशसंभवाद् निषिद्धस्यापि विहितत्वस्य, विहितस्यापि निषिद्धत्वस्य च श्येनादिव-

सिद्धि के लिये विहित होने से उस फल की तृष्णा ही उस का मूल है, अतः तृष्णामूलक हिंसा होने के नाते अन्य हिंसा के समान उस हिंसा से भी अधर्म का होना न्यायप्राप्त हैं।

इस सन्दर्भ में यह शङ्का हो सकती हैं कि-'निषेधवाक्य यदि सामान्यतः अनिष्टसाधनता का बोधक होगा तो उस से निषिद्ध कर्म से पुरुष की निवृत्ति न हो सकेगी क्योंकि जिन विहित कर्मों को मनुष्य बडे उत्साह से करता हैं वे कर्म भी कुछ न कुछ तो अनिष्ट करते ही हैं. अतः सामान्य अनिष्ट का साधन समझते हुये भी मनुष्य जैसे उन कर्मों से निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार वह निषिद्ध कर्मों को भी यदि सामान्य अनिष्ट का ही साधन समझेगा तो उन कर्मों से भी उस को निवृत्ति न होगी। इस दोष के निवारणार्थ निषेधवाक्य को बलवान् अनिष्ट की साधनता का बोधक माना जायगा तो व्याधिनिवृत्ति के लिये भी दाहकार्य में मनुष्य की प्रवृत्ति न होगी. क्योंकि 'दाहो न कार्यः' इस निषेधवाक्य से दाह में बलवान् अनिष्ट की साधनता का ज्ञान होने से दाह में प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध हो जायगा। अतः यह मानना आवश्यक होगा कि जैसे 'तृप्तिकामः अन्नं भुञ्जीत' भूख दूर करने के लिये अन्न का भोजन करे,' यह सामान्य विधि 'सविषमन्नं न भुञ्जीत जीवितुकामः' 'जीवित रहने का इच्छुक विषमिले अन्न का भोजन न करे', इस विशेषनिषेध के अनुरोध से विषमिश्र अन्न से अतिरिक्त अन्न के ही भोजन का विधायक होता है, उसी प्रकार 'दाहो न कार्यः'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि सामान्यनिषेध भी 'व्याधिनिवृत्त्यर्थं दाहः कार्यः, श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः' इत्यादि विशेषविधि के अनुरोध से विहित दाह और विहितहिंसा से अतिरिक्त दाह और हिंसा का ही निषेध करते हैं, अतः निषिद्ध प्रतीत होने वाले विहित कर्मों से पाप की उत्पत्ति का होना असिद्ध है। यह ज्ञातव्य है कि 'विहितातिरिक्त के निषेध में ही सामान्यनिषेध का तात्पर्य होता है, यह बात जैनों को भी माननी पडती है क्योंकि जैनशास्त्रों में भी सामान्यरूप से आधार्कर्मिक अन्नपान आदि के ग्रहण का निषेध और असंस्तरण आदि दशा में उस के ग्रहण का विधान है-''

किन्तु विचार करने पर उक्त शङ्का और उस का फलित उक्त निष्कर्ष उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आधाकर्मिकआदि के ग्रहण और अग्रहण दोनों का विधान संयमपालनरूप एक उद्देश्य से ही किया गया है अतः उन में उत्सर्ग और अपवाद की व्यवस्था तो हो सकती है पर अहिंसा और यज्ञ ये दोनों क्रमशः शुद्ध ब्रह्मसाक्षात्कार व स्वर्ग के उद्देश से विहित होने से एक उद्देश्य से नहीं विहित हैं. अतः उन में उत्सग और अपवाद की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये सामान्यनिषेध का विशेषविधि के अनुरोध से संकोच मानना न्यायसंगत नहीं हो सकता। इसीलिये स्तुतिकर्ता प्रभु हेमचन्द्रसूरि ने कहा है कि 'अन्य के लिये उत्सर्गप्राप्त का अन्य के लिये अपवाद नहीं होता' अर्थात् 'उत्सर्ग अन्य उद्देश से व अपवाद भिन्न उद्देश से' वैसा नहीं बन सकता, वैसा अपवाद उस उत्सर्ग के सम्बन्धित नहीं हो सकेगा। अतः उत्सर्गशास्त्र से निषिद्ध कर्म में किसी विधि के आधार पर दोष-विशेष के कारण मूढों की ही प्रवृत्ति होती है, जैसे हिंसामात्र का निषेध होने पर भी शत्रुवधार्थ श्येनयाग में।

दुपपत्तेः, श्येनादाविव ज्योतिष्टोमादौ रागद्वेषादिवशीकृतस्यैवाऽधिकाराज्ज्योतिष्टोमादीनां दुष्टत्वमेव प्रतिपन्नवन्तः। तथा **महाभारते**–

"जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते ।
अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते ॥१॥" इति ।

मनुस्मृतावपि–

'जपेनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यद् न वा कुर्याद् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥१॥"

इत्यहिंसायाः प्रशंसया हिंसाया दुष्टत्वमेवोक्तम् । तथोत्तर**मीमांसायामप्युक्तम्**–

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥१॥" इति ।

तथा **व्यासेनाप्युक्तम्**—

"ज्ञानपालीपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।
स्नात्वा तु विमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि ॥१॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥२॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्म-कामा-ऽर्थनाशकैः ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः ॥३॥
प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥४॥" इत्यादि ।

ततो 'दुष्टमग्निष्टोमादि कर्माऽधिकारिणापि दोषाऽसहिष्णुना त्याज्यम्, अन्तःकरण-शुद्धेरीदृशेन गायत्रीजपादिनैव बाढमुपपत्तेः' इत्याहुः ।

(ज्योतिष्टोमादि यज्ञ दोषपूर्ण है–सांख्यमत)

तृष्णामूलक हिंसा पापजनक होने से ही सांख्यविदों ने भी सामान्य निषेध से बोधित अनर्थसाधनत्व और विशेषविधि से बोधित यज्ञाङ्गत्व का एक कर्म में समावेश सम्भव मानकर विहित में निषिद्धत्व का और निषिद्ध में विहितत्व का उपपादन किया है और श्येनयाग के समान ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में भी रागद्वेषग्रस्त पुरुष का ही अधिकार मान कर उन यज्ञों को दोषयुक्त माना है। इसीलिये महाभारत में जपयज्ञ को प्राणिहिंसा से मुक्त बताकर उसे सब धर्मों से श्रेष्ठ कहा गया है।

मनुस्मृति में भी जप की प्रशंसा में कहा गया है कि 'इस में कोई सन्देह नहीं हैं कि ब्राह्मण जप से ही सिद्ध होता है, दूसरा कोई धर्म चाहे वह करे या न करे क्योंकि वह सब का मित्र होता है।

अत्र भाट्टाः–"न क्रत्वर्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशात् । तथाहि–विधिना बलवदिच्छाविषयसाधनताबोधरूपां प्रवर्तनां कुर्वताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः, स्वविषयस्य प्रवर्तनागोचरस्याऽनर्थसाधनत्वाभावोऽप्यर्थादाक्षिप्यते, तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते । न हि क्रत्वर्थत्वं साक्षाद्विध्यर्थः, येन विरोधो न स्यात् , किन्तु प्रवर्तनयैव । प्रवर्तना तु पुरुषार्थमेव विषयीकुर्वती क्वचित् क्रतुमपि तथाभावमापन्नं विषयीकरोति इत्यन्यदेतत् । पुरुषप्रवृत्तिश्च बलवदिच्छोपधानदशायां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति किन्तु यथाप्राप्तमेवाऽवलम्बते, बलवदिच्छाविषये स्वत एव प्रवृत्तेः, स्वर्गादौ विध्यनपेक्षणात् । अत एव वहितश्येनफलस्याऽपि शत्रुवधरूपाऽभिचारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव, फलस्य विधिजन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात् , विधिजन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थं करणं प्रवर्तनाऽवगाहते । सा च नाऽनर्थहेतुं विषयीकरोति । इति विशेषविधिबाधितं सामान्यनिषेधवाक्यं राग-द्वेषादिमूलाऽक्रत्वर्थहिंसाविषयम् । तेन श्येना-ऽग्निष्टोमयोर्वैषम्यादुपपन्नमदुष्टत्वम् । ज्योतिष्टोमादेर्विधिस्पृष्टस्यापि निषेधविषयत्वे, षोडशिग्रहणस्याप्यनर्थहेतुत्वापत्तिः, 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधात् । तस्माद् न किञ्चिदेतत्" इत्याहुः ।

तथा उत्तरमीमांसा में भी कहा गया है कि 'जो लोग पशुओं से यज्ञ करते हैं वे गाढ अन्धकार में प्रवेश कर रहे हैं चूंकि यह निश्चित है कि हिंसा से कभी न धर्म हुआ है और न कभी होगा ।'

व्यास ने भी कहा है कि–ज्ञानपाली से सुरक्षित ब्रह्मचर्य और दयारूप जल पापपङ्क को दूर करने वाला निर्मल तीर्थ है, मनुष्य को चाहिये कि उस तीर्थ में स्नान कर के जीवरूप कुण्ड में दमरूप वायु से ध्यानरूप अग्नि को प्रदीप्त करे और उस में अशुभकर्मों का समिध (=इन्धन)डालकर उत्तम कोटि का अग्निहोत्र करे और विद्वान पुरुषों द्वारा विहित उस यज्ञ का अनुष्ठान करे जिस में शान्तिमन्त्रों से धर्म, अर्थ और काम का नाश करने वाले वासना रूपी दुष्ट पशुओं के हवन का विधान है । जो मनुष्य प्राणियों की हिंसा से धर्म का अर्जन करना चाहता है वह मूढ है, वह काले नाग के मुख से अमृत की वर्षा चाहता है ।

अतः अग्निष्टोम आदि कर्मों में जिन का अधिकार है यदि वे पाप का भार उठाना नहीं चाहते तो उन्हें भी उन पापजनक कर्मों का त्याग करना चाहिये और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये गायत्री जप आदि हिंसारहित कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिये ।"

(यज्ञादिगत हिंसा निर्दोष है--भट्ट का पूर्वपक्ष)

भट्टमतानुयायी मीमांसकों का कहना है कि जो हिंसा यज्ञ के लिये की जाती है वह अनर्थ का जनक नहीं होती, क्योंकि शास्त्र के विधि वाक्य से जो विहित होता है उस में निषेधवाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । आशय यह है कि विधिवाक्य प्रवर्तना का जनक होता है और प्रवर्तना अनर्थ के साधन में नहीं हो सकती, क्योंकि प्रवर्तना का अर्थ है 'जिस वस्तु की मनुष्य को बलवती इच्छा हो उस वस्तु की साधनता का बोध', जो अनर्थ साधन में दुर्घट है और दुर्घट इसलिये है कि जिस में विधिवाक्य से बलवान् इष्ट की साधनता का बोधन होता है उस में अनर्थसाधनता के

अभाव का आनुमानिक बोध भी होता है, अतः विधिवाक्य से बलवान इष्ट की साधनता का बोधन उसी वस्तु में उचित हो सकता है जो अनर्थ का साधन न हो। इस प्रकार विधि और निषेध का परस्पर विरोध स्पष्ट है, क्योंकि विधि का विषय वह होता है जो अनर्थ का साधन न हो और निषेध का विषय वह होता है जो अनर्थ का साधन हो। हाँ इन दोनों में विरोध उस स्थिति में न होता यदि विधिवाक्य हिंसा को यज्ञका अङ्ग प्रवर्त्तना द्वारा न बताकर सीधे ही यज्ञ का अङ्ग बताता, क्योंकि हिंसा यज्ञका अङ्ग है और हिंसा अनर्थ का साधन है इन बोधों में कोई विरोध नहीं है, अतः हिंसा में विधि से यज्ञाङ्गता का और निषेध से अनर्थसाधनता का भी बोध हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि विधिवाक्य हिंसा में प्रवतना का जनन कर उसे यज्ञ का अङ्ग बताता है, और प्रवतना उसी में होती है जो इष्ट का साधन और अनिष्ट का असाधन होने से पुरुषार्थ (पुरुष का अभिलषणीय) होता है। कहीं पर यज्ञ भी प्रवर्तना का विषय इसीलिये होता है कि वह भी इष्ट का साधन और अनिष्ट का असाधन होने से पुरुषार्थ होता है।

(विशेषविधाम से निषेधसामान्य का बाध)

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि पुरुष को जिस विषय की बलवती इच्छा होती है उस में उस की प्रवृत्ति के लिये इष्टसाधनता के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती किन्तु उस का स्वरूप ज्ञान ही उस में पुरुषप्रवृत्ति के लिये पर्याप्त होता है क्योंकि जिस वस्तु की बलवती इच्छा होती है उस में पुरुष की प्रवृत्ति स्वतः ही हो जाती है, इसीलिये स्वर्ग आदि में पुरुषप्रवृत्ति के लिये विधि की अपेक्षा नहीं होती। इस से स्पष्ट है कि फल विधिजन्यप्रवृत्ति का विषय नहीं होता अतः उस में इष्ट की साधनता और अनिष्ट की असाधनता का बोध अपेक्षणीय नहीं होता। इसीलिये श्येनयाग के शास्त्रविहित होने पर भी उस का फल शत्रुवधरूप अभिचार अनर्थ का साधन होता है क्योंकि वह प्रवर्तना का विषय नहीं होता, प्रवतना का विषय तो वह होता है जो विधिजन्य प्रवृत्ति का विषय होता है और वह है धातु का अर्थ याग आदि, जो फल का करण हुआ करता है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि अनर्थ का हेतु प्रवतना का विषय नहीं होता। उपर्युक्त रीति से यह निस्सन्देह सिद्ध है कि विधि और निषेध में विरोध होता हैं, अतः सामान्यनिषेध का विशेषविधि से बाध होना न्यायप्राप्त है। इसलिये 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस निषेधवाक्य का विषय वही हिंसा हो सकती है जो यज्ञ का अङ्ग न होकर केवल रागद्वेषादि वश ही की जाती है।

(अग्निष्टोमादि याग श्येनयाग से तुल्य नहीं)

इस स्थिति में यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि श्येनयाग की समानता बताकर अग्निष्टोम आदि यज्ञों को जो दोषयुक्त कहा गया है वह उचित नहीं है, क्योंकि श्येनयाग से अग्निष्टोम आदि का वैषम्य सुस्पष्ट है, और वह इस प्रकार की श्येनयाग शास्त्रविहित होने से यद्यपि स्वयं अनर्थ का हेतु नहीं है किन्तु उस का फल शत्रुवधरूप अभिचार विधि का विषय न होने से 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस सामान्यनिषेध के आधार पर अनर्थ का साधन है, अतः अनर्थसाधन का प्रयोजक होने से श्येन की दोषयुक्तता न्यायसंगत है, किन्तु अग्निष्टोम शास्त्रविहित होने से न स्वयं अनर्थ का साधन है और न उस की अङ्गभूत हिंसा ही शास्त्रविहित होने स सामान्यनिषेध का विषय न होने के कारण अनर्थ का साधन है, और न उस का फल स्वर्ग ही किसी निषेध का विषय न होने के कारण अनर्थ का साधन है। अतः किसी भी प्रकार अनर्थजनन में प्रयोजक न होने के कारण

प्राभाकरास्तु 'फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न नियोगस्य प्रवर्तकत्वम्, तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरौदासीन्याद् न तस्याऽनर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते। अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद् विधिरेव प्रवर्तकः, स च स्वविषयस्याऽनर्थहेतुतां प्रतिक्षिपति, इति प्रधानभूता हिंसाऽनर्थं जनयति, न क्रत्वर्था, इति न हिंसामिश्रितत्वेन दुष्टत्वमग्नीषोमादेः' इत्याहुः।

इदं च मतद्वयं फलतस्तुल्यमेव। इयांस्तु विशेषो यत्-प्रभाकरमते-"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जैमिनीयसूत्रे १, १, २।) इत्यत्राऽर्थपदव्यावर्त्यत्वेनाधर्मत्वं श्येनादेः। भाट्टमते तु श्येनफलस्यैवाऽभिचारस्याऽनर्थहेतुत्वादधर्मत्वम्, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव, अर्थपदव्यावर्त्यं (त्यत्वं)तु कलिञ्जभक्षणादेर्निषिद्धस्यैव इति, फलतोऽनर्थहेतुत्वेन तु शिष्टानां श्येनादौ न धर्मत्वेन व्यवहार इति।

श्येनयाग से उसकी विषमता स्पष्ट है, इसलिये श्येनयाग के समान उसे भी दोषयुक्त बताना नितान्त असंगत है। विधि के विषय में निषेध की प्रवृत्ति उचित नहीं है. यह पहले कहा जा चुका है-जो सर्वथा आवश्यक है. अन्यथा विधि का विषय होने पर भी ज्योतिष्टोम आदि को यदि निषेध का विषय माना जायगा तो 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति=अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण न करे' इस निषेधवाक्य का विषय होने के कारण 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'=अतिरात्र में षोडशी ग्रहण करे' इस विधिवाक्य से बोधित षोडशीग्रहण भी अनर्थ का साधन हो जायगा। अतः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विधि के विषयभूत यज्ञाङ्गहिंसा में 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इस निषेध की प्रवृत्ति के पक्ष में जो कुछ कहा जाता है वह 'कुछ नहीं' के बराबर है।

(यज्ञीय हिंसा में प्रभाकर-मत)

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार फल में पुरुष की प्रवृत्ति राग से ही होती है उसी प्रकार फल के साधन में भी पुरुष की प्रवृत्ति रागवश ही होती है अतः विधिवाक्य फलसाधन में भी प्रवर्तना का जनक नहीं होता। इस तथ्य के अनुसार श्येनयाग भी रागजन्य प्रवृत्ति का ही विषय होता है, अतः विधिवाक्य उस के विषय में तटस्थ रहता है. अत एव विधि से उस में अनर्थ हेतुता के अभाव का आक्षेप नहीं होता, इस कारण से श्येनयाग की अनर्थहेतुता अक्षुण्ण रहती है, किन्तु अग्निष्टोम में की जानेवाली हिंसा यज्ञ का अङ्ग होने से न फल ही है और न फल का साधन ही है। अतः उस में राग न होने के कारण स्वतःप्रवृत्ति नहीं हो सकती किन्तु विधिवाक्य से ही प्रवृत्ति हो सकती है, अत. विधिवाक्य से उस में अनर्थसाधनता के अभाव का आक्षेपक बोध आवश्यक होने से सामान्य निषेधवाक्य से उसमें अनर्थसाधनता का बोध बाधित हो जाता है. इसलिये प्रधानहिंसा ही अनर्थ का साधन हो सकती है, यज्ञ की अङ्गभूत हिंसा अनर्थ का साधन नहीं हो सकती। अतः हिंसा से मिश्रित होने के कारण अग्निष्टोम को दोषयुक्त कहना पूर्णतया अनुचित है।

तत्र भाट्टमतेऽभिचारः शत्रुवधानुकूलव्यापारः पापरूप एव, इति कथं श्येनस्य नानर्थहेतुत्वम्! इति विधिविषयेऽपि निषेधावकाश एवाऽऽयातः, अनर्थप्रयोजकत्वस्यैव लाघवेन शिष्टप्रयोगानुरोधेन च निषेधविध्यर्थत्वे तु सुतरां तस्मादिष्टसाधनत्वमात्रमेव विध्यर्थः। फले उत्कटेच्छाविरहविशिष्टदुःखजनकत्वज्ञानमेव च प्रवृत्तिप्रतिबन्धकम्, इति श्येन इव क्रत्वङ्गहिंसायामपि सामान्यनिषेधवाक्यात् प्रत्यवायजनकत्वबोधेऽपि प्रबलदोषमहिम्ना फले उत्कटेच्छाया अविघातात् प्रवृत्तिः, इति न तत्र क्रत्वङ्गत्वा-ऽनर्थहेतुत्वयोर्विरोधः, इति प्रत्यवायजनकेऽपि प्रवर्तकस्यैतादृशवाक्यस्याऽर्थशास्त्रत्वमेव, न धर्मशास्त्रत्वम्, इति प्रतिपत्तव्यम्।

(भट्ट-प्रभाकर-मत में ऐक्य और अन्तर)

वास्तव दृष्टि से विचार करने पर भट्ट और प्रभाकर दोनों का मत समान ही प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रभाकर के मत में 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् 'चोदना=विधिवाक्य से बोध्य अर्थ धर्म है'-इस लक्षण में अर्थपद श्येन का व्यावर्तक है, अतः उन के मत से श्येन अधर्म है और भट्टमत में श्येन का फल अभिचार ही अनर्थ का हेतु होने से अधर्म है। श्येन तो शास्त्रविहित इष्टसाधन होने के कारण धर्म ही है। उक्त धर्म लक्षण में 'अर्थपद' भट्ट मत के अनुसार कलञ्जभक्षण आदि निषिद्ध कर्मों का ही व्यावर्तक है न कि विहित श्येनयाग का, अतः उक्तलक्षणानुसार भी श्येन धर्म ही है। धर्म होने पर भी शिष्ट पुरुष जो उसे धर्म नहीं कहते उस का कारण उस की अधर्मरूपता नहीं है किन्तु अनर्थ के साधनभूत अभिचार का जनक होने से अधर्मप्रयोजकता है अर्थात् श्येन स्वयं अधर्म न होने पर भी अधर्म का जनक होने से शिष्टपुरुषों की दृष्टि में वह धर्मपद से व्यवहार्य नहीं है।

[विधिविषय में भी निषेध सावकाश-भाट्टमतखंडन]

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि अभिचार भी शत्रुवधानुकूलव्यापाररूप होने से पाप ही है अतः उस का जनक श्येनयाग भी अनर्थ का हेतु क्यों नहीं होगा? और जब अनर्थ का हेतु होगा तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधि का विषय होने पर भी उस में 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस निषेध को प्रवृत्त होने का अवसर भाट्टमत में भी मिल ही जायगा। और यदि लाघव की दृष्टि से तथा शिष्टव्यवहार के अनुरोध से अनर्थहेतुत्व के बदले अनर्थप्रयोजकत्व को ही निषेधविधि का अर्थ माना जायगा, तब तो शत्रुवध से होने वाले पापरूप अनर्थ का प्रयोजक होने से श्येनयाग और भी सरलता से निषेधविधि का विषय बन जायगा। इस स्थिति में यह उचित है कि बलवान इष्ट की साधनता को विधि का अर्थ न मानकर सामान्यरूप से इष्टसाधनतामात्र को ही विधि का अर्थ माना जाय। ऐसा मानने पर यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि- 'यदि विधि का अर्थ सामान्यतः इष्टसाधनतामात्र होगा और विधिविषय में भी निषेध की प्रवृत्ति होगी तो श्येनयाग में विधिवाक्य से सामान्य इष्टसाधनता का बोध होने पर भी उस में पुरुष की प्रवृत्ति न हो सकेगी क्योंकि निषेधविधि से उस में होने वाला अनर्थसाधनत्व का ज्ञान प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक हो जायगा।" तथापि इस प्रश्न से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि इस का अत्यन्त उपयुक्त उत्तर यह है कि अनर्थसाधनत्व का ज्ञान तभी प्रतिबन्धक होता है जब जिस का प्रतिबन्ध

प्रभाकरमतेऽपि श्येनस्य विधिना फलसाधनत्वज्ञापनं विना प्रवृत्त्यविषयत्वात् कथं रागजन्यप्रवृत्त्यविषयत्वम् ? । प्रधानहिंसात्वेन चाऽधर्मजनकत्वेऽन्यहिंसाया अधर्मजनकत्वं न स्यात् । रागप्राप्तहिंसात्वेन तथात्वेऽपि रागप्राप्तत्वं यदि विध्यजन्येच्छाविषयत्वम्, तदा श्येनाऽसंग्रहः, यदि चाङ्गविध्यजन्येच्छाविषयत्वम्, तदा श्येनाऽङ्गाऽसंग्रहः, गौरवं च, इति न किञ्चिदेतत् । एतेन भाट्टदर्शनमवलम्ब्याऽभिहितम् 'अशुद्धमिति चेत् ? न, शब्दात्' इति बादरायणसूत्रमप्यपास्तम् ।

होता है उस में फल की उत्कट इच्छा न हो । अतः श्येनयाग में निषेधवाक्य से अनर्थसाधनत्व का ज्ञान होने पर भी उस में पुरुष की प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो श्येनयाग को करना चाहता है उसे श्येनयाग से होनेवाले शत्रुवधरूप फल की उत्कट इच्छा रहती है । इसी प्रकार अग्निष्टोम आदि यज्ञ के अङ्गभूत हिंसा में हिंसासामान्य के निषेधकवचन से अनर्थजनकत्व का ज्ञान होने पर भी 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विधि से अग्निष्टोम के अङ्गभूत हिंसा में होनेवाली प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त हिंसाद्वारा सम्पन्न होने वाले अग्निष्टोम यज्ञ को, जो पुरुष करना चाहता है उसे उस यज्ञ से होने वाले स्वर्गरूप फल की उत्कट इच्छा रहती है जो सुख की प्रबल आसक्तिरूप दोष के कारण अपरिहार्य होती है । इस स्थिति में यह ज्ञातव्य है कि उक्त रीति से यज्ञाङ्गत्व और अनर्थहेतुत्व में कोई विरोध न होने से पापजनक कर्म में भी प्रवर्तक होने के कारण 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' जैसे वाक्य धर्मशास्त्र के रूप में मान्य न होकर अर्थशास्त्र के रूप में ही मान्य हो सकते हैं ।

[श्येनयाग के विषय में प्राभाकर-मत का निरसन]

प्रभाकर मत में 'श्येनयागको रागजन्यप्रवृत्ति का विषय बताकर उस के विषय में विधिवाक्य को उदासीन कहा गया है ।' किन्तु यह स्पष्ट है कि जबतक विधिवाक्य से उस में फलसाधनता का ज्ञान नहीं होता तबतक उस में प्रवृत्ति नहीं होती अतः उसे रागजन्य प्रवृत्ति का विषय और उस के सम्बन्ध में विधिवाक्य को उदासीन कहना कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रभाकर मत की यह बात भी कि-"प्रधानहिंसा ही पाप की जननी होती है, यज्ञ की अङ्गभूत अप्रधानहिंसा पापजननी नहीं होती"-ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि प्रधानहिंसा को ही पापजनक मानने पर तो किसी प्रधानहिंसा के अङ्गरूप में जो अप्रधान लौकिक हिंसा होती है वह पाप का जनक न हो सकेगी । और यदि रागप्राप्त-हिंसा को पापजनक मान कर प्रधान अप्रधान सभी प्रकार की यज्ञबाह्य हिंसा को पापजनक कहा जायगा, तो यह भी ठीक न हो सकेगा, क्योंकि रागप्राप्त का अर्थ (i) 'विधि से अजन्य इच्छा का विषय' माना जायगा तो श्येनयाग राग प्राप्त के अन्तर्गत न आने से पाप का जनक न हो सकेगा । और(ii)यदि 'अङ्ग विधि से अजन्य इच्छा का विषय'-यह अर्थ किया जायगा, तो श्येनयाग के अङ्गभूतकर्मों का संग्रह न होगा । और (iii)इच्छा में विधि से अजन्यत्व अथवा अङ्गविधि से अजन्यत्व का निवेश कर विशिष्ट इच्छा के विषयभूतहिंसा को पाप का जनक माना जायगा तो गौरव होगा । अतः लाघव की दृष्टि से हिंसात्वरूप से हिंसामात्र को पापजनक मानना ही उचित है । इसलिये यज्ञ के अङ्गभूत हिंसा को पाप का अजनक बताने का प्रभाकर का प्रयास भी कोरा प्रयास ही हैं ।

नैयायिकास्तु–'इष्टसाधनत्वम्, कृतिसाध्यत्वम्, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं च, इति त्रयमेव विध्यर्थः । तत्र क्रत्वर्थहिंसायां साक्षाद् निषेधाऽभावात् प्रायश्चित्तानुपदेशाच्चेष्ट-साधनत्व-कृतिसाध्यत्ववद् बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमपि विधिना बोध्यते, इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम् । श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव निषेधात्, प्रायश्चित्तोपदेशाच्चानर्थहेतुत्वाव-गमात् तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यते, इति संगतं श्येना-ऽग्नीषोमयोर्वैलक्षण्यम्' इत्याहुः ।

तदप्यसत्, क्रत्वङ्गहिंसायामपि सामान्यनिषेधानुरोधेनाऽनर्थहेतुत्वावश्यकत्वात्, तत्प्रायश्चित्तबोधकवेदस्याऽपि कल्पनात् । सामान्यनिषेध-विधिसंकोचे शक्यार्थत्यागेन वेदे

उपर्युक्त कारण से बादरायण का वह सूत्र भी निरस्त हो जाता है जिस में भाट्टमत का अवल-म्बन कर यज्ञाङ्ग हिंसा को शास्त्रवचन के बल से निष्पाप बताने की चेष्टा की गयी है।

[यज्ञीय हिंसा के बचाव में न्यायमत]

नैयायिक लोग अन्य प्रकार से श्येनयाग और अग्निष्टोम में वैषम्य बता कर श्येन में पापजनकत्व और अग्निष्टोम में पापजनकत्व के अभाव का उपपादन करते हैं। उन का कहना है कि–विधिप्रत्यय के तीन अर्थ होते हैं–इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व, और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व अर्थात् इष्ट की अपेक्षा बलवान अनिष्ट का अजनकत्व। विधिवाक्य जिस कर्म का विधान करता है उस में इन तीनों अर्थों का बोधन करता है । जो हिंसा क्रतु के अङ्गरूप में विहित होती है, उस हिंसा में भी उस के विधिवाक्य से इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व के साथ बलवदनिष्टाऽजनकत्व का भी बोध होता है, क्योंकि वह भी साक्षात् निषिद्ध न होने सेत था उस के लिये किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान न होने से अनर्थ का जनक नहीं मानी जा सकती ।

इस प्रकार विधिवाक्य से क्रत्वङ्ग हिंसा में बलवदनिष्टाऽजनकत्व का बोध होने से वह अनर्थ का साधन नहीं होती, किन्तु श्येन का अनर्थसाधनत्व ध्रुव है क्योंकि अभिचाररूप होने से वह साक्षात् निषिद्ध है. तथा उस के लिये प्रायश्चित्त का विधान है । अतः श्येनयाग के विधिवाक्य से उस में इष्ट-साधनत्व और कृतिसाध्यत्व इन दो ही बातों का बोध होता है, बलवदनिष्टाऽजनकत्व का बोध नहीं होता। अतः विधिवाक्य से बलवान अनिष्ट के अजनकरूप से बोधित न होने के कारण उस का अनर्थ-साधनत्व निर्विवादसिद्ध है।

(न्यायमत खण्डन)

इस कथन को व्याख्याकार श्रीमद् यशोविजयजी ने असंगत बताया है। उन का कहना है कि,–यज्ञ की अङ्गभूत हिंसा भी 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इस हिंसासामान्य के निषेधविधि का विषय होने से अनर्थ का साधन है, और इसी कारण उस के लिये भी प्रायश्चित्तबोधकवेद की कल्पना आवश्यक है। यज्ञ के अङ्गभूत हिंसा की विधि के अनुरोध से सामान्यनिषेध में संकोच करना उचित नहीं है, क्योंकि इस के लिये सामान्यनिषेधविधि का यह अर्थ करना होगा कि यज्ञीय पशु से

लक्षणापक्षाश्रयणस्यातिजघन्यत्वात्, अन्यथा 'रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत' इत्यत्रापि नञो भेदवत्परत्वेन गुणविधेः अधिकारविधेर्वा प्रसङ्गात्, 'अमावास्यायां पितृभ्यो दद्यात्' इत्यादिविधिबोधितश्राद्धजन्यतावच्छेदकपुण्यत्वाऽवान्तरजातिव्यापकजात्यवच्छिन्नं प्रति रात्रीतरश्राद्धकरणस्य कारणत्वेन रात्रिकृतश्राद्धात् फलनुत्पादासंभवात्। अथ 'तत्रापि विशेषनिषेधे सामान्यविधेः तदितरपरत्वव्युत्पत्त्याः प्रस [ह्य]ज्यनञैवोपपत्तौ नञो भेदवत्परत्वं न स्वीक्रियत' इति चेत्? तर्हि सामान्यविधेरसंकोचानुरोधेन निषेधविधौ विशेषणाभावमात्रविषयत्वं स्वीक्रियताम्, विकल्प एव वा।

भिन्न प्राणियों की हिंसा न करे और इस अर्थ की प्राप्ति के लिये सामान्यनिषेध विधि के अन्तर्गत आये 'भूत' पद के शब्दार्थ का त्याग कर 'यज्ञीयपशुभिन्नभूत' में उस की लक्षणा करनी होगी और लक्षणा एक जघन्यवृत्ति है, अतः वेद जैसे महनीय माने हुए वाङ्मय में उस वृत्ति का अवलम्बन करना अनुचित है।

(गुणविधि-अधिकारविधि)

यह भी ज्ञातव्य है कि निषेध विधि में लक्षणा का अवलम्बन करने पर रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत-रात्रि में श्राद्ध न करे' इस निषेधविधि में भी नञ् पद की भिन्न में लक्षणा मान्य हो सकेगी और तब उस का अर्थ होगा'-"रात्रि से भिन्न समय में श्राद्ध करे' और उस स्थिति में यह निषेधविधि न रहकर गुणविधि अथवा अधिकारविधि हो जायगी। आशय यह है कि जिस विधि से अङ्ग और प्रधान के सम्बन्ध का बोध होता है उसे गुणविधि कहा जाता है जैसे 'दध्ना जुहोति-दही से हवन करे' इस विधि से हवन रूप प्रधान कर्म के साथ उस के अङ्गभूत साधन दधि के सम्बन्ध का बोध होने से यह विधि गुणविधि होती है, उसी प्रकार 'रात्रौ श्राद्ध न कुर्वीत' यह विधि भी श्राद्धरूप प्रधान कर्म के साथ रात्रि भिन्नकालरूप अङ्ग के सम्बन्ध का बोधक होने से गुणविधि हो जायगी। अधिकारविधित्व की प्रसक्ति इसलिये होगी कि इस का पर्यवसान फलस्वामित्व के बोधन में हो जाता है, जैसे-जब यह विधि रात्रिभिन्न समय में श्राद्ध के अनुष्ठान को विहित करेगी तो 'अमावास्यायां पितृभ्यो दद्यात्=अमावस्या तिथि में पितरों का श्राद्ध करे'' इस श्राद्ध के विधायक वाक्य से १ जिस जाति के पुण्य की जनकता श्राद्ध में विवक्षित है उस जाति के पुण्य के प्रति रात्रिभिन्न काल में किया जाने वाला श्राद्ध कारण है यह बात 'रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत' इस विधि से बांधित होगी, और ऐसा होने पर फलत यह विधि-श्राद्धानुष्ठान के पुण्यार्थी में रात्रिभिन्नकाल में करणीय श्राद्ध के फलस्वामित्व का बोध कराने में पर्यवसित होगी।

अतः फलस्वामित्व के बोधन में पर्यवसित होने से इस में अधिकारविधित्व की प्रसक्ति अपरिहार्य है. क्योंकि फलस्वामित्व की बोधक विधि ही अधिकारविधि होती है। इस में गुणविधित्व और अधिकारविधित्व की प्रसक्ति इसलिये भी सम्भव है कि इस प्रसक्ति का कोई बाधक नहीं है,

---

१ मूल व्याख्या में 'पुण्यत्वावान्तरजातिव्यापकजात्यवच्छिन्नं प्रति' इस अंश में 'जातिव्यापक' शब्द अधिक लगता है।

यैस्तु तत्र पर्युदासविषयप्राप्ते श्राद्धे रात्रिभिन्नत्वरूपगुणविधानमेव स्वीक्रियते, न तु रात्रिभिन्नाऽमावास्यात्वेन निमित्तत्वम् , विशेषण विशेष्यभावविनिगमनाविरहेणातिगौरवात्, तत्रापि सामान्यनिषेधविधानक्रत्वङ्गहिंसात्वेन निमित्तत्वं परित्यज्य क्रत्वङ्गहिंसायां श्येन इव बलवदनिष्टाननुबन्धित्वान्वयपरित्यागमात्रे किं न मनो दीयते, प्रवृत्तेस्तद्वदेवोपपत्तेः ? ।

क्योंकि गुणविधि या अधिकारविधि होने पर भी इस से रात्रिश्राद्ध में फलानुत्पादकता का बोध होने में कोई बाधा नहीं होगी ।

[सामान्यविधि यथारूप में अक्षुण्ण:]

यदि यह कहा जाय कि-' विशेष का निषेध होने पर सामान्य विधि विशेषेतरपरक हो जाती है मीमांसाशास्त्र की यह व्यवस्था है, और इस को उपपत्ति नञ् पद से ही होती है अत: विशेषनिषेध विधि में नञ् पद का तात्पर्य भिन्न अर्थ में मानना आवश्यक होता है। इसलिये नञ् पद को भिन्नार्थक मानने पर 'रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत' इस निषेधविधि में उक्त रीति से गुणविधित्व अथवा अधिकारविधित्व का आपादन उचित नहीं है. क्योंकि नञ् पद को भिन्नार्थक मानने का जब एक प्रयोजन विद्यमान है तब उस का प्रयोजनान्तर से सम्बन्ध जोडना अनुचित है।" तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त व्यवस्था में सामान्यविधि में संकोच करना पडता है । अत: ऐसी व्यवस्था करना उचित है जिस में सामान्यविधि अपने यथाभूत रूप में अक्षुण्ण रहे। एतदर्थ उचित यह होगा कि नञ् पद को भिन्नार्थक न मान कर अभावार्थक माना जाय और निषेधविधि का विशेषणाभाव में ही तात्पर्य माना जाय। जैसे, 'रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत' इस निषेध में सप्तमी विभक्तिसहित रात्रि शब्द का अर्थ है रात्रिनिष्ठत्वरूप विशेषण, अभावार्थक नञ् शब्द से श्राद्ध में रात्रिनिष्ठत्व के अभाव का बोध होगा, अत: इस निषेध से उसी श्राद्ध की कर्तव्यता प्राप्त होगी जो रात्रिनिष्ठ न हो । अथवा रात्रि श्राद्ध और रात्रिश्राद्धाभाव में विकल्प होगा. जिस का फल यह होगा कि कोई मनुष्य कभी रात्रिश्राद्ध और कभी रात्रीश्राद्धत्याग दोनों न कर सकेगा किन्तु दोनों में एक विकल्प ही स्वीकार करना होगा, वह नियमितरूप से रात्रिश्राद्ध ही करे या नियमित रूप से रात्रिश्राद्ध का त्याग ही करे। इस व्यवस्था में नञ् पद को भिन्न अर्थ में लाक्षणिक मानने की आवश्यकता नहीं होती और सामान्यविधि अपने यथाभूत रूप में सुरक्षित रह जाती है। इस व्यवस्था के अनुसार 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' यह सामान्यनिषेध भी अपने सामान्य अर्थ में सुरक्षित रहेगा. लक्षणा द्वारा यज्ञीयपशु से भिन्न भूतों की ही हिंसा के निषध में इस का संकोच न होगा, अत: इस सामान्य निषध का विषय हो जाने से यज्ञीयहिंसा का भी अनर्थ साधनत्व निर्विवाद है।

[सामान्यविधि के संकोच में युक्त्यन्तर-तन्खण्डन]

कुछ विद्वान ऐसे हैं जो 'रात्रौ श्राद्ध न कुर्वीत' इस निषेध विधि में नञ् को पर्युदास बोधक मानकर इसे रात्रिभिन्नत्वरूप गुण का ही विधायक मानते हैं। वे श्राद्धविधायक वाक्य में अमावास्या का रात्रिभिन्नत्वरूप विशेषण से संकोच कर रात्रिभिन्नत्व विशिष्ट अमावास्यात्व को श्राद्ध का निमित्त नहीं मानते, क्योंकि रात्रिभिन्नत्व और अमावास्यात्व के परस्पर विशेष्यविशेषणभाव में विनिगमना

एतेन 'तेन रुपेण निमित्तताऽर्थिकी, इति न शक्यार्थत्यागः' इत्यपास्तम् , अर्थतः क्रत्वङ्गहिंसायां बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्यैवाऽसिद्धेः, श्येन इव तत्र सामान्यनिषेधबाधादेव तदनन्वयात् 'श्येने तदनन्वयप्रयोजकं तात्पर्यम् , क्रत्वङ्गहिंसायां तु न तत्' इति कल्पना-गौरवे हिंसारसिकत्वं विनाऽन्यस्य बीजस्याऽभावात् ।

अथाऽग्नीपोमादेः स्वर्गजनकत्वं श्रुतं तदङ्गहिंसाया बलवदनिष्टानुबन्धित्वं विरुन्ध्या-दिति चेत् ? श्येनस्याभिचारजनकत्वमपि किं न तथा ? । 'श्येनजन्याऽदृष्टस्य शत्रुवध-नरकोभयजनकत्वात् न विरोध इति चेत् ? तर्हि क्रत्वङ्गहिंसाजन्याऽदृष्टस्यापीष्टानिष्टोभयजन-कत्वमङ्गीक्रियताम् । 'एवं सति पुण्यत्व-पापत्वयोः साङ्कर्यमि'ति चेत् ? तदिदं तवैव संकटम् । अस्माकं तु पापानुबन्धिपुण्यविपाकनिमित्ततया श्येनाऽग्नीपोमादीनामिष्टप्रयोजकत्वमात्राभ्यु-

---

न होने से रात्रिभिन्नत्व विशिष्ट अमावास्यात्व और अमावास्यात्वविशिष्टरात्रिभिन्नत्व इन दो रूपों से निमित्तता के स्वीकार्य होने स गौरव की आपत्ति होती है। ऐसे लोगों के प्रति व्याख्याकार का कहना है कि उन्हें इस चिन्तन में भी मनोयोग देना चाहिये कि 'अग्नीषोमीयं पशुमालमेत' इस विशेषविधि के अनुरोधसे 'न हिंस्यात्, सर्वाभूतानि' इस सामान्य निषेध में संकोच मान कर क्रत्वङ्ग-भिन्नहिंसात्व रूप से हिंसा को निषेध्य मानने पर क्रत्वङ्गभिन्नत्व और हिंसात्व के परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव में विनिगमना न होने से क्रत्वङ्गभिन्नत्वविशिष्टहिंसात्व और हिंसात्वविशिष्टक्रत्व-ङ्गभिन्नत्व इन दो रूपों से हिंसा को निषेध्य मानने में गौरव होगा। अतः सामान्यनिषेध में संकोच मानना ठीक नहीं है, अपितु यह मानना ठीक होगा कि सामान्यनिषेध से हिंसात्वरूप से हिंसामात्र में अनर्थसाधनत्व का बोध होता है और क्रत्वङ्ग हिंसा में उस के विधिवाक्य से केवल इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व का ही बोध होता है, बलवदनिष्टाऽजनकत्व का बोध नहीं होता जैसा कि श्येनयाग के विधि के सम्बन्ध में माना जाता है। क्रत्वङ्गहिंसा में बलवदनिष्टाऽजनकत्व का बोध न होने पर भी केवल इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व के ही बोध से प्रवृत्ति उसी प्रकार हो सकेगी जैसे श्येनयाग में होती है।

इस प्रसङ्ग में यह कहना कि-"रात्रिश्राद्धनिषेध के अनुरोध से श्राद्धविधायकवाक्य में संकोच के लिये अमावास्या पद के शक्यार्थ का त्याग करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि रात्रिभिन्न अमावा-स्यात्वरूप से श्राद्ध की निमित्तता शब्दतः बोध्य न हो कर अर्थतः बोध्य होती है। इसी प्रकार सामान्य-निषेध में भी क्रत्वङ्गहिंसा की विधि के अनुरोध से संकोच करने के लिये वहाँ भी शक्यार्थत्याग की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वहां भी क्रत्वङ्गभिन्नहिंसात्वरूप से निषेध्यता का बोध शब्दतः न मान कर अर्थतः माना जा सकता है" यह कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि श्येनयाग के समान क्रत्वङ्ग-हिंसा में भी सामान्यनिषेध के कारण बलवदनिष्टाऽजनकत्व का बोध अर्थतः असिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि 'श्येनयाग में बलवदनिष्टाजनकत्व का अन्वय न होने में शास्त्र का तात्पर्य है किन्तु क्रत्वङ्ग हिंसा में उस का अन्वय न होने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है' तो इस कल्पना-गौरव का आधार कल्पक के हिंसाप्रेम को छोड कर दूसरा कुछ नहीं हो सकता।

पगमे न किञ्चिद् बाधकम् । –'यो यद्गतफलार्थितया क्रियते, स तद्गतकिञ्चिदतिशयजनकः' इति नियमात् शत्रुवधार्थितया क्रियमाणं श्येनजन्यादृष्टं पापरूपं शत्रावेव स्वीक्रियत'–इति चेत् ? कथं तर्हि श्येनकर्तुर्नरकाऽवाप्तिः, श्येनध्वंसस्य श्येनव्यापारतायामन्यत्राऽप्यदृष्टोच्छेद-प्रसंगात्, शत्रुनिष्ठपापस्य च भोगेन नाशात् । न चायं नियमोऽपि, कर्मणः समानाधिकरण-

---

[श्येनयाग-अग्निष्टोम फल के प्रति समान]

प्रस्तुत विचार के प्रसङ्ग में यदि यह कहा जाय कि–'अग्निष्टोम आदि यज्ञों में वेदात्मक प्रमाण से स्वर्गजनकत्व सिद्ध है अतः उस के विरोध के कारण उसके अङ्गभूत हिंसा में बलवदनिष्टजनकत्व नहीं माना जा सकता'–तो यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर वेदसिद्ध अभिचारजनकत्व के कारण श्येनयाग में भी बलवदनिष्टजनकत्व का त्याग करना होगा। फलतः वह भी अनर्थ का साधन न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि–'श्येनजन्य अदृष्ट को शत्रुवध और नरक दोनों का जनक मानने में कोई विरोध नहीं हैं'–तो क्रत्वङ्गहिंसा से होनेवाले अदृष्ट को भी इष्ट और अनिष्ट दोनों का जनक मानने में क्या बाधा हो सकती हैं ? यदि यह कहें कि–'एक अदृष्ट को स्वर्ग और नरक का जनक मानने में पुण्यत्व और पापत्व में साङ्कर्य होगा तो यह कथन नैयायिक को ही संकट का कारण हो सकता है, आर्हतों को नहीं, क्योंकि आर्हत मत में ऐसे कर्मों से पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध माना जाता हैं अतः श्येन और अग्निष्टोम दोनों को समानरूप से इष्टप्रयोजकमात्र मान कर दोनों को अनर्थ का भी प्रयोजक मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[श्येन से शत्रु में ही अदृष्टजनन का खण्डन]

कुछ लोगों का इस विषयमें यह कहना हैं कि–"शत्रुवध के लिये विहित श्येनयाग से पापरूप अदृष्ट की उत्पत्ति शत्रु में ही होती हैं, श्येनकर्ता में नहीं होती, क्योंकि यह नियम हैं कि–जो कर्म जिस आश्रय में किसी फल को उत्पन्न करने के अभिप्राय से विहित होता है वह कर्म उस में किसी अतिशय-अदृष्ट को उत्पन्न करता है–" किन्तु यह कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि ऐसा मानने पर श्येनकर्ता को नरक की प्राप्ति न हो सकेगी, क्योंकि श्येनकर्ता में आशुविनाशी श्येनयाग का कोई व्यापार न रहेगा। यदि यह कहा जाय कि–'श्येनयागकर्ता में होने वाला श्येनध्वंस ही नरक के जनन में श्येन का द्वार है, अतः यह आपत्ति नहीं हो सकती–' तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि एकत्र कर्मध्वंस को कर्म व्यापार मानने पर अन्यत्र भी कर्मध्वंस को ही कर्म का व्यापार मान लिये जाने की सम्भावना से कर्मव्यापार के रूप में अदृष्ट की सिद्धि ही असम्भव हो जायगी।

यदि यह कहा जाय कि–"शत्रुनिष्ठ पाप ही श्येन का द्वार है और वह स्वजनकश्येनकर्तृत्व सम्बन्ध से नरक का कारण है अतः इससे श्येनकर्ता को नरक की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती"–तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि शत्रुगत पाप का शत्रुगत भोग से नाश हो सकता हैं, अतः श्येनकर्त्ता को नरक की प्राप्ति होने तक उस का अस्तित्व सन्दिग्ध होने से उसे द्वार मानना सम्भव नहीं हो सकता। सच बात तो यह है कि उक्त नियम भी अप्रामाणिक हैं क्योंकि अदृष्ट और कर्म में सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभाव होता है अतः कर्म से व्यधिकरण अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। और यदि कुछ

स्यैवाऽदृष्टस्य जनकत्वात्, तत्तददृष्टाऽन्यादृष्टत्वेन समानाधिकरणकर्मजन्यत्वे गौरवात्। एतेन श्येनात् पापद्वयाभ्युपगमोऽपि परास्तः; इति न किञ्चिदेतत्।

ये तु-"श्येनेऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं न बाधितान्वयम्, न हि सा हिंसा, अदृष्टाद्वारकमरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्यैव हिंसात्वात्। गङ्गामरणार्थक्रियमाणत्रिसन्ध्य-स्तवपाठवारणाय 'अदृष्टाऽद्वारक' इति विशेषणम्, कूपकर्तुर्दैवात् कूपपतितगोहिंसावारणाय 'मरणोद्देश्यक'-इति। तथा च श्येनस्याऽपि न निषिद्धत्वम्"-इत्याहुः-

तेषां हिंस्राणामपूर्वा हिंसारसिकता, यथा श्येनकर्तुरपि वैरिमरणप्रयोजकवज्रपाताद्य-कर्तृत्वेन शिष्टत्वमनुमतम्। अनर्थप्रयोजकेऽपि निषेधविधिप्रवृत्तौ च प्रतिज्ञाबाध इति। न च

अदृष्टों की व्यधिकरण कर्म से भी उत्पत्ति समर्थन करने के लिये तत्तत् अदृष्ट से भिन्न अदृष्ट के ही प्रति कर्म को समानाधिकरण्येन कारण माना जाय तो कार्यतावच्छेदक में गौरव होने से वह कार्य-कारणभाव मान्य न हो सकेगा। इसीलिये यह भी कल्पना करना उचित नहीं हैं कि-'श्येनयाग से दो पाप उत्पन्न होते हैं, एक शत्रु में और दूसरा श्येनकर्ता में'-क्योंकि-ऐसा मानने में गौरव हैं जो अप्रा-माणिक होने से स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः श्येन में और हिंसासाध्य अग्निष्टोम आदि में अनर्थसाधनत्व का अभाव सिद्ध करने का ऐसा कोई भी प्रयास उचित नहीं हो सकता।

[अदृष्टाद्वारक मरणोद्देश्यक व्यापार 'हिंसा']

कुछ विद्वानों का कहना है कि-"श्येनयाग में भी बलवदनिष्टाऽजनकत्व का अन्वय बाधित नहीं है। श्येनविधि से इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व के साथ श्येन में बलवदनिष्टाऽजनकत्व का भी बोध होता है, अतः वह भी हिंसारूप नहीं है, क्योंकि जो व्यापार मरणोद्देश्यक होता है तथा अदृष्ट को द्वार बनाये विना ही मरण का सम्पादक होता है वही व्यापार हिंसा कहा जाता है। श्येन तो अदृष्ट द्वारा ही मरण का सम्पादक होता है, अतः उसे हिंसा नहीं कहा जा सकता। हाँ, हिंसा के लक्षण में से यदि 'अदृष्टाऽद्वारकत्व'-अदृष्ट को द्वार बनाये विना ही' इस अंश को निकाल दिया जाय तो श्येन भी अवश्य हिंसारूप हो सकेगा, किन्तु उस अंश को लक्षण से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसे लक्षण में से निकाल देने पर गंगा में मरण होने के उद्देश्य से तीनों सन्ध्या-प्रातः-मध्याह्न और सायं के समय गङ्गास्तोत्र आदि का जो पाठ किया जाता है, वह भी हिंसा हो जायगा। इसी प्रकार हिंसा के उक्तलक्षण में 'मरणोद्देश्यक' इस अंश का रहना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि उस अंश को लक्षण से पृथक् कर दिया जायगा तो कूपनिर्माण भी हिंसा हो जायगी क्योंकि कूप में गिर जानेवाली गौ के मरण का वह प्रयोजक है और उस मरण में अदृष्टरूप द्वार की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु 'मरणोद्देश्यक' इस अंश को लक्षण में रखने पर यह दोष नहीं होता, क्योंकि कूप का निर्माण इस उद्देश्य से नहीं किया जाता कि इस निर्माण से सम्पन्न होने वाले कूप में गौ आदि पशु गिर कर मरें, अतः श्येनविधि से श्येन में भी बलवदनिष्टाऽजनकत्व का बोध होने से वह भी 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इस निषेधविधि का विषय नहीं होता, फलतः क्रत्वङ्ग हिंसा के समान वह भी पापजनक नहीं होता-"

तैः पाप्मभिर्हिंसालक्षणं स्वमतेनाऽपि सुष्ठु घुष्टम्, स्वजन्याऽदृष्टाजन्यत्वस्य मरणविशेषणत्वेऽसंभवात्, कार्यमात्रस्याऽदृष्टजन्यत्वात्, सामानाधिकरण्येनाऽदृष्टजन्यत्वनिवेशे च श्येनातिव्याप्तेः। एतेन 'अदृष्टव्यापारसंबन्धेन स्वाजन्यत्वं तत्' इत्यपि निरस्तम्, प्रतियागप्रतिबद्धश्येनातिव्याप्तेश्च । न च तत्र मरणोपधायकत्वलक्षणं मरणानुकूलत्वमेव न, इति नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, खड्गघातेनाऽपि यत्र दैवाद् मरणं तत्राऽव्याप्त्यापत्तेः। न च तत्रापि पूर्णप्रायश्चित्ताऽभावाद् न हिंसेति वाच्यम्, अर्धप्रायश्चित्तस्यापि हिंसानिमित्तत्वात् ।

ऐसे विद्वानों के सम्बन्ध में व्याख्याकार का कहना है कि इन विद्वानों का हिंसाप्रेम अपूर्व है, जिस के कारण ये विद्वान शत्रु का प्राण हरण करनेवाले श्येन कर्त्ता को भी केवल इसलिये शिष्ट मानने को तैयार हैं कि वह शत्रु का वध करने के लिये उस पर वज्रप्रहार नहीं करता या उस के गले में छूरा नहीं भोंकता ।

['अदृष्टाद्वारक' विशेषणानुपपत्ति]

उनके हिंसाप्रेम का ही यह भी प्रभाव है कि वे श्येनयाग में सामान्यहिंसानिषेध वचन की अप्रवृत्ति बताते हुये यह भी भूल जाते हैं कि ऐसा मानने पर 'अनर्थ के प्रयोजक में भी निषेधविधि की प्रवृत्ति होती है' उनकी इस प्रतिज्ञा का बाध होता हैं। सच बात तो यह है कि इन पापियों ने हिंसा का जो लक्षण बताया हैं वह उनके मत से भी समीचीन नहीं हो पाता क्यों कि अदृष्टाऽद्वारकत्व विशेषण से लक्षण का यह स्वरूप निष्पन्न होता है कि 'जो व्यापार स्वजन्यअदृष्ट से अजन्य मरण का प्रयोजक हो एवं मरणोद्देश्यक हो वह व्यापार हिंसा है,' किन्तु यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त हो जाता है, क्योंकि कार्यमात्र अदृष्ट से जन्य होता है, अतः मरण भी अवश्य ही अदृष्टजन्य होगा, और वह जिस अदृष्ट से जन्य होगा वह अदृष्ट उस व्यापार से भी जन्य होगा जिस व्यापार में प्रस्तुत हिंसा लक्षण का समन्वय अभीष्ट है, क्योंकि मरणप्रयोजकव्यापार सामान्यरूप से मरणजनक अदृष्टसामान्य का जनक होता है। यदि इस दोष के वारणार्थ मरण में समानाधिकरणअदृष्टाजन्यत्व का निवेश किया जायगा तो इस दोष का परिहार तो हो जायगा क्योंकि हिंसासे होने वाला मरण मरनेवाले के अदृष्ट से होता है और वह अदृष्ट हिंसा का समानाधिकरण नहीं होता किन्तु ऐसा करने पर श्येन में हिंसालक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि श्येन से होनेवाला मरण भी श्येनकर्ता के अदृष्ट से उत्पन्न होने के कारण समानाधिकरण अदृष्ट से अजन्य होता है।

[स्व (श्येन) जनकमरणेच्छाविशेष्यत्व संबन्ध भी अनुपपन्न]

उक्त असम्भव का वारण करने के लिये अदृष्टाऽद्वारकत्व का अर्थ यदि 'अदृष्टात्मकव्यापार रूप सम्बन्ध से स्वाऽजन्य' किया जाय तो इस अर्थ से असम्भव का वारण तो हो जायगा क्योंकि हिंसाजन्य मरण के प्रति हिंसा साक्षात् कारण होती है, 'अदृष्टात्मकव्यापाररूप सम्बन्ध से कारण नहीं होती और वह मरण मरने वाले प्राणी के जिस अदृष्ट से होता है वह हिंसा का व्यापार नहीं होता, किन्तु यह अर्थ भी सदोष होने से त्याज्य है, क्योंकि यह अर्थ स्वीकार करने पर भी श्येन में हिंसालक्षण की अतिव्याप्ति का परिहार नहीं हो सकता क्योंकि श्येन भी अदृष्टात्मकव्यापार रूप सम्बन्ध से शत्रुमरण का जनक नहीं होता अपितु स्वजनकमरणप्रकारकइच्छाविशेष्यत्व सम्बन्ध से

जनक होता है। कहने का आशय यह है कि श्येन से उत्पन्न होने वाला अदृष्ट श्येनकर्ता में होता है अतः वध्य शत्रु के साथ उसका सम्बन्ध न हो सकने से वह शत्रुमरण में श्येन का व्यापार नहीं बन सकता, अपितु श्येनकर्ता जिस इच्छा से श्येनयाग करता है वह इच्छा ही शत्रु के साथ श्येन का सम्बन्ध स्थापित करती है। जैसे श्येन याग को जनक इच्छा इस प्रकार होती है कि– 'मेरे द्वारा अनुष्ठित होने वाले श्येन से शत्रु का मरण हो'। इस इच्छा के द्वारा शत्रु के साथ श्येन का स्वजनक मरण प्रकारक इच्छा विशेष्यत्व सम्बन्ध स्थापित है। जैसे,-स्व का अर्थ है श्येन, उस की जनक मरण प्रकारक इच्छा है उक्त इच्छा, उस की विशेष्यता शत्रु में है, अतः श्येनजन्य शत्रुमरण अदृष्टऽव्यापारात्मक सम्बन्ध से श्येनाऽजन्य है। अत एव मरण में अदृष्टव्यापारात्मक सम्बन्ध से स्वाजन्यत्वरूप अदृष्टाऽद्वारकत्व का निवेश करने पर भी श्येन में हिंसालक्षण की अतिव्याप्ति अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि–"श्येन को उक्त इच्छाविशेष्यत्व सम्बन्ध से शत्रुमरण का कारण मानने पर अङ्गवैकल्य से श्येनयाग के अपूर्ण रह जाने पर भी उक्त इच्छाविशेष्यत्व सम्बन्ध के अक्षुण्ण रहने के कारण शत्रुमरण की आपत्ति होगी अतः उसे अदृष्टात्मक व्यापाररूप सम्बन्ध से ही कारण मानना होगा, श्येनकर्त्ता में उत्पन्न होनेवाले अदृष्ट का शत्रु के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी स्वाश्रय संयुक्त संयोगरूप परम्परा सम्बन्ध बन सकता है। जैसे,-स्व का अर्थ है श्येनजन्य अदृष्ट, उस का आश्रय है श्येनकर्ता, उस से संयुक्त होता है मूर्तद्रव्य, और उस का संयोग होता है शत्रु के साथ। श्येनकर्त्ता आत्मा और शत्रु आत्मा दोनों के व्यापक होने से इस सम्बन्ध के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। प्राणशरीरसंयोगध्वंसरूप मरण भी स्वप्रयोज्यभोगाभाववत्त्व सम्बन्ध से शत्रु-आत्मा में रहता है, अतः इस सम्बन्ध से शत्रु आत्मा में होने वाले मरण के प्रति स्वजन्याऽदृष्टाश्रयसंयुक्तसंयोग सम्बन्ध से श्येन को कारण मानना युक्तिसंगत ही है। श्येन का यह सम्बन्ध वध्यशत्रु से भिन्न व्यक्तियों में भी रहता है, किन्तु श्येन से उन व्यक्तियों का वध नहीं होता, अतः श्येन को केवल इस एक सम्बन्ध से ही कारण मानना ठीक नहीं है किन्तु उक्त अदृष्टघटित सम्बन्ध तथा स्वजनकमरणप्रकारकइच्छा-विशेष्यत्व सम्बन्ध इन दो सम्बन्धों से कारण मानना आवश्यक है। वध्य शत्रुओं से भिन्न व्यक्तियों में श्येन का इच्छाघटित सम्बन्ध न होने से उन के मरण की तथा अङ्ग वैकल्य से श्येन की अपूर्णतादशा में अदृष्टघटितसम्बन्ध न होने से उस दशा में शत्रुमरण की आपत्ति नहीं हो सकती। तो इस प्रकार श्येनजन्य मरण में अदृष्टात्मकव्यापाररूप सम्बन्ध से श्येनजन्यत्व ही रहने के कारण श्येन में अतिव्याप्ति न हो सकने से हिंसा का उक्त लक्षण निर्दोष हो सकता है;'–तो

यह कहना भी लक्षण को निर्दोष नहीं बना सकता, क्योंकि विरोधी याग के कारण श्येनयाग से अभीप्सित शत्रुवध की अनुत्पत्तिदशा में श्येनयाग में अतिव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता क्योंकि वह श्येन भी अदृष्टरूप व्यापारात्मक सम्बन्ध से स्व से अजन्य मरण का प्रयोजक मरणोद्देश्यक व्यापार है। इस दोष का परिहार करने के लिये यदि-मरणप्रयोजकत्व के स्थान में मरणोपधायकत्व का निवेश किया जाय–तो यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ किसी प्राणी पर खड्ग-प्रहार करने पर भी प्राणी की मृत्यु उस प्रहार से न होकर बाद में दैववश हो जाती है वहाँ उस खड्गप्रहाररूप हिंसा में मरणोपधायकत्व न होने से हिंसालक्षण की अव्याप्ति होगी। -'ऐसे व्यापार के लिये पूर्ण प्रायश्चित्त का विधान न होने से ऐसे व्यापार को हिंसा ही नहीं माना जा

एतेन 'मरणजनकादृष्टाजनकत्वलक्षणं तद् व्यापारविशेषणम्' इत्यपि निरस्तम्, इतरहिंसाजनकतादृशाऽदृष्टाऽप्रसिद्धेश्च । मरणोद्देश्यकत्वमपि न मरणत्वप्रकारकेच्छाऽजन्येच्छाऽविषयत्वम्, धनादिलिप्सया हिंसायामव्याप्तेः; किन्तु मरणजनकेच्छाविषयत्वम्; तथा च क्रत्वङ्गहिंसायामतिव्याप्तिः; अत एव मरणफलकताबोधकविधिबोधितकर्तव्यताकान्यत्वरूपाऽदृष्टाऽद्वारकत्वनिवेशेऽपि न निस्तारः । न चाविहितत्वमात्रनिवेशेऽपि निर्वाहः, प्रमादकृतहिंसायामव्याप्तेः, विहितेऽपि श्येनादौ त्वदीयानामपि हिंसाव्यवहारात्, अनेन रूपेण पापजनकत्वे गौरवाच्चेति दिग् ।

सकता'-यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि अर्धप्रायश्चित्त का विधान भी उसे हिंसा मानने पर ही उचित हो सकता है। अतः प्राणिवध का असफल व्यापार भी हिंसारूप होने से उस में अव्याप्ति के भय से हिंसालक्षण में मरणोपधायकत्व का निवेश नहीं किया जा सकता ।

(मरणजनकादृष्टाजनकत्व का निवेश अप्रसिद्ध)

श्येनयाग में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये अदृष्टरूप व्यापारात्मक सम्बन्ध में मरणजनक अदृष्ट के अजनकत्व का भी निवेश करने से हिंसा का उक्त लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि श्येन से श्येनकर्त्ता में उत्पन्न होने वाले अदृष्ट को वध्यशत्रु में मरणानुकुल अदृष्ट को उत्पन्न करने द्वारा शत्रु का मारक मानने पर इस विशेषण से श्येन में अतिव्याप्ति का वारण तो हो सकता है, क्योंकि उसका अदृष्टात्मक व्यापार मरणजनक अदृष्ट का अजनक नहीं है अतः मरणजनकादृष्टाजनक-अदृष्टरूप व्यापारात्मक सम्बन्ध से श्येनजन्यत्व की अप्रसिद्धि होने से उक्त सम्बन्ध से श्येनाऽजन्यत्व की भी अप्रसिद्धि होने के कारण श्येन में उक्त लक्षण का जाना सम्भव नहीं है, किन्तु अदृष्टात्मक व्यापार में उक्त निवेश करने पर लक्षण असम्भव से ग्रस्त हो जायगा, क्योंकि हिंसा से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह भी अन्य हिंसा का जनक होने से उस हिंसा से होनेवाले मरणके जनक अदृष्ट का जनक होता है अतः मरणजनकादृष्ट का अजनक अदृष्ट ही अप्रसिद्ध हो जाता है

(मरणेच्छाजन्येच्छाऽविषयत्व भी अनुपपन्न)

मरणोद्देश्यकत्व का निवेश भी निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यदि उसे मरणेच्छा से अजन्य इच्छा का अविषयत्वरूप माना जायगा तो यद्यपि कूपनिर्माण तो मरणोद्देश्यक न हो सकेगा क्योंकि कूपनिर्माण की इच्छा मरणेच्छा से अजन्य इच्छा है और कूपनिर्माण उस का विषय है अविषय नहीं, और हिंसा मरणोद्देश्यक हो सकेगी क्योंकि उस की इच्छा मरणेच्छा से जन्य होती है, अतः हिंसा मरणेच्छा से अजन्य इच्छा को अविषय होती है,-तथापि मरणोद्देश्यकत्व का ऐसा निर्वचन करने पर धनलिप्सा से की जानेवाली हिंसा भी मरणोद्देश्यक हो जायगी, जब कि वह मरणोद्देश्यक न होकर धनलाभोद्देश्यक होती है, अतः मरणजनक इच्छाके विषय को ही मरणोद्देश्यक कहा जायगा। ऐसा कहने पर धनलिप्सा से होनेवाली हिंसा मरणोद्देश्यक न हो सकेगी क्योंकि उस की इच्छा धनलाभ की इच्छा से होती है न कि मरणेच्छा से, अतः वह इच्छा धनलाभ की जनक होती है, साक्षात् मरण की जनक नहीं होती । इसीलिये मरणजनक इच्छा का विषय न होने से वह मरणोद्देश्यक

तस्मात् 'प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इति परमर्षिप्रणीतमेव हिंसालक्षणं सम्यक्। अत्र च प्रमादयोगः-यतनाऽभावः, यतना च जीवरक्षानुकूलो व्यापारः, तत्त्वं च जीवमरणव्यापारविघटकत्वम्, युगमात्रक्षेत्रे सम्यग्नेत्रव्यापाररूपेर्यासमित्यादिना जीवमरणजनकचरणव्यापारादेरनिष्टसाधनत्वेन निवर्तनादिति बोध्यम्। न च 'मरणानुकूलव्यापारेण' इत्येवाऽस्तु, किमधिकेन? इति वाच्यम्, अप्रमत्तहिंसायामतिव्याप्तेः। न चैवमप्यनाभोगाऽविघटनेनाऽप्रमत्तहिंसाया हिंसात्वापत्तिः, शक्यविघटनत्वस्य व्यापारविशेषणत्वात्। न चैवमप्यनशनादावतिव्याप्तिः परजीवग्रहणे चात्महिंसायामव्याप्तिरिति वाच्यम्, शुभसंकल्पापूर्वकत्वस्य

नहीं कही जा सकती। कूपनिर्माण की इच्छा भी मरण जनक न होने से कूपनिर्माण भी मरणोद्देश्यक नहीं हो सकता, किन्तु मरणोद्देश्यकत्व का ऐसा लक्षण करने पर क्रतु की अङ्गभूत हिंसा मरणोद्देश्यक हो जायगी, क्योंकि अग्निष्टोम आदि क्रतु में पशुवध आवश्यक होने से क्रतुचिकीर्षु को पशुवध की इच्छा माननी होगी अतः क्रत्वङ्ग हिंसा की इच्छा मरणजनक इच्छा होगी और उस इच्छा का विषय होने से क्रत्वङ्ग हिंसा में मरणोद्देश्यकत्व अपरिहार्य हो जायगा।

(मरणफलकत्वबोधकविधिबोधितकर्तव्यताकान्यत्वरूप अदृष्टाद्वारकत्व)

अदृष्टाऽद्वारकत्व का अर्थ यदि यह किया जाय कि 'जिस व्यापार की कर्तव्यता मरणफलकत्व के अबोधक विधि से बोधित हो उससे अन्य व्यापार अदृष्टाऽद्वारक व्यापार होता है'–तो हिंसामात्र में उसकी उपपत्ति हो जायगी क्योंकि हिंसा की कर्त्तव्यता किसी विधि से बोधित नहीं होती अतः उसमें उक्त विधिविशेष से बोधितकर्त्तव्यताकान्यत्व सुघट है, किन्तु यह अर्थ करने पर भी श्येन को हिंसा से पृथक् करने की कामना पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि श्येन की कर्त्तव्यता का बोधक विधि शत्रुमरणफलकत्व का बोधक होता है, अतः मरणफलकत्व के अबोधक विधि से बोधित कर्त्तव्यताकान्यत्व उसमें भी आ जाने से उसमें उक्त हिंसालक्षण का समन्वय दुर्वार है। एव क्रत्वङ्गहिंसा की कर्तव्यता का बोधक 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह विधि भी मरणफलकत्व का बोधक है अतः उसमें मरणफलकत्व के अबोधक विधि से बोधितकर्त्तव्यताकान्यत्व आ जाने से एव उक्तरीत्या निर्वाचित मरणोद्देश्यकत्व आ जाने से वह भी सामान्य हिंसा की कोटि में आ जायगी। हिंसालक्षणघटक व्यापार में अविहितत्व का निवेश करके भी लक्षण को निर्दोष नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रमादकृत हिंसा में मरणोद्देश्यकत्व न होने से अव्याप्ति हो जायगी और उक्तलक्षणात्मक रूप से हिंसा को पापजनक मानने में गौरव भी होगा।

[जैनमताभिमत हिंसालक्षण]

नैयायिकों की ओर से प्रस्तुत किये गये हिंसालक्षण को सदोष बताकर व्याख्याकार ने आर्हत मतसम्मत हिंसालक्षण को परमर्षिप्रणीत बताते हुये उसकी समीचीनता की घोषणा की है। वह लक्षण इस प्रकार है 'प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसा-प्रमादयोग से होनेवाला प्राणहरण हिंसा है' प्रमादयोग का अर्थ है–यतना का अभाव। यतना का अर्थ है जीवरक्षानुकूल व्यापार। जीवरक्षानुकूल व्यापार उस व्यापार को कहा जाता है जिससे जीवमरणानुकूल व्यापार का विघटन हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब मनुष्य जीवमरणानुकूल व्यापार का परिहार करने का प्रयत्न नहीं

मरणव्यापारविशेषणत्वात् । न चैवं याज्ञिकानामपि क्रत्वङ्गहिंसायां शुभसंकल्पाद् न दोष इति वाच्यम् , विधिजन्यमोक्षेच्छाया एव शुभसंकल्पपदेन ग्रहणात् । अत एव राज्यादिनिदानार्थमनशनमप्यात्महिंसां वदन्ति तान्त्रिकाः । द्रव्यभावोभयहिंसालक्षणं चैतत् , कर्मबन्धजनकता तु प्रकृतिप्रदेशावाश्रित्य प्रमत्तयोगत्वेन, स्थिति रसौ चाश्रित्य क्लिष्टाध्यवसायत्वेन, इत्यन्यत्र विस्तरः । तस्माद् हिंसायामहिंसात्वं समर्थयतां परेषां वेदावलम्बनमपि महतेऽनर्थाय ।

करता और उस समय उससे कोइ मर जाता है तो उस समय मनुष्य जीव का हिंसक हो जाता है और उसे जीव हिंसा का पाप लगता है। इसीलिये जीवमरणजनक मरणव्यापार आदि अनिष्टजनक व्यापारों से बचने के लिये जैनशासन में युग याने शकट के अग्रभाग से परिमित भूमि तक के भाग को सावधानीपूर्वक देखकर चलने का आदेश दिया गया है और उसे ईर्यासमिति आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया हैं।

प्रश्न होता हैं कि-"मरणानुकूल व्यापार से होने वाला प्राणहरण हिंसा हैं-इतना हो लक्षण क्यों नहीं किया जाता ? 'जीवमरणानुकुल व्यापार का विघटन करनेवाले व्यापाररूप यतना के अभाव में होने वाला प्राणहरण हिंसा है' इतने बडे लक्षण की क्या आवश्यकता है ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रमाद न होने पर भी जो हिंसा हो जाती है उसे पापजनक हिंसा नहीं माना जाता, किन्तु मरणानुकुल व्यापार से होने वाले प्राणहरण को पापजनक हिंसा का लक्षण मानने पर उस हिंसा में भी लक्षण को अतिव्याप्ति हो जायगी । उक्त गुरु लक्षण स्वीकार करने पर यह शङ्का हो सकती है कि-"अप्रमादवशा में यतना के लिये सतर्क रहने पर भी जीव की विद्यमानता का अज्ञान जो मुख्यतया हिंस्य जीवके वर्तमान शरीर से भोक्तव्य कर्मों के उदयवश होता है, उसका विघटन न हो सकने के कारण भी जीव का मरण होता है, अतः इस अप्रमत्त हिंसा में इस लक्षण की भी अतिव्याप्ति होगी—" किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि लक्षणघटक जीवमरणानुकुल व्यापार में शक्यविघटनत्व का निवेश कर देने से इस दोष का परिहार हो सकता है, क्योंकि अनाभोग का विघटन शक्य नहीं होता। अतः अप्रमादस्थल में जीवमरणानुकुल विघटनयोग्य व्यापार के विघटक व्यापाररूप यतना का अभाव न होने से अप्रमत्तहिंसा में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

यह प्रश्न हो कि —"मोक्ष के लिये किये जाने वाले अनशन आदि तप में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। और इसका वारण करने के लिए यदि अन्यजीव के प्राणव्यपरोपण का लक्षण में निवेश किया जायगा तो आत्महिंसा में अव्याप्ति होगी," इसका उत्तर यह है कि लक्षण के शरीर में प्राणव्यपरोपण में शुभसंकल्पाऽपूर्वकत्व का निवेश कर देने से यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षार्थ किया जाने वाला अनशन आदि तप शुभसंकल्पपूर्वक होता है अत उसमें शुभसंकल्पाऽपूर्वकत्व नहीं रह सकता। ऐसा करने पर-'याज्ञिकों की यज्ञ के अङ्गभूत हिंसा भी शुभसंकल्प पूर्वक होने से हिंसा के प्रस्तुत लक्षण से संगृहीत न होगी'-यह शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि शुभ-सकल्प-शब्द से मोक्ष की विधि से जन्य इच्छा ही अभिमत है। इसीलिये दूसरे भवमें राज्य प्राप्त करने की इच्छा से जो अनशन किया जाता है उसे भी आर्हतसिद्धान्त के ज्ञाता आत्महिंसा कहते हैं। आर्हत ऋषि द्वारा प्रस्तुत यह हिंसालक्षण द्रव्यहिंसा और भावहिंसा इन दोनों प्रकार की हिंसाओं का लक्षण है, किन्तु प्रकृति

उक्तं च–"ये चक्रुः क्रूरकर्माणः शास्त्रं हिंसोपदेशकम् ।
क्व ते यास्यन्ति नरके नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः ॥३७॥
वरं वराकश्चार्वाको योऽसौ प्रकटनास्तिकः ।
वेदोक्तितापसच्छद्मच्छन्नं रक्षो न जैमिनिः ॥३८॥" [योगशास्त्र-द्वि०प्र०]इति ।

वेदाऽप्रामाण्यं पापकर्मणि प्रवर्तकत्वात् परपरिगृहीतत्वाच्च विभावनीयम्, इति किमतिहिंस्रेण सह बहुविचारणया ? ॥४८॥

तदेवं याज्ञिकाऽऽगमे दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धतामुपदर्श्य, अन्यत्राऽप्यतिदिशन्नाह–

मूलम्–अन्येषामपि बुद्ध्यैवं दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धता ।
दर्शनीया कुशास्त्राणां ततश्च स्थितमित्यदः ॥४९॥

अन्येषामपि=आजीवकादिसंबन्धिनाम्, एवम्=उपदर्शितप्रकारेण, बुद्ध्या=विचारणया कुशास्त्राणां=शास्त्राभासानाम्, दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धता दर्शनीया, उपदर्शितजातीयत्वेन सर्वेषामपि तेषां दुष्टत्वात्, तदुक्तं स्तुतिकृता–

"हिंसादिसंसक्तपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः । नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च,
ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१॥ [अ. व्य. द्वात्रिंशिका का० १०] इति ।

बन्ध और प्रदेश बन्ध को आश्रय करके कर्मबन्ध का जनक प्रमत्तयोग रूप हिंसा होती है और इसी प्रकार स्थिति बन्ध और रसबन्ध को जनक हिंसा क्लिष्टाध्यवसायात्मक होती है अर्थात् प्रमादयोग और क्लिष्टाध्यवसाय ये दोनों जैनमत में हिंसारूप है और उन दोनों से प्रकृत्यादि चतुर्विध कर्मबन्ध होता है। इस विषय का विशेष विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

यह सब कहने का निष्कर्ष यह है कि हिंसा में अहिंसात्व का समर्थन करने के लिये वेद का अवलम्बन महान अनर्थ का मूल है। जैसा कि योगशास्त्र में कहा है कि जिन क्रूरकर्मी पुरुषोंने हिंसा काउपदेश करने वाले शास्त्र की रचना की है वं प्रसिद्ध नास्तिकों से भी बडे नास्तिक हैं,वे किस नरक में जायेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। प्रकट नास्तिक बेचारा चार्वाक कहीं अच्छा है उस वदज्ञ जैमिनी से, जो तपस्वी के वेदवचनरूपी कपटवेष से ढका हुआ परोक्ष राक्षस है।

यह निर्विवाद सत्य है कि पापकर्म में प्रवर्तक और वीतराग सर्वज्ञ भगवान अर्हन् के पवित्र पथ से विमुख समाज द्वारा परिगृहीत होने से वेद अप्रमाण है । अतः ऐसे वेदवादी लोगों के साथ, जिनकी वृत्ति अत्यन्त हिंस्र है, अधिक विचार करना अनुचित है ॥४८॥

उक्त रीति से याज्ञिकों के वेदात्मक आगम में दृष्ट और इष्ट का विरोध बताकर ४९ वी कारिका में अन्यत्र भी उसका अतिदेश बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

जिस प्रकार वेद आदि में दृष्ट और इष्ट का विरोध है उसी प्रकार अन्य आजीवकादिमतानुयायी शास्त्राभासों में भी दृष्ट और इष्ट का विरोध समझना चाहिये क्योंकि वे सब शास्त्राभास भी वेद के ही सजातीय हैं, जिन में दृष्ट और इष्ट का विरोध प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित हो चुका है। जैसा कि स्तुतिकर्ता आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान को सबोधित करके कहा है कि-हे भगवान्! हम तुम्हारे

ततश्च=अन्यागमानां दृष्टेष्टविरुद्धत्वेनाऽप्रतिपक्षत्वाच्च, इति=पूर्वोक्तम्, अदः= वक्तृप्रत्यक्षं 'हिंसादिभ्योऽशुभादि' इत्यादि, स्थितम्=अप्रामाण्यशङ्काविरहितेनाऽऽगम- प्रमाणेन सिद्धम् ॥४९॥

ततः सिद्धं प्रतिनियतं कर्म, तच्च कर्तारमाक्षिपति, इति तथात्वं स्वात्मन एव, इति नियमयति-

मूलम्-क्लिष्टं हिंसाद्यनुष्ठानं न यत्तस्यान्यतो मतम् ।
ततः कर्ता स एव स्यात् सर्वस्यैव हि कर्मणः ॥५०॥

क्लिष्टं = रौद्राध्यवसायपूर्वकम्, प्राणिघाताद्याचरणम्. इदमुपलक्षणमक्लिष्टाचरणस्य, यत्=यस्माद्धेतोः, तस्य=आत्मनः, अन्यतः=स्वातिरिक्तव्यापारवतः, न मतं=नाऽभीष्टम्, देवदत्तयोगेन यज्ञदत्तानुष्ठानाभावात् । ततः=तस्माद्धेतोः, स एव=अधिकृतात्मैव हि= निश्चितं सर्वस्यैव=स्वीयहिताऽहितकर्मणः, कर्ता स्यात्, स्वव्याप्यस्य कर्मणः कारणान्तरा- प्रयोज्यत्वे सति कारणान्तरप्रयोजकत्वलक्षणस्वातन्त्र्येण हेतुत्वात् । अत्र निश्चयतोऽपृथग्भावेन

आगम से भिन्न सभी आगमों को हिंसा आदि से दूषित मार्ग का उपदेश करने, सर्वज्ञ द्वारा प्रवर्तित न होने, तथा क्रूर एवं दुर्बुद्धि मनुष्यों से परिगृहीत होने के कारण अप्रमाण घोषित करते हैं।

उक्त रीति से अन्य आगमों में दृष्ट और इष्ट का विरोध होने से वे जैनागम के विरोध में नहीं खडे हो सकते। इसलिये हिंसा आदि से अशुभ-पाप होता है और अहिंसा आदि से शुभ-पुण्य होता है, यह पूर्वोक्त विषय जैनागमरूप प्रमाण से निष्प्रतिबन्ध सिद्ध होता है क्योंकि जैनागम में अप्रामाण्य की शङ्का होने की कोई सम्भावना नहीं है॥४६॥

[आत्मा ही सभी कर्म का कर्त्ता है]

प्रशस्त कर्म से पुण्य और अप्रशस्त कर्म से पाप का जन्म होता है तथा अमुक कर्म प्रशस्त और अमुक कर्म अप्रशस्त होता है, यह तथ्य जैनागम से सिद्ध है। साथ ही यह तथ्य भी उसी से सिद्ध है कि कर्म जड होता है. उसे चेतन कर्ता की अपेक्षा होती है. और जो कर्ता उसे अपेक्षित होता है वह जीव से अतिरिक्त नहीं होता है, ५० वी कारिका में इसी तथ्य का वर्णन है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है,-

क्लिष्ट कर्म का अर्थ है रौद्र अध्यवसाय से होने वाला कर्म-जैसे प्राणीवध आदि। यहाँ क्लिष्ट पद अक्लिष्ट आचरण का भी सूचक है, क्लिष्ट और अक्लिष्ट सभी आचरण जीव द्वारा ही सम्पादित होते हैं जीव से भिन्न उनका ऐसा कोई कर्ता मान्य नहीं है जिसके व्यापार से उन आचरणों का सम्पादन होता हो, क्योंकि देवदत्त के व्यापार से यज्ञदत्त के कर्मों का अनुष्ठान नहीं होता। इसलिये तत्तत् कर्मों के फल के लिये अधिकृत आत्मा ही निश्चितरूप से अपने सभी हिताहित कर्मों का कर्ता होती है। जो कर्म जिस जीव का व्याप्य होता हैं अर्थात् जिस कर्म से उसके उत्पादनार्थ जो कारण

स्वव्याप्यस्य रागद्वेषाद्यध्यवसायलक्षणस्य भावकर्मणः परिणामित्वलक्षणस्वातन्त्र्येण कर्तृत्वम्, व्यवहारेण तु संयोगविशेषेण स्वव्याप्यद्रव्यकर्मणि योगव्यापारस्वातन्त्र्येण कर्तृत्वमिति विवेकः ॥५०॥

ननु यद्यात्मैव कर्ता, तदा हितमेवाऽयं कुर्यात्, नाहितम्, इत्यत्राह-

मूलम्-अनादिकर्मयुक्तत्वात् तन्मोहात्संप्रवर्तते ।
अहितेऽप्यात्मनः प्रायो व्याधिपीडितचित्तवत् ॥५१॥

स आत्मा, आत्मनः=स्वस्य, अहितेऽपि=हिंसाद्यनुष्ठानेऽपि, अनादिकर्मयुक्तत्वाद् हेतोः, तन्मोहात्=कर्मजनितमौढ्यात्, संप्रवर्तते प्रायो=बाहुल्येन, किंवत्? इत्याह-व्याधिपीडितचित्तवत्=रोगाकुलहृदयवत्। यथा व्याधितोऽपथ्यं जानन् अजानन् वा बहुकालस्थितिकव्याधिमहिम्नाऽपथ्य एव प्रवर्तते, तथा संसार्यपि जानन् अजानन् वाऽहित एव प्रायः कर्मदोषात् प्रवर्तत इति भावः। अत्राऽहितप्रवृत्तौ क्लिष्टं कर्म हेतुः तत्र चाहित-

---

अनुमित होता है. वह उस कर्म के अन्य कारणों से अप्रयोज्य तथा अन्य सभी कारणों का प्रयोजक होने से उस कर्म को उत्पन्न करने में स्वतन्त्र होने के कारण उसका कर्ता होता है। यह ज्ञातव्य है कि कर्म दो प्रकार के होते हैं भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग द्वेष आदि अध्यवसायात्मक कर्म को भावकर्म कहा जाता है। वह निश्चयनय की दृष्टि से जीव से पृथक् न होते हुये जीवका व्याप्य होता है। उन भावकर्म रूप में परिणत होने में जीव स्वतन्त्र होता है अतः वह उनका परिणामी कर्ता होता है। भावकर्मों द्वारा जो कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ सश्लेष होने से बाह्य कर्म बंधन होते हैं वे द्रव्य कर्म कहे जाते हैं. जैसे उन भावकर्म से प्रेरित जीववध आदि के व्यापार से आत्मा पर चिपकने वाले ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गल। व्यवहारनय की दृष्टि से वे कर्म विशेष प्रकार के संयोग से जीव के व्याप्य होते हैं, उन कर्मों के प्रति जीवमें योगव्यापाररूप स्वातन्त्र्य होता है। अतः जीव उन कर्मों का भी कर्ता होता है। भावकर्म और द्रव्यकर्म के विषय में जीव के स्वातन्त्र्य का उक्त अन्तर विशेषरूप से बोद्धव्य है॥५०॥

(कर्मजनित मूढता से अहित में प्रवृत्ति)

अपने सभी कर्मों का जीव यदि स्वतन्त्र कर्ता है तो उसे अपने हित कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिये किन्तु वह अहित कर्मों का भी अनुष्ठान करता है, ऐसा क्यों? ५१ वी कारिका में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

जीव कर्म की अनादि परम्परा से युक्त है, अतः कर्मजनित मोह से ग्रस्त होकर वह अधिकतर अपने अहित कर्मों में ही बडी रुचि से प्रवृत्त होता है। यह बात गम्भीर रोगी के दृष्टान्त से समझी जा सकती है। जैसे एक गंभीर रोगी, जिसका चित्त रोगजन्य पीडा से विक्षिप्त रहता है, दीर्घकाल से उसे ग्रसे हुये रोग के प्रभाव से वह जाने-अनजाने अपथ्य सेवन में ही प्रवृत्त होता है।

प्रवृत्त्यन्तरम् इत्यन्योन्याश्रयोऽनादिपदेन न दोषायेति सूच्यते, बीजाऽङ्कुरस्थलीयस्याऽन्योन्याश्रयस्योत्पत्ति-ज्ञप्त्यप्रतिबन्धकत्वेनाऽदोषत्वादित्याशयः ॥५१॥

अत्र प्रसङ्गाद् वार्त्तान्तरमाह-

मूलम्-कालादीनां च कर्तृत्वं मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः ।
केवलानां तदन्ये तु मिथः सामाग्र्यपेक्षया ॥५२॥

अन्ये प्रवादिनः=एकान्तवादिनः, कालादीनाम्, आदिना स्वभावादिग्रहः, केवलानां= परक्लृप्तहेतुरहितानाम्, कर्तृत्वम्=असाधारणत्वेन हेतुत्वम्, मन्यन्ते । तदन्ये तु= अनेकान्तवादिनः साम्रग्र्यपेक्षया=सामग्रीप्रविष्टत्वेन, मिथः=परस्परम्, सहकारिलक्षणं कर्तृत्वं 'मन्यन्ते' इति प्राक्तनानुषङ्गः । इदमेवाऽभिहितं सम्मतिकारेण-[सम्मतिसूत्रे]

[1]"कालो सहाव-णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं ॥१५०॥ इति ॥५२॥

तत्र पूर्वं कालवादिमतोपपत्तिमाह-

उसी प्रकार संसार में आसक्त जीव भी कर्मदोषवश जानबुझ अथवा अनजान में बहुधा अपने अहित कर्मों में ही प्रवृत्त होता है ।

कारिका के आरम्भ में कर्म को अनादि कह कर यह सूचित किया गया है कि क्लिष्टकर्म से अहितकर्मों में प्रवृत्ति का, और अहितकर्मों में प्रवृत्ति से क्लिष्टकर्मों का जन्म होने से अन्योन्याश्रय दोष की आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इन दोनों की परस्परापेक्षा बीज और अङ्कूर की परस्परापेक्षा के समान प्रवाह से अनादि है अत इसमें अन्योन्याश्रयदोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह परस्परापेक्षा एक दूसरे की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति में प्रतिबन्धक नहीं होती ॥५१॥

(कालादि की हेतुता का प्रासङ्गिक विवेचन)

प्रस्तुत विचार के सन्दर्भ में प्रसङ्गवश अन्य मतों की भी चर्चा ५२ वीं कारिका से आरंभ की गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

कुछ एकान्तवादी विचारक एकमात्र काल या स्वभाव आदि को ही कार्य का हेतु मानते हैं । उनसे भिन्न अनेकान्तवादी विचारक काल आदि को कारण मानते हैं पर सामग्री-कारणसमूह के घटकरूप में अर्थात् काल आदि भी कार्य के अन्य कारणों के सहकारी होकर कार्य के कारण होते हैं ।

यही बात सम्मतिकार ने अपनी 'कालो सहाव०' गाथा में कही है । गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

"काल, स्वभाव, नियति, पुरुषकार और पूर्वकर्म को अकेले कार्य का कारण मानना मिथ्यात्व है और अन्य कारणों के साथ सामग्रीघटक के रूप में उन्हें सहकारी कारण मानना सम्यग्दष्टिपन है ।"

१-कालः स्वभाव-नियती पूर्वकृतं पुरुषःकारणैकान्ताः । मिथ्यात्वं ते एव तु समासतो भवन्ति सम्यक्त्वम् ॥

मूलम्-न कालव्यतिरेकेण गर्भकालशुभादिकम् ।
यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥५३॥

कालव्यतिरेकेणस्त्री-पुंससंयोगादिजन्यत्वेन पराभिमतस्याऽपि गर्भस्य जन्म न भवति, न हि तज्जन्मनि गर्भपरिणतिर्हेतुः, अपरिणतस्यापि कदाचिज्जन्मदर्शनात् । तथा, कालोऽपि शीतोष्ण-वर्षाद्युपाधि, तद्व्यतिरेकेण न भवति । अत्र कालस्थाने 'बाल' इति क्वचित् पाठः, तत्र बालत्वं जन्मोत्तरावस्था, साऽपि कालव्यतिरेकेण न, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादित्यर्थः । तथा शुभादिकं=स्वर्गादिकम्, आदिना नरकादिग्रहः, यत्किञ्चिद् लोके घटादि, तदपि कालव्यतिरेकेण न भवति, कर्मदण्डादिसत्त्वेपि कालान्तर एव स्वर्ग-घटाद्युत्पत्तेः । तत्=तस्मात् कारणात्, असौ=कालः 'किल' इति सत्ये, कारणम्, अन्यस्य त्वन्यथासिद्धत्वादसत्यत्वमिति भावः ॥५३॥

(कालवादी का युक्तिसंदर्भ)

सबसे पहले ५३ वीं कारिका द्वारा कालवादी के मतका उपपादन प्रस्तुत किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

गर्भ का जन्म उचितकाल के अभाव में नहीं होता, जो लोग गर्भ को स्त्री-पुरुष के संयोग आदि से जन्य मानते हैं उनके मत में भी उचित काल के उपस्थित न होने तक गर्भ का जन्म नहीं माना जाता। 'गर्भ के जन्म में गर्भ को परिणत अवस्था ही कारण है' यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदा कदा अपरिणत गर्भ का भी जन्म देखा जाता है। शीत, उष्ण, वर्षा आदि उपाधिभूत काल भी उचितकाल के अभाव में नहीं होते। स्पष्ट ही है कि शीत समय में ही ग्रीष्मकाल या वर्षा-काल नहीं आ जाता, अतः इन उपाधिभूत कालों के प्रति भी काल ही कारण है। किसी किसी पुस्तक में कारिका में 'काल' के स्थान में 'बाल' पाठ प्राप्त होता है, उस पाठ के अनुसार कारिका के इस अंश का यह अर्थ होगा कि बालावस्था अर्थात् जन्म के बाद की अवस्था भी उचित काल के अभाव में नहीं होती, उसे भी कालविशेष से जन्य न मानने पर जन्म के पूर्व अथवा यौवन अवस्था में भी बालावस्था की उत्पत्ति की आपत्ति हो सकती है।

शुभ का अर्थ है स्वर्ग और आदि पद का तात्पर्य है नरक में। आशय यह है कि स्वर्ग और नरक भी काल के बिना नहीं होता। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में जो भी कोई कार्य होता है, उसमें से कोई भी कार्य उचित काल के अभाव में नहीं होता। यज्ञ आदि कर्म सम्पन्न हो जाने पर भी स्वर्ग उसी समय नहीं होता किन्तु योग्यकाल उपस्थित होने पर ही होता है। इसी प्रकार घट आदि कार्य भी दण्ड आदि कारण के रहते हुये भी योग्यकाल के उपस्थित हुये बिना नहीं उत्पन्न होते। इसलिये यह है सत्य है कि काल ही सब का कारण है, 'काल से भिन्न पदार्थ भी कार्य का कारण होता है' यह असत्य है, क्योंकि काल से अन्य पदार्थ अन्यथासिद्ध हो जाते है ॥५३॥

तथा—

मूलम्-कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥५४॥

कालः भूतानि=उत्पत्तिमन्ति, पचति=उत्पन्नानां प्रकृतपर्यायोपचयं करोतीत्यर्थः । तथा, कालः प्रजाः संहरति=प्रकृतपर्यायान्तरपर्यायभाजः करोति । तथा, कालः सुप्तेषु=अजनितकार्येषु पराभिमतकारणेषु सत्सु, जागर्ति=विवक्षितकार्यमुपदधातीत्यर्थः । अतो हि=निश्चितम्, कालः सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतुतया दुरतिक्रमः=अनपलपनीयकारणताकः ॥५४॥

मूलम्-किञ्च कालादृते नैव मुद्‌गपक्तिरपीक्ष्यते[1] ।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ॥५५॥

'किञ्च' इत्युपचये, कालादृते=कालं विना, स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि, आदिना विलक्षणवह्निसंयोगादिग्रहः, मुद्गपक्तिरपि=मुद्गानां विलक्षणरूप-रसादिरूपविक्लित्तिपरिणतिरपि, नैवेक्ष्यते । ततोऽसौ=मुद्‌गपक्तिः, कालाद् मता=कालमात्रजन्येष्टा । न च

(सृष्टि-स्थिति-प्रलय कालजनित है)

५४ वी कारिका से पूर्व कारिका में उक्त काल की कारणता का ही समर्थन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

काल उत्पन्न पदार्थों का पाक करता है, पाक का अर्थ है उत्पन्न पदार्थ के विद्यमान पर्यायों का पोषण । आशय यह है कि उत्पन्न हो जाने पर वस्तु का जो संवर्धन होता है वह काल से ही होता है, वही अनुकूल नूतन पर्यायों को उपस्थित कर उनके योग से उत्पन्न वस्तु को उपचित करता है । काल उत्पन्न वस्तुओं का संहार करता है, संहार का अर्थ है वस्तु में विद्यमान पर्यायों के विरोधी पर्याय का उत्पादन । विरोधी पर्याय की उत्पत्ति से वस्तु के पूर्व पर्यायों की निवृत्ति होती है । पूर्व पर्यायों की निवृत्ति को ही वस्तु का संहार कहा जाता है । अन्य कारणों के अर्थात् कारण माने जाने वाले अन्य पदार्थों के सुप्त=निर्व्यापार रहने पर काल ही कार्यों के सम्बन्ध में जाग्रत् रहता है अर्थात् कार्य के उत्पादनार्थ सव्यापार रहता है । इसलिये सृष्टि, स्थिति और प्रलय के हेतुभूत काल का अतिक्रमण अर्थात् काल में सृष्टि आदि की कारणता का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥५४॥

(काल के विना मूंगदाल का परिपाक अशक्य)

काल की कारणता के समर्थन में एक बात और कही जा सकती है. वह यह कि स्थाली=पाकपात्र [तपेली] और अग्नि का विलक्षण संयोग आदि का सन्निधान होने पर भी मूंगकी दाल का परिपाक=उसके पूववर्ती रूप रस आदि का नाश हो कर उसमें नये रूप रस आदि का जन्म-उस समय तक नहीं होता जब तक उसका कारणभूत काल उपस्थित नहीं हो जाता । इससे यह अवश्य मानना होगा कि मूंग पाक किसी अन्य हेतु से न उत्पन्न होकर केवल काल से ही उत्पन्न होता है ।

१-सर्वत्र मूलादर्शेषु 'पीष्यते' इति पाठः ।

तदा मुद्गपक्तिजनकविलक्षणाग्निसंयोगाभावादेव तदपक्तिरिति वाच्यम्, तत्रापि हेत्वन्तरापेक्षावैयग्र्यात्, आवश्यकत्वेन कालस्यैव तद्धेतुत्वौचित्यादित्याशयः ॥५५॥

विपक्षे बाधकमाह—

मूलम्-कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥५६॥

कालाभावे च=कालस्याऽसाधारणहेतुत्वानङ्गीकारे च, गर्भादिकं सर्वं कार्यमव्यवस्थया=अनियमेन स्यात् । कुतः ? इत्याह-परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव=पराभिमतमातापित्रादिहेतुसंनिधानमात्रादेव, तदुद्भवात्=अविलम्बेन गर्भाद्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

ननु कालोऽपि यद्येक एव सर्वकार्यहेतुः, तदा युगपदेव सर्वकार्योत्पत्तिः, तत्तत्कार्ये तत्तदुपाधिविशिष्टकालस्य हेतुत्वे चोपाधीनामेवाऽऽवश्यकत्वात् कार्यविशेषहेतुत्वम्, इति गतं कालवादेन, इति चेत् ? अत्र नव्याः-क्षणरूपः कालोऽतिरिच्यत एव, स्वजन्यविभागप्रागभावविशिष्टकर्मणस्तथात्वे जाते विभागे तदभावापत्तेः, तदाऽन्यविशिष्टकर्मणस्तथात्वेऽननुगमात् । [1]तस्य च तत्क्षणवृत्तिकार्ये तत्पूर्वक्षणत्वेन हेतुत्वम्, तत्क्षणवृत्तित्वं च

यदि यह कहा जाय कि-'जिस काल में मूंग का परिपाक सम्पन्न होता है उसके पूर्व मूंग के पाक का उत्पादक अग्नि का विलक्षण संयोग ही नहीं रहता । अतः उस के अभाव से ही निश्चित समय के पूर्व मूंग का पाक नहीं होता, अतः मूंग के पाक के प्रति कालविशेष को कारण मानना निरर्थक है"-तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि उस संयोग के विषय में भी यह प्रश्न हो सकता है कि वह संयोग ही पहले क्यों नहीं हो जाता ? इस प्रश्न का उत्तर काल द्वारा ही किया जा सकता है। अतः यह मानना ही उचित है कि काल कार्य के प्रति अवश्यक्लृप्त नियत पूर्ववर्ती है, इसलिये एकमात्र वही कार्य का कारण है, कारण कहे जाने वाले अन्य पदार्थ अवश्यक्लृप्त-नियतपूर्ववर्तीकाल से भिन्न होने से अन्यथासिद्ध हैं ॥५५॥

'कार्य के नियतपूर्ववर्ती अन्य पदार्थ ही कारण हैं, काल ही अन्यथासिद्ध है' कालहेतुतावाद के इस विरोधी पक्ष का ५६ वी कारिका में खण्डन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

काल को कार्य का यदि असाधारण कारण न माना जायगा तो गर्भ आदि सभी कार्यों की उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जायगी, क्योंकि अन्यहेतुवादी की दृष्टि में गर्भ के हेतु माता-पिता आदि हैं, अतः उनका सन्निधान होने पर तत्काल ही गर्भ के जन्म की आपत्ति होगी ।

यदि यह कहा जाय कि-"इस प्रकार की शङ्का काल के कारणत्वपक्ष में भी हो सकती है, जैसे यह कहा जा सकता है कि केवल काल ही यदी सब कार्यों का कारण है तो एक कार्य की उत्पत्ति के समय सभी कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि एक कार्य को उत्पन्न करने के लिये

(१)-अतिरिक्तस्य क्षणरूपकालस्य ।

तत्क्षणस्यापि, अभेदेऽपि 'इदानीं क्षण' इति व्यवहारात् कालिकाधाराऽऽधेयभावसिद्धेः। अतस्तत्तत्क्षणतन्नाशानां तत्तत्पूर्वक्षणजन्यत्वाद् न क्षणिकत्वानुपपत्तिः। एवं च क्षणिकेनैव क्षणेन कार्यविशेषजननाद् नातिरिक्तहेतुसिद्धिः। न च 'तत्क्षण एव तन्तौ पटादिकं जायते, घटादिकं त्वन्यत्र' इति देशनियमार्थमतिरिक्तहेतुसिद्धिः, क्वाचित्कत्वस्य नित्य इवाऽनित्येऽपि स्वभावतः एव संभवात्, कादाचित्कत्वस्यैव हेतुनियम्यत्वात् अन्यत्राऽन्यापत्तेरभावात्। 'क्षणस्येवाऽन्येषामपि नियतपूर्ववर्तित्वात् कथं हेतुत्वप्रतिक्षेपः ?' इति चेत् 'अवश्यक्लृप्त०' इत्याद्यन्यथासिद्धिसद्भावात्। अत एव न पटत्वाद्यवच्छिन्नस्याऽऽकस्मिकतापत्त्या तदवच्छिन्नं

जो काल सन्निहित होगा वही सब कार्यों का कारण है अत: उसके सन्निधान से जब एक कार्य उत्पन्न होगा तो अन्य कार्यों के प्रति भी उस काल से भिन्न किसी कारण के अपेक्षणीय न होने से उसी समय सभी कार्यों की उत्पत्ति अनिवार्य हो जायगी। यदि इस आपत्ति के परिहारार्थ तत्तत् कार्य के प्रति तत्तत् उपाधिविशिष्ट काल को कारण मानकर तत्तत् उपाधियों का एक काल में सन्निधान न होने से एक काल में सभी कार्यों की उत्पत्ति का निराकरण किया जायगा तो तत्तत् उपाधि को ही कारण मान लेने से कालकारणतावाद ही समाप्त हो जायगा"–

इस आपत्ति का प्रतिकार नव्यतार्किकों (कालवादी) की ओर से यह कहकर किया जा सकता है कि क्षण स्वयं एक अतिरिक्त काल है, किसी कालकी उपाधि नहीं है क्योंकि यदि उसे स्वजन्यविभाग के प्रागभाव से विशिष्ट कर्मरूप माना जायगा तो विभाग उत्पन्न हो जाने पर उक्त विशेषणविशिष्ट कर्म का अभाव हो जाने से क्षण का अभाव हो जायगा और यदि उस समय भी स्वजन्यविभागप्रागभाव से विशिष्ट किसी अन्य कर्म के द्वारा क्षणका अस्तित्व सिद्ध किया जायगा तो क्षण शब्द की अनुगतार्थता का लोप हो जायगा। अत: यह मानना आवश्यक है कि क्षण स्वतन्त्र काल है। क्षण को स्वतन्त्र काल मान लेने पर यह कार्यकारणभाव मानना सम्भव हो जाता है कि तत्क्षणवृत्ति कार्य में तत्क्षण का पूर्वक्षण कारण है। तत् क्षण भी कालिक सम्बन्ध से तत्क्षणवृत्ति हो जाता है, क्योंकि 'इदानीं क्षण:-इस क्षण में क्षण है' इस प्रतीति के अनुरोध से एक पदार्थ में भी कालिकसम्बन्ध से आधार-आधेय भाव मान्य हैं, अत: उक्तकार्यकारणभाव के अनुसार तत्क्षण का पूर्वक्षण तत्क्षण का भी कारण हो जाता है। तत्तत् क्षण और उसका नाश दोनों ही तत्क्षणजन्य है, अत: तत्क्षण की उत्पत्ति के दूसरे ही क्षण तत्क्षण का नाश सम्भव हो जाने से क्षण की क्षणिकता की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती। इसप्रकार क्षणिक क्षण को ही तत्तत् कार्य का जनक मान लेने से सब आपत्तियों का परिहार हो जाने से क्षण से अतिरिक्त किसी कारण की कल्पना अनावश्यक है। तत्क्षण में ही तन्तु आदि में पट आदि उत्पन्न होता है और कपाल में घट आदि उत्पन्न होता है, सबमें सबकी उत्पत्ति नहीं होती, अत: इस बातकी उत्पत्ति के लिये 'पट आदि के प्रति तन्तु आदि को एवं घट आदि के प्रति कपाल आदि को भी कारण मानना आवश्यक है" यह भी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि जैसे घटत्व आदि नित्य पदार्थ विना किसी नियामक कारण के ही स्वभाव से ही देशविशेष में नियत होते हैं उसी प्रकार घट आदि अनित्य कार्य भी स्वभावत: ही देशविशेष में नियत हो सकते हैं। निष्कर्ष यह है कि कादाचित्त्व=किसी काल में होना और किसी काल में न होना,-की उपपत्ति के लिये ही कारण की कल्पना आवश्यक है, क्वाचित्कत्व-किसी देश में होने और किसी में न होने को

प्रति हेतुतासिद्धिः, तदवच्छिन्ननियतपूर्ववर्तित्वनिश्चयादेवैतावत्सत्त्वेऽवश्यं पटोत्पत्तिरिति निश्चयेन कृतिसाध्यताधीसंभवात्, अप्रामाणिकव्यवहारानुपपत्तिरूपमाकस्मिकत्वं तु न बाधकम्। युक्तं चैतत्, अनन्तनियतपूर्ववर्त्तिष्वनन्यथासिद्धत्वाकल्पनेन लाघवात् इत्याहुः ॥५६॥

॥ उक्तः कालवादः ॥

अथ स्वभाववादमाह—

मूलम्-न स्वभावातिरेकेण गर्भबालशुभादिकम् ।
यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥५७॥

स्वभावातिरेकेण=स्वभावमतिवृत्य, गर्भ-बाल-शुभादिकं यत् किञ्चित्=कार्यं, लोके न जायते, तत्=तस्मात् कारणात्, 'किल' इति सत्ये, असौ स्वभावः, कारणं=कादाचित्कत्व-नियामकः, आकाशत्वादीनां क्वाचित्कत्ववद् घटादीनां कादाचित्कत्वस्येतराऽनियम्यत्वात्। आकाशत्वादीनामन्यत्र सत्त्वे तत्स्वभावत्वाभावप्रसङ्गस्येव कादाचित्कत्वस्याऽपि गगनादौ

उपपत्ति के लिये कारण की कल्पना आवश्यक नहीं है। "तथापि क्षण के समान ही कपालादि भी घटादि के नियत पूर्ववर्त्ती होने से उनकी कारणता का अपलाप कैसे हो सकता है"? यह प्रश्न भी अनुचित है क्यों कि क्षण के अवश्यक्लृप्त होने से शेष सभी कारण 'अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिनः कार्य-सम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धं' इस पञ्चम अन्यथासिद्धि के आश्रय हो जाते हैं।

—"क्षण के समान जो अन्य पदार्थ कार्य के नियतपूर्ववर्त्ती होते हैं, काल द्वारा उनके अन्यथासिद्ध हो जाने से उनमें कारणत्व का प्रतिषेध होता है, यह ठीक है, किन्तु तत्तत् क्षण तो तत्तत् कार्य का कारण होता है, पटत्वाद्यवच्छिन्न का कारण तो होता नहीं अतः उसके आकस्मिकत्व की आपत्ति के वारणार्थ पटत्वाद्यवच्छिन्नके प्रति तन्तुत्वाद्यवच्छिन्न को कारण मानना आवश्यक है"-यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने पदार्थों में पटत्वाद्यवच्छिन्न का नियतपूर्ववर्तित्व निश्चित होता है उतने का सन्निधान होने पर पटत्वाद्यवच्छिन्नकी उत्पत्ति होती है, इस निश्चय से उतने पदार्थों के सन्निधान में कृतिसाध्यता के ज्ञान से उक्त आकस्मिकत्वापत्तिका वारण हो सकता है, अतः पटत्वाद्यवच्छिन्न के प्रति अतिरिक्त कारण की कल्पना अनावश्यक है। तन्तु आदि में पटकारणत्व का व्यवहार अप्रामाणिक है अतः पट के अन्य नियतपूवर्त्तियों में अनन्यथासिद्धत्व की कल्पना न करने में होने वाले लाघव के अनुरोध से उनमें पटादि के कारणत्व का त्याग ही उचित है। ५६॥

(सर्व कार्य का कारण एकमात्र स्वभाव)

५७ वी कारिका में स्वभाववाद का उपपादन किया गया है-कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

गर्भ, बाल, शुभ स्वर्ग आदि जो कोई भी कार्य संसार में होता है वह स्वभाव का अतिक्रमण करके नहीं होता. इसलिये स्वभाव ही कार्यों का कारण है. उसी से कार्यों के कादाचित्कत्व=कभी होने और कभी न होनेका नियमन होता है। आकाशत्व आदि के क्वाचित्कत्व=किसी स्थान में होने और किसी स्थान में न होने का नियामक जैसे स्वभाव से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है उसी प्रकार घट आदि कार्यों के कादाचित्कत्व का भी नियामक स्वभाव से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। जैसे आकाशत्व आदि को घटादिनिष्ठ

सत्त्वे घटादिस्वभावत्वाभावप्रसङ्गस्य बाधकत्वात्, अवधीनां नियतपूर्ववर्तित्वेऽपि तद्गतोपकारा-ऽजनकत्वेनाऽहेतुत्वात्। 'भवनस्वभावत्वे घटः सर्वदा भवेदि' ति चेत्? न, तदहरेव भवनस्व-भावत्वात्। अथवा कारणमिति=मुख्य एवाऽर्थः, उपादानस्वभावस्यैवोपादेयगतस्वभाव-रूपोपकारजनकस्योपादेयहेतुत्वात्। न चोपकारेऽप्युपकारान्तरापेक्षायामनवस्था, तस्य स्वत एवोपकृतत्वात्। दण्डादीनां दण्डरूपादीनामिव नियताऽवधित्वेऽप्यन्यथासिद्धत्वम्। 'दण्डाद् घटः' इति व्यवहारस्तु 'इन्धनात् पाकः' इतिवदेव ॥५७॥

इदमेवाह—

(मू०)—सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा।
वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखाः ॥५८॥

सर्वे भावाः, स्वभावेन=स्वगतेन हेतुगतेन वा निमित्तेन तथा तथा=विशिष्टसंस्थाना-प्रतिनियतरूपेण, स्वस्वभावे=आत्मीयसत्तायाम्, 'तिलेषु तैलम्' इतिवदभिव्याप्तौ सप्तमी, स्वस्वभावमभिव्याप्येत्यर्थः, वर्तन्ते=भूत्वा तिष्ठन्ति। अथ नाशकाले निवर्तन्ते=स्वभावेन नाशभाजो भवन्ति। किंभूताः? इत्याह-कामचारपराङ्मुखाः=अनियतभावनिरपेक्षाः ॥५८॥

मानने पर उसके आकाशस्वभाव का=आकाश का ही स्वभाव होने का भङ्ग होगा. उसी प्रकार कादाचित्कत्व को भी आकाशनिष्ठ मानने पर कादाचित्कत्व के घटादिस्वभावत्व का=घटादि का ही स्वभाव होने का भङ्ग हो जायगा। अवधि–कपाल आदि यद्यपि घट आदि के नियत पूर्ववर्ती होते हैं किन्तु उनसे घट आदि में कोई उपकार नहीं होता अतः वे घट आदि के कारण नहीं हो सकते।

"भवन=उत्पन्न होना यदि घट आदि का स्वभाव माना जायगा तो 'वस्तु कभी भी अपने स्व-भाव से शून्य नहीं होती' इस नियम के कारण सदैव घट आदि के उत्पन्न होते रहने की आपत्ति होगी" –यह शंका करना उचित नहीं है क्योंकि जिस समय जिसकी उत्पत्ति होती है, उस समय ही उत्पन्न होना उस वस्तु का स्वभाव होता है, अतः कालान्तर में उसकी उत्पत्ति का आपादन नहीं हो सकता।

(कारण शब्दार्थ का द्वितीय विकल्प)

अथवा 'स्वभाव कार्यमात्र का कारण होता है' इस कथन में 'कारण' शब्द का 'कादा-चित्कत्व का नियामक' अर्थ न कर मुख्य अर्थ ही स्वीकार करना चाहिये और उपादान के स्वभाव को ही उपादेय के स्वभावरूप उपकार का जनक होने से उपादेय का कारण मानना चाहिये। किसी कार्य का कारण होने के लिये कारण को उसमें उपकार का जनक होना आवश्यक है यह मानने पर उपकार का जनक होने के लिये उपकार में उपकारान्तर को जनक मानने पर अनवस्था का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपकार उपकारान्तर के विना भी स्वयं ही उपकृत रहता है। दण्ड आदि घटादि का नियत अवधि होने पर भी दण्डरूप आदि के समान अन्यथासिद्ध होते हैं। 'दण्डाद् घटः' घट दण्ड से होता है' यह व्यवहार घट के दण्डजन्य माने विना भी उसी प्रकार हो सकता है जैसे पाक के इन्धनजन्य न होने पर भी 'इन्धनात् पाकः' यह व्यवहार होता है। अर्थात् पञ्चमी विभक्ति का अर्थ जन्यत्व नहीं किन्तु उत्तरत्व मात्र है ॥५७॥

हेत्वन्तरे कामचारमेव स्पष्टयति—

(मू०)-न विनेह स्वभावेन मुद्गपक्तिरपीष्यते ।
तथाकालादिभावेऽपि नाश्वमाषस्य सा यतः ॥५९॥

इह=जगति, स्वभावेन विना, तथाकालादिभावेऽपि=प्रतिनियतकालव्यापारादि-सामग्रीसंनिधानेऽपि, मुद्गपक्तिरपि नेष्यते । कुतः ? इत्याह-यतोऽश्वमाषस्य=कङ्कटुकस्य, सा=पक्तिः न भवति । न ह्यश्वमाषे विलक्षणाग्निसंयोगादिकं नास्तीति वक्तुं शक्यते, एकयैव क्रियया तत्तदन्यवह्निसंयोगात् । न चादृष्टवैषम्यात् तदपाकः, दृष्टसाद्गुण्ये तद्वैषम्याऽयोगात्, अन्यथा दृढदण्डनुन्नमपि चक्रं न भ्राम्येत् । तस्मात् स्वभाववैषम्यादेव तदपाकः, इत्यन्यत्र कामचारात् स्वभाव एव कारणमिति पर्यवसन्नम् ॥५९॥

उक्तदार्ढ्यायैव विपक्षे बाधकमाह—

(मू०-अतत्स्वभावात् तद्भावेऽतिप्रसङ्गोऽनिवारितः ।
तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत् ॥६०॥

[स्वभाव के विना कङ्कटुकादि का पाक नहीं होता]

५८ वीं कारिका में पूर्वकारिका वर्णित स्वभावकारणता को ही पुष्ट किया गया है-सभी भाव-कार्य अपने या अपने उपादान के स्वभाव के बल पर विशिष्ट आकार प्रकार आदि से नियत हो कर ही अपने अपने स्वभाव में अवस्थित होते हैं। स्वभाव में अवस्थित होने का अर्थ है स्वभाव को अभिव्याप्त कर रहना, क्योंकि 'स्वभावे तिष्ठन्ति' में स्वभाव शब्द के साथ लगी सप्तमी विभक्ति 'तिलेषु तैलम्' में तिल शब्द से लगी सप्तमी विभक्ति के समान अभिव्याप्ति अर्थ की बोधक हैं। भावों का नाश भी उनके स्वभाव से ही नियत देश काल में ही होता हैं, क्योंकि वे इच्छानुसार स्वतन्त्र न होकर अपने स्वभाव के प्रति परतन्त्र होते हैं ॥५८॥

५९ वीं कारिका में कार्य को स्वभाव से भिन्न हेतु से जन्य मानने पर कामचार की आपत्ति बताते हुये कहा गया है कि-इस संसार में मूँग की दाल में मूंग का पाक भी स्वभाव के विना नहीं होता, क्योंकि जिस वस्तु में पकने का स्वभाव नहीं हैं वह काल तथा कारणान्तर का व्यापार आदि होने पर भी परिपक्व नहीं होती, जैसे अश्वमाष-पथरिले उडद में दीर्घकाल तक अग्नि का विलक्षण संयोग होने पर भी उस का पाक नहीं होता। 'अदृष्ट के वैषम्य से उस का पाक नहीं होता' यह कहना उचित नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्ट सभी कारणों का सन्निधान रहने पर अदृष्ट के अभाव में कार्य की अनुत्पत्ति नहीं देखी जाती, अन्यथा यदि ऐसा हो तो दृढ दण्ड से बल के साथ चक्र को चलाने पर भी कभी उसे नहीं चलना चाहिये, अदृष्टवश उस में चलन का प्रतिबन्ध हो जाना चाहिये पर ऐसा नहीं होता। अतः यही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि मूँग अपने स्वभाववश पकता है

अतत्स्वभावात्-तत्स्वभावभिन्नात्, तत्स्वभावरहिताद् वा तदुभावे=अधिकृतकार्योत्पादे 'अङ्गीक्रियमाणे' इति शेषः, अतिप्रसङ्गोऽनिष्टप्रसङ्गः अनिवारितः=अबाधितः । कुतः ? इत्याह- तुल्ये=समाने, तत्र=अतत्स्वभावत्वे सति, मृदा कुम्भ एव जन्यते न पटादीति अयुक्तिमत्=नियामकरहितम् ।

ननु नातत्स्वभावत्वं तज्जननप्रयोजकमुच्यते येनेयमापत्तिः संगच्छते, किन्तु सामग्रीमेव कार्यजनिकां ब्रूमः अश्वमाषस्य च पक्ति प्रति स्वरूपयोग्यतैव न इति को दोषः ? इति चेत् ?

अत्र वदन्ति-अन्तरङ्गत्वात् स्वभाव एव कार्यहेतुः, न तु बाह्यकारणम् । न च मृत्स्वभावाऽविशेषाद् घटादिकार्याऽविशेषप्रसङ्गः 'स्वस्य भावः कार्यजननपरिणतिः' इति स्वभावार्थत्वात्, तस्याश्च कार्यैकव्यङ्ग्यत्वात् । न चेदेवम्, अङ्कुरजननस्वभावं बीजं प्रागेवाऽङ्कुरं

और पथरिल अश्वमाष पाकानुकूल स्वभाव से शून्य होने से नहीं पकता । अतः कार्य को अन्य हेतु-जन्य मानने पर मूँग के पाक और अश्वमाष के पाकाभाव में कामचार मानना पडेगा। अतः कार्यों के जन्म में कामचार के निवारणार्थं उन्हें स्वभावजन्य मानकर स्वभावाधीन मानना ही न्याय-संगत है ॥ ५९ ॥

[कारणसामग्रीवादीप्रयुक्त आपत्ति का समाधान]

६० वीं कारिका में स्वभाववाद को दृढ करने के लिये स्वभाववाद के विरोधी पक्ष के बाधक का प्रतिपादन किया गया है अर्थ इस प्रकार है—

जो तत्स्वभाव से अर्थात् तज्जननानुकूल स्वभाव से शून्य होता है उस से यदि कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो इस अतिप्रसङ्ग का-कि 'मिट्टी आदि से घट आदि की उत्पत्ति के समान पट आदि की भी उत्पत्ति होनी चाहिये क्योंकि उत्पादक में कार्यजननानुकुल स्वभाव की अपेक्षा न होने से मिट्टी घट-पट आदि सभी कार्यों के लिये समान है'—वारण न हो सकेगा फलतः घट और पट दोनों के प्रति मिट्टी के समान होने से 'मिट्टी से घट की ही उत्पत्ति हो, पट की न हो'-यह नियम युक्तिहीन हो जायगा। यदि यह कहें कि-"यह दोष अतत्स्वभावत्व को तदुत्पत्ति का प्रयोजक मानने पर ही हो सकता है, पर हम यह नहीं मानते, हम तो यह कहते हैं कि-किसी पदार्थ को किसी कार्य का उत्पादन करने के लिये उस पदार्थ में उस कार्य के जननानुकूल स्वभाव मानने की आवश्यकता नहीं है । तब प्रश्न होगा कि किस कार्य की उत्पत्ति का प्रयोजक क्या होता है ? इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि तत्तत् कार्य की सामग्री-अर्थात् तत्तत् कार्य के सभी कारणों का सन्निधान ही तत्तत् कार्य की उत्पत्ति का प्रयोजक होता है, अतः स्वभाववाद को स्वीकार न करने पर भी उक्त आपत्ति नहीं हो सकती-"तो इसके उत्तर में स्वभाववादी का यह कहना है कि स्वभाव अन्तरङ्ग होता है और कारणान्तर का सहयोग बहिरङ्ग होता है; अतः मिट्टी को अपने स्वभाव से ही घट का उत्पादक मानना उचित है, बहिरङ्ग की सहायता से नहीं ।

जनयेत् । 'सहकारिलाभा-ऽलाभाभ्यां हेतोः कार्यजनना-ऽजनने उपपत्स्येते' इति चेत् ? न, सहकारिचक्रानन्तर्भावेन विलक्षणबीजत्वेनैवाङ्कुरहेतुत्वौचित्यात् । न च सहकारिचक्रस्याऽतिशयाधायकत्वं त्वयाऽपि कल्पनीयम्, इति तस्य तत्कार्यजनकत्वकल्पनमेवोचितमिति वाच्यम्; पूर्व-पूर्वोपादानपरिणामानामेवोत्तरोत्तरोपादेयपरिणामहेतुत्वात्, अत एव कालवादाऽप्रवेशात् । न च चरमक्षणपरिणामरूपबीजस्याऽपि द्वितीयादिक्षणपरिणामरूपाङ्कुराजनकत्वाद् व्यक्तिविशेषमवलम्ब्यैव हेतु-हेतुमद्भावो वाच्यः, अन्यथा व्यावृत्तिविशेषानुगतप्रथमादिचरमपर्यन्ताङ्कुरक्षणान् प्रति व्यावृत्तिविशेषानुगतानां चरमबीजक्षणादिकोपान्त्याङ्कुरक्षणानां हेतुत्वे कार्यकारणतावच्छेदककोटावेकैकक्षणप्रवेशा-ऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहप्रसङ्गात् । तथा च तज्जातीयात् कार्यात् तज्जातीयकारणानुमानभङ्गप्रसङ्गः इति वाच्यम्;--सादृश्यतिरोहितवैसदृश्येनाऽङ्कुरादिना तादृशबीजादीनामनुमानसंभवात्; प्रयोज्य-प्रयोजकभावस्यैव विपक्षबाधकतर्कस्य जागरूकत्वादिति । अधिकमध्यात्ममतपरीक्षायाम् । ततः स्वभावहेतुकमेव जगदिति स्थितम् ।

[समान उपादान से विविध कार्यों के अभाव की आपत्ति का प्रतिकार]

यदि यह शङ्का की जाय कि-' मिट्टी से घट शराव आदि विविध पात्र एवं विभिन्न प्रकार के खिलौने आदि अनेक प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं, स्वभाववाद में मिट्टी इन सभी कार्यों को अपने स्वभाव से ही उत्पन्न करेगी. अतः उसके स्वभाव में कोई वैलक्षण्य न होने से उससे उत्पन्न होने वाले कार्यों में भी वैलक्षण्य न हो सकेगा'—तो यह शङ्का उचित नहीं हो सकती. क्योंकि स्वभाव का अर्थ है स्व का कार्य के अनुकूल परिणत होना, अतः प्रत्येक वस्तु अपने कार्य को स्वभाव से उत्पन्न करती है, इसका अर्थ होता है कि प्रत्येक वस्तु तत्तत् कार्य के अनुकूल परिणाम ग्रहण करके तत्तत् कार्य को उत्पन्न करती है और वस्तु का यह परिणामग्रहण उस वस्तु के अधीन ही होता है; अतः मिट्टी से जितने कार्य उत्पन्न होते हैं उन सभी के उत्पादनानुकूल अलग अलग परिणति उसमें होती है, उन परिणतियों में वैलक्षण्य होने से उसके कार्यों में भी विलक्षणता होती है। अतः स्वभाव से वस्तु को कार्योत्पादक मानने पर उस वस्तु से होने वाले कार्यों में वैलक्षण्य की अनुपपत्ति का आपादान नहीं किया जा सकता। किस वस्तु में किस कार्य के अनुकूल परिणति होती है, इसका निश्चय तो उस वस्तु से होने वाले कार्यों से ही हो सकता है।

[बीजत्व की अपेक्षा अंकूरानुकुलपरिणतिस्वभाव से कार्योत्पाद में औचित्य]

वस्तु को कार्यानुकुलपरिणतिरूप अपने स्वभाव से ही कार्य का उत्पादक मानना आवश्यक भी है, अन्यथा यदि उसे अपने लोकसिद्ध स्वरूप से ही कार्य का उत्पादक माना जायगा तो बीज से नियत समय के पूर्व भी अङ्कुर की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। इस आपत्ति का परिहार करने के लिये यदि सहकारिसन्निधान की अपेक्षा मानकर यह कहा जाय कि —'बीज अपने लोकसिद्ध रूप बीजत्व से ही अंकुर का कारण है किन्तु अंकुर का उत्पादन वह तभी कर सकता है जब अंकुर के अन्य सभी कारणों का भी उसे सन्निधान प्राप्त हो, अतः अन्य कारणों के असन्निधान के समय उससे अंकुर के

उक्तं च-"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रसङ्गः" ॥१॥ इति ॥६०॥

॥ उक्तः स्वभाववादः ॥

जन्म की आपत्ति नहीं दी जा सकती'—तो इस कल्पना की अपेक्षा तो यही मानना उचित है कि बीज बीजत्वरूप से अकुर का जनक नहीं होता अपितु विलक्षण बीजत्व रूप से अर्थात् अंकुरानुकुल अपनी परिणतिरूप स्वभाव से जनक होता है, जिस समय अंकुर की उत्पत्ति होती है उससे दूर पूर्व में उक्त परिणति के न होने से पूर्व में अंकुर को उत्पत्ति नहीं हो सकती।

[सहकारीचक्र की कल्पना अनावश्यक]

यदि यह कहा जाय कि- अंकुरोत्पादक बीज में सहकारिचक्र को अतिशय का आधायक तो स्वभाववादी को भी मानना पडेगा, क्योंकि अतिशयहीन बीज को अंकुर का जनक मानने पर सहकारिचक्र के सन्निधान से पूर्व भी अकुर की उत्पत्ति की आपत्ति होगी, अतः जब सहकारिचक्र की अपेक्षा स्वभाववाद में भ आवश्यक है तब तो विलक्षणबीजत्वरूप से कारणत्व की कल्पना अनावश्यक है, क्योंकि बीजत्वरूप से भी बीज को अंकुर का जनक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो जिस कार्य का उपादान माना जाता है उसमें प्रतिक्षण नये नये परिणाम होते रहते हैं, और उन परिणामों से नये नये उपादेय परिणामों की उत्पत्ति भी होती रहती हैं। अतः पूर्वपूर्व उपादान परिणामों को उत्तरोत्तर होने वाले तत्तत् उपादेय परिणामों के प्रति कारण मान लेने से स्वभाववाद में सहकारिचक्र की कल्पना अनावश्यक हो जाती है । किन्तु उपादान को लोकसिद्ध सामान्यरूप से उपादेय का कारण मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति का परिहार सहकारिचक्र की कल्पना के बिना नहीं हो सकता, अतः स्वभाववाद को स्वीकार करना ही उचित है। स्वभाववाद में उक्तरूप से उपादानपरिणामों और उपादेय परिणामों में हेतुहेतुमद्भाव मानने से उस मत में कालवाद के प्रवेश की आशंका भी समाप्त हो जाती है।

(कार्य से कारणानुमान के भंग की आपत्ति का समाधान)

उक्त व्यवस्था स्वीकार करने पर यह प्रश्न हो सकता है कि "बीज का जो चरम क्षणात्मक परिणाम होता है उससे अंकुर का प्रथम क्षणात्मक परिणाम ही उत्पन्न होता है द्वितीय तृतीय आदि क्षण परिणामों की उत्पत्ति उससे नहीं होती अतः उपादान के क्षण परिणामों को उपादेय के क्षणपरिणामों के प्रति तत्तद्व्यक्तित्व रूप से ही कारण और कार्य मानना होगा, क्योंकि यदि अनुगत रूप से उनमें हेतुहेतुमद्भाव की कल्पना की जायगी तो जिस अतद्व्यावृत्ति से उनका अनुगम किया जायगा उसके शरीर में उन क्षणों के प्रवेशक्रम में विनिगमना न होने से महान् गौरव होगा, और तत्तद्व्यक्तिरूप से हेतुहेतुमद्भाव मानने का दुष्फल यह होगा कि तज्जातीय कार्य से तज्जातीय कारण के अनुमान का भङ्ग हो जायगा क्योंकि अनुगत रूप से हेतुहेतुमद्भाव न होने के कारण तज्जातीय कार्य में तज्जातीय कारण की अनुमापकता में कोई प्रयोजक न होगा"-किन्तु यह प्रश्न स्वभाववादी के लिये बडी सरलता से समाधेय है, वह इस प्रकार कि उत्पादक बीजक्षणों में तथा उत्पाद्य अङ्कुरक्षणों में परस्पर में अत्यन्त सादृश्य होता है जिस से उनका वैसादृश्य तिरोहित रहता है अतः सदृश अङ्कुरक्षणात्मक कार्य से सदृशबीजक्षणात्मक कारण का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि

अथ नियतिवादमाह–

मूलं—नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः ॥६१॥

नियतेनैव=सजातीय-विजातीयव्यावृत्तेन स्वभावानुगतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति, **यद्**=यस्माद् हेतोः । ततो **हि**=निश्चितम्, **एते**=भावाः, **नियतिजाः**=नैयत्यनियामकतत्त्वान्तरोद्भवाः । हेत्वन्तरमाह–**तत्स्वरूपानुवेधतः**=नियतिकृतप्रतिनियतधर्मोपश्लेषात् । दृश्यते हि तीक्ष्णशस्त्राद्युपहतानामपि मरणनियतताभावेन मरणम्, जीवननियततया च जीवनमेवेति ॥६१॥

इदमेव स्फुटमाह–

मूलम्–यद्यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा ।
नियत जायते, न्यायात्क एतां बाधितुं क्षमः ? ॥६२॥

यद्=घटादिकम्, **यदैव**=विवक्षितकाल एव, **यतः**=दण्डादेः, **यावत्**=विवक्षिताल्प-

---

उक्त क्षणों में अनुगत कार्यकारणभाव न होने पर भी अनुगत प्रयोज्यप्रयोजककभाव होने से उस प्रयोज्यप्रयोजकभावरूप प्रयोजक के बल पर अङ्कुरक्षणों और बीजक्षणों में व्याप्यव्यापकभाव ज्ञात हो सकता है ।– 'उक्त क्षणों में जैसे अनुगत कार्यकारणभाव नहीं होता उसी प्रकार अनुगत प्रयोज्यप्रयोजकभाव भी नहीं हो सकता-" यह शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुगत कार्यकारणभाव मानने में नियतसमय से पूर्व बीज से अंकुरोत्पत्ति की आपत्ति बाधक है, किन्तु अनुगत प्रयोज्य-प्रयोजकभाव मानने में ऐसी कोई बाधा नहीं है क्योंकि यह नियम किसी को भी मान्य नहीं है कि 'जो जिस का प्रयोजक होता है उस से उसकी उत्पत्ति में विलम्ब नहीं होता' । अतः अंकुरोत्पत्ति से चिरपूर्व भी अंकुरप्रयोजक की सत्ता मानने में कोई दोष नहीं होता । इस विषयमें अधिक जानकारी 'अध्यात्ममतपरीक्षा' नामक ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है । इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि जगत् स्वभावहेतुक ही है, अन्यहेतुक नहीं है । कहा भी गया है कि–'काँटों की तीक्ष्णता और पशु एवं पक्षियों की विचित्ररूपता को कौन उत्पन्न करता है ? स्पष्ट है कि यह सब स्वभाव से ही सम्पन्न होता है, स्वभाववाद में कामचार यथेच्छ अनुष्ठान का कोई अवसर नहीं है अतः इस वाद में सब से सब की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती ॥६०॥ [स्वभाववादपरिसमाप्त]

(नियतितत्त्व से सर्वकार्यसंपत्ति–नियतिवाद)

६१ वी कारिका में नियतिवाद की स्थापना करते हुये कहा गया है कि-सभी पदार्थ नियतरूप से ही उत्पन्न होते हैं । नियतरूप का अर्थ है-वस्तु का वह असाधारणधर्म जो उस के सजातीय और विजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त होता है । यह रूप वस्तु के स्वभाव का अनुगामी होता है एवं सदृश पदार्थो में स्वभाव से ही अनुगत होता है । नियतरूप से ही पदार्थों की इस उत्पत्ति के अनुरोध से यह

बहुदेशव्यापि, जायमानं दृश्यते; तद्=घटादिकम्, तदैव=विवक्षितकाल एव, ततः=दण्डादेः, तथा=तावद्देशव्यापि, लोके=जगति, नियनम्=नियतिकृतम्, जायते। ततो न्यायात्=तर्कात्, क एतां=नियतिं, बाधितुं क्षमः? प्रमाणसिद्धेऽर्थे बाधानवतारात्, नियतरूपावच्छिन्नं प्रति नियतेरेव हेतुत्वात्, अन्यथा नियतरूपस्याप्याकस्मिकताऽऽपत्तेः। न च तावद्धर्मकत्वं न जन्यतावच्छेदकम्, किन्त्वार्थसमाजसिद्धमिति वाच्यम्; नियतिजन्यत्वेनैवोपपत्तावार्थसमाजाऽकल्पनात् भिन्नसामग्रीजन्यतयैकवस्तुरूपव्याघातापत्तेश्च। तदुक्तम्—

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाऽभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः" ॥१॥ इति ॥६२॥

इदमेव विवृणोति—

मूलम्-न चर्ते नियतिं लोके मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते[1] ।
तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः ॥६३॥

मानना आवश्यक है कि सभी पदार्थ किसी ऐसे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं जिस से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में नियतरूपता का नियमन होता है, पदार्थों के कारणभूत उस तत्त्व का ही नाम 'नियति' है। उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियतिमूलक घटनाओं का ही सम्बन्ध होता है इसलिये भी सभी को नियतिजन्य मानना आवश्यक है। जैसे यह देखा जाता है कि तीक्ष्ण शस्त्र का प्रहार होने पर भी सब की मृत्यु नहीं होती, किन्तु कुछ लोग ही मरते हैं और कुछ लोग जीवित रह जाते हैं, इस की उपपत्ति के लिये यह मानना आवश्यक हैं कि प्राणी का जीवन और मरण नियति पर निर्भर है, जिस का मरण जब नियतिसम्मत होता है तब उस की मृत्यु होती है और जिस का जीवन जब तक नियतिअसम्मत है तब तक मृत्यु का प्रसङ्ग बारबार आने पर भी वह जीवित ही रहता है, उस की मृत्यु नहीं होती ॥६१॥

[जिसकी-जब-जिससे-जिसरूप में उत्पत्ति नियति से]

६२ वी कारिका में पूर्व कारिका के कथन को ही स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि जो कार्य जिस समय जिस कारण से जिस रूप में उत्पन्न होने का नियति से निर्दिष्ट होता है वह उसी समय उसी कारण से उसी रूप में उत्पन्न होता है। घट आदि कार्यों की उत्पत्ति इसी प्रकार देखी जाती हैं इसलिये इस प्रमाणासिद्ध नियति का किसी भी तर्क से कोई भी विद्वान खण्डन नहीं कर सकता, क्योंकि प्रमाणसिद्ध पदार्थ में बाधक तर्क का प्रवेश नहीं होता। यदि यह पूछा जाय कि 'नियति में क्या प्रमाण है ?' तो इस का उत्तर यही है कि नियतरूपविशिष्ट कार्य की उत्पत्ति ही नियति की सत्ता में प्रमाण है, क्योंकि यदि नियतरूप से कार्य की उत्पत्ति का कोई नियामक न होगा तो कार्य की नियतरूपता आकस्मिक हो जायगी अर्थात् किसी वस्तु का कोई नियतरूप सिद्ध न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि-"कार्य यावद्धर्मक होता हैं तावद्धर्मकत्व किसी एक कारण का कार्यतावच्छेदक नहीं होता, अपितु तत्तत् धर्म भिन्न भिन्न कारणों द्वारा सम्पादित होते हैं, और जब उन सभी धर्मों के

---

(१) सर्वत्र मूलपुस्तकादर्शषु 'पीष्यते' इति पाठः।

न च लोके=जगति नियतिमृते=नियतिं विना, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते=दृश्यते; यतस्तत्स्वभावादिभावेऽपि=मुद्गपक्तिजनकस्वभावव्यापारादिसत्त्वेऽपि, नासौ=अधिकृता मुद्गपक्तिः अनियता, किन्तु स्वरूपनियता । न चैतद् नैयत्यं स्वभावप्रयोज्यम्, स्वभावस्य कार्यैकजात्यप्रयोजकत्वात्, अतिशयरूपस्याऽपि तस्य विशेष एव प्रयोजकत्वात्, पक्त्यन्तरसाजात्यवैजात्योभयानुवेधस्य नियतिं विनाऽसंभवात् । 'हेतुना व्यक्तिरेवोत्पाद्यते, उभयानुवेधस्तु तत्र तत्त्वान्तरसंवेधादि'ति चेत् ? न, समवायादिनिरासेन तत्संवेधानुपपत्तेः, अनिरासेऽपि तत्रैव तत्संवेधनियामकगवेषणात् ।

किञ्च-दण्डादिसत्त्वेऽवश्यं घटोत्पत्तिरिति न सम्यग् निश्चयः, तत्सत्वेऽपि कदाचिद् घटानुत्पत्तेः, किन्तु संभावनैव, इति न दृष्टहेतुसिद्धिः; 'यद् भाव्यं तद्भवत्येव' इति तु सम्यग् निश्चयः । न चैवं कार्योत्पत्तेः पूर्वं नियत्यनिश्चयात् प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्, अविद्ययैव प्रवृत्तेः, फललाभस्य तु यादृच्छिकत्वादिति दिग् ॥६३॥

सम्पादक कारणों का समाज एकत्र होता है तब उन सभी धर्मों से युक्त एक कार्य की उत्पत्ति होती है" -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तावद्धर्मकत्व को एक नियति का कार्यतावच्छेदक मानने में लाघव है अतः उस में कारण समाज नियम्यत्व की कल्पना उचित नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि तत्तद् धर्म से विशिष्ट कार्य यदि भिन्न भिन्न कारण सामग्री से जन्य होगा तो भिन्न सामग्रियों से उत्पन्न होनेवाले कार्य में एक वस्तुरूपता न हो सकेगी। नियति के समर्थन में यह बहुत अच्छी बात कही गयी है कि-मनुष्य को जो भी शुभ अशुभ नियति द्वारा प्राप्तव्य होता है वह उसे अवश्य प्राप्त होता है क्योंकि जगत् में यह देखा जाता है कि जो वस्तु जिससे नहीं होने वाली होती है वह बहुत प्रयत्न करने पर भी उससे नहीं होती और जो होने वाली होती है उस का कभी नाश याने विघटन नहीं हो सकता ॥६२॥

[पचनस्वभाव होने पर भी नियतिविना पाक अशक्य ।]

६३ वी कारिका में पूर्वकारिका के विषय को ही अन्य प्रकार से स्पष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

संसार में नियति के बिना मूंग का पाक भी नहीं देखा जाता, मूंग पाक के जनकस्वभाव के व्यापारवान होने पर भी वह अनियत स्वरूप नहीं होता किन्तु नियति से सम्पादित स्वरूप से सम्पन्न ही होता है। उसका स्वरूपनयत्य स्वभाव से नहीं उपपन्न हो सकता, क्योंकि स्वभाव कार्यों की एकजातीयता का प्रयोजक नहीं होता, यदि स्वभाव को अतिशयरूप माना जाय तब भी वह कार्य में विशिष्टता का ही प्रयोजक होता है, मूँग के पाक में अन्य पाक के साजात्य और वैजात्य के अस्तित्व का प्रयोजक तो नियति ही होती है। यदि यह कहा जाय कि-"नियति हेतु से तो व्यक्ति की ही उत्पत्ति होती है उसमें साजात्य और वैजात्य की सिद्धि तो अन्य तत्त्व से ही होती है, अतः कार्य को नियतिजन्य मानने पर भी उस में साजात्य-वैजात्य की उपपत्ति के लिये तत्त्वान्तर ही मानना होगा, तो फिर व्यक्ति की उत्पत्ति तो स्वभाव आदि से भी हो सकती है अतः उसके लिये नियति की कल्पना अनावश्यक है"-तो यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि वह तत्त्वान्तर समवाय आदि ही हो सकता है, किन्तु उस का खण्डन हो चूका है। और यदि उसे माना भी जाय तो उसी का अस्तित्व कार्य में किस निमित्त से होता

उक्तमेव बाधकविपक्षत्वेनाह—

मूलं—अन्यथाऽनियतत्वेन सर्वभावः प्रसज्यते ।
अन्योन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च ॥६४॥

अन्यथा= नियतिजन्यत्वं विना, अनियतत्वेन हेतुना, सर्वभावः प्रसज्यते, व्यक्त्यविशेषात् । च-पुनः अन्योन्यात्मकतापत्तेः=घट-पटाद्यविशेषापत्तेः, क्रियावैफल्यमेव, सिद्धाया व्यक्तेरसाध्यत्वात् ।

'सा व्यक्तिरसिद्धैवे' ति चेत् ? तत्त्वं नान्यभेदः, तदग्रहेऽपि 'सोऽयम्' इति तत्ताग्रहात् । नच तद्व्यक्तिरेव तत्त्वम् , तस्य तत्राऽविशेषणत्वात् , किन्तु नियतिकृतधर्म एव, इति सिद्धं नियत्या ॥६४॥ उक्तो नियतिवादः ।

है यह प्रश्न पुनः खडा हो जाता है, अतः कार्य में साजात्य- वैजात्य का नियामक ऐसा होना चाहिये जिस के बारे में ऐसा प्रश्न न हो, और ऐसा नियामक नियति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं हो सकता ।

[कार्य अवश्यंभाव का सम्यक् निश्चय]

यह भी ज्ञातव्य है कि-'दण्ड आदि होने पर घट अवश्य होता है' यह भी सम्यक् निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि दण्ड आदि सभी हेतुओं के होने पर भी अनेक बार प्रतिबन्धक आदि वश घट की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध हो जाती है। अतः दण्ड आदि के होने पर घटोत्पत्ति की केवल सम्भावना ही मानी जा सकती हैं। इसलिये सम्यक् निश्चय के अभाव में कार्य के दृष्ट कारणों की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु 'जिसका होना नियत है वह होता ही है' यह सम्यक् निश्चय है. क्योंकि इसमें विपरीतता नहीं होतो, अतः इस निश्चय से नियति में कार्य की जनकता की सिद्धि निर्बाध है। कार्य के नियतिजन्यत्वपक्ष में यह प्रश्न हो सकता है कि-'कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कार्यार्थी को नियति का निश्चय तो होता नहीं फिर कार्य के उत्पादनार्थ उस की प्रवृत्ति कैसे होगी ?'-नियतिवादी की ओर से इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कायार्थी की प्रवृत्ति नियति का ज्ञान हुये विना ही होती है। वह 'कार्य की उत्पत्ति अवश्य होगी' इस बात के निश्चय से नहीं प्रवृत्त होता, वह तो यही सोच कर प्रवृत्त होता है कि यदि नियति होगी तो कार्य अवश्य ही होगा । अतः कार्य के लिए जो कुछ वह कर सकता है यह उसे करना चाहिये। अतः यह स्पष्ट है कि कार्यार्थी की प्रवृत्ति अविद्या से ही होती है, कार्य की सिद्धि तो नियतिवश सम्पन्न होती है ॥६३॥

[नियति विना कार्य में सर्वात्मकता की आपत्ति]

६४ वीं कारिका में पूर्वोक्त बात को विपक्ष के बाधक रूप में प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि-'यदि कार्य को नियतिजन्य न माना जायगा तो कार्य में नियतरूपता का कोई नियामक न होने से उत्पन्न होने वाले कार्यव्यक्ति में सर्वात्मकता की आपत्ति होगी, और कार्यव्यक्ति के सर्वात्मक होने पर घट पट आदि कार्यों में कोई अन्तर न रह जाने से किसो एक कार्य व्यक्ति के उत्पन्न हो जाने पर अन्य कार्य व्यक्ति भी सिद्ध हो जायगी, फिर उसके लिये मनुष्य की क्रिया निरर्थक हो जायगी, क्योंकि सिद्ध को सम्पादित करने के लिये कोई क्रिया नहीं अपेक्षित होती ।

अथ कर्मवादमाह—

मूलं—न भोक्तृव्यतिरेकेण भोग्यं जगति विद्यते ।
न चाकृतस्य भोक्ता स्यान्मुक्तानां भोगभावतः ॥६५॥

भोक्तृव्यतिरेकेण जगति=चराचरे, भोग्यं न विद्यते, भोग्यपदस्य ससंबन्धिकत्वात् । न चाऽकृतस्य भोक्ता स्यात्, स्वव्यापारजन्यस्यैव स्वभोग्यत्वदर्शनात्, अन्यथा, **मुक्तानां**=निष्ठितार्थानाम्, **भोगभावतः**=भोगप्रसङ्गात् ॥६५॥ ततः किम् ? इत्याह—

मूलम्—भोग्यं च विश्वं सत्त्वानां विधिना तेन तेन यत् ।
दृश्यतेऽध्यक्षमेवेद तस्मात् तत्कर्मज हि तत् ॥६६॥

भोग्यं च=भोगप्रयोजनं च, **सत्त्वानां**=संसारिणाम्, **तेन तेन**=सुखदुःखप्रदानादिलक्षणेन, **विधिना**=प्रकारेण, **इदं विश्वं**=जगत्, **अध्यक्षमेव**=स्वसंवेदनसाक्षिकमेव दृश्यते, यद्=यस्माद् हेतोः, तस्मात् कारणात्, हि=निश्चितम्, तत्=जगत्, **तत्कर्मजं**=भोक्तृकर्मजम् । जगद्धेतुत्वं कर्मण्येव, इतरेषां पराभिमतहेतूनां व्यभिचारित्वादिति भावः ॥६६॥ तथा—

(तत्तद्व्यक्तिरूपकार्यसिद्धि के लिये भी क्रिया अनावश्यक)

यदि यह कहें कि-"एक व्यक्ति के उत्पन्न हो जाने पर उक्त रीति से व्यक्तिरूप में सब की सिद्धि हो जाने पर भी तत्तद् व्यक्ति के रूप में तो सब की सिद्धि नहीं हो जाती अतः तद्व्यक्ति को सिद्ध करने के लिये क्रिया की अपेक्षा हो सकती है-' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ तत्ता को अन्यभेदरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि अन्यभेद का ज्ञान न होने पर भी व्यक्ति की तत्ता का 'सोऽयम्' इस रूप में भान होता है । तत्ता को तद्व्यक्तिरूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि हेतु से व्यक्ति की ही उत्पत्ति होने से उस में तत्ता विशेषण सिद्ध ही नहीं है, अतः उसे तद्व्यक्ति कह कर तत्ता को तत्स्वरूप नहीं कहा जा सकता । अतः अन्य कोई गति न होने से यही कहना होगा कि व्यक्ति की तत्ता व्यक्ति का नियतिमूलक धर्म है । नियति तत्ताविशिष्ट ही व्यक्ति को उत्पन्न करती है, अतः कार्य के नियतिजन्यत्वपक्ष में उत्पन्न होनेवाले व्यक्ति में सर्वात्मकता की आपत्ति नहीं हो सकती । अतः नियति की सिद्धि निर्विवाद है ॥६४॥ **(नियतिवाद परिसमाप्त)**

('भोग्य-भोक्ता और कृत का भोग'-कर्मवाद)

६५ वीं कारिका में कर्मवाद की स्थापना करते हुये कहा गया है कि इस चराचरात्मक जगत् में भोग्य की सत्ता भोक्ता की सत्तापर ही निर्भर है, क्योंकि 'भोग्य' यह सम्बन्धिसापेक्ष पदार्थ है अतः भोक्तारूप सम्बन्धी के अभाव में उसका अस्तित्व नहीं हो सकता । भोक्ता भी अकृतकर्म का भोग नहीं कर सकता, क्योंकि जो जिस के व्यापार से उत्पन्न होता है वही उसका भोग्य होता है । यदि अकृत कर्म का भी भोग माना जायगा तो मुक्त पुरुषों में भी भोग की आपत्ति होगी, क्योंकि जब भोग के लिये भोक्ता को कर्म करना आवश्यक नहीं है तो संसारी पुरुषों द्वारा होने वाले कर्मों का भोग मुक्त पुरुषों में क्यों न हो सकेगा ? ॥६५॥

मूलम्- न च तत्कर्मवैधुर्ये मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादिभङ्गभावेन यत् क्वचिन्नोपपद्यते ॥६७॥

न च तत्कर्मवैधुर्ये=भोक्तृगतानुकूलादृष्टाभावे, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । कथम्? इत्याह-यद्=यतो हेतोः, क्वचित्=विवक्षितस्थाने, स्थाल्यादिभङ्गभावेन, नोपपद्यते=न सिध्यति । 'दृष्टकारणवैगुण्यादेव तत्र कार्याभाव' इति चेत्? तर्हि तद्वैगुण्यं यन्निमित्तम्, तत एव कार्यवैगुण्यं न्यायप्राप्तम्, 'तद्धेतोः'० इति न्यायात् । नन्वेवं नियमतो दृष्टकारणापेक्षा न स्यादिति चेत्? न स्यादेव, तथाविधप्रयत्नं विनापि शुभादृष्टेन धनप्राप्त्यादिदर्शनात्; कर्मविपाककालेऽवर्जनीयसंनिधिकत्वेनैव तेषां निमित्तत्वव्यवहारात् । अत एव 'दृष्टकारणानामदृष्टव्यञ्जकत्वम्' इति सिद्धान्तः । तदुक्तम्-

६६ वीं कारिका मे उक्त कथन का फलितार्थ बताते हुये कहा गया है कि 'यह जगत् सुख, दुःख आदि को उत्पन्न करके ही जीवों का भोग्य होता है' यह प्राणीमात्र का अनुभव है। इसलिये यह मानना आवश्यक है कि जगत् भोक्ता के कर्मों से ही उत्पन्न होता है। जगत् की कारणता जीव-कर्मों में ही है यह मानना इस लिये भी आवश्यक हैं कि अन्य वादियों द्वारा बताये गये कारण व्यभिचरित हो जाते हैं, क्योंकि उन कारणों के रहने पर भी कभी कार्य नहीं होता और कभी उन के अभाव में भी कार्य हो जाता है। अतः यह युक्तिसिद्ध है कि जीवों का पूर्वाजित कर्म ही जगत् का उत्पादक होता है ॥६६॥

[कर्म के विरह में मूंगपाक अशक्य]

६७ वीं का रका में भी कर्मवाद की ही पुष्टि की गयी है और कहा गया है कि भोक्ता के अनुकुल अदृष्ट के अभाव में मूंग का पाक भी होता नहीं दीखता, क्योंकि यह सर्वविदित है कि कई समय मनुष्य जब मूंग पकाने चलता है तो पाकपात्र आदि का अकस्मात् भंग हो जाने से मूंग पाक नहीं हो पाता। यदि कहा जाय कि-'पाकपात्र आदि दृष्ट कारण का अभाव हो जाने से ही ऐसे स्थलों में पाक नहीं होता तो यह कहना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि दृष्ट कारण का अभाव भी तो किसी निमित्त से ही होगा और उस का जो निमित्त होगा वह कोई दृष्ट निमित्त प्रमाण सिद्ध न होने से अदृष्टरूप ही होगा, अतः उस को सीधे कार्याभाव का ही प्रयोजक मान लेना उचित है, क्योंकि यह न्याय हैं-'तद्धतोरेवाऽस्तु किं तेन ?'-जिसका अर्थ हैं कि जो कार्य अपने हेतु के हेतु से (सीधा ही) उत्पन्न होता है उसी को ही हेतु माना जाय, दूसरे को क्यों माना जाय?'-इस स्थिति में यह मानना उचित प्रतीत होता है कि कार्य अपने अभिमत हेतु के हेतु से ही सीधे उत्पन्न होता है। यदि यह आपत्ति दी जाय कि-'कार्य को साक्षात् अदृष्ट से उत्पन्न मानने पर कहीं भी दृष्ट कारण की अपेक्षा न हो सकेगी तो इस से कोई हानि नहीं है, क्योंकि कर्मवाद में दृष्ट कारण का कोई स्थान नहीं है। देखा भी जाता है कि-कभी कभी विना किसी प्रयत्न के ही मनुष्य को विपुलधन की प्राप्ति हो जाती है, अतः दृष्टपदार्थों में यदि कहीं किसी कार्य के प्रति कारणत्व का व्यवहार होता है तो इसलिये नहीं कि दृष्ट पदार्थ सचमुच कारण है किन्तु वह व्यवहार इसलिये होता है कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उनका सन्निधान अवर्जनीय होता

"यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं निधानस्थमिवाऽवतिष्ठते ।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥१॥" इति ।

न च विपाककालापेक्षणात् कालवादप्रवेशः, तस्य कर्मावस्थाविशेषरूपत्वात् । न च कर्महेत्वपेक्षावैयग्रयम्, अनादित्वात् कर्मपरम्परायाः ॥६७॥

विपक्षे बाधकमाह–

मूलं– चित्रं भोग्यं तथा चित्रात्कर्मणोऽहेतुतान्यथा ।
तस्य यस्माद्विचित्रत्व नियत्यादेर्न युज्यते ॥६८॥

तथा=प्रतिनियतरूपेण, चित्रं=नानाप्रकारम् भोग्यम्, चित्रात्कर्मणो घटते, तस्य तत्तत्कार्यजनकविचित्रशक्तियोगित्वात् । अन्यथा=चित्रकर्मानभ्युपगमे अहेतुता स्यात्, 'चित्रभोग्यस्य' इत्यनुषज्यते । 'क्वचिदुद्भूतरूपमेव, क्वचिच्चानुद्भूतरूपमेव, परमाणुसाद्भूतानां च शाल्यादिबीजानां शाल्याद्यङ्कुरजनकत्वमेव' इति नियमे परेणाऽप्यदृष्टस्यैवाऽङ्गीकारात्,

है । इसी लिये सिद्धान्त यही है कि दृष्ट कारण अदृष्ट के व्यञ्जक होते हैं न कि कार्य के वास्तव कारण । कार्य का वास्तव कारण तो अदृष्ट ही होता है ।

कहा भी गया है कि-'कोष में धन के समान पूवकृत कर्म का फल पहले से ही विद्यमान रहता है और वह जिस जिस रूप से अवस्थित रहता है उस उस रूप में उसे सुलभ करने के लिये मनुष्य की बुद्धि सतत उद्यत रहती है और उसी उसी प्रकार उसे प्राप्त करने के लिये मानों हाथ में दीप लिये आगे आगे चलती है' । 'विपाक कालकी अपेक्षा मानने पर इस मत में कालवाद के प्रवेश' की शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि काल भी कर्म को एक विशेष अवस्था ही हैं । कर्म के कारणों के विषय में भी चिन्तित होना व्यर्थ है क्योंकि कर्मपरम्परा अनादि है, अतः पूर्व पूर्व कर्म से उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नही हैं ॥६७॥

(कर्मविचित्रता से भोग्यविविधता)

६८ वीं कारिका में 'कार्य कर्महेतुक है' इस पक्षके विपरीत पक्षमें बाधक बताया गया है । करिका का अर्थ इस प्रकार है–

भोग्य पदार्थ प्रतिनियत रूप से अनेक प्रकार के होते हैं अतः उन के कारण को भी अनेक प्रकार का होना आवश्यक है क्योंकि कारण के वैचित्र्य-वैविध्य से ही कार्य में वैचित्र्य-बहुप्रकारकत्व हो सकता है, अन्यथा नहीं । कर्म में बहुविधकार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, अतः उस से बहुविध कर्म का जन्म हो सकता है । यदि बिचित्रकर्म को कारण न माना जायगा तो विचित्रकार्य की उत्पत्ति न हो सकेगी । किसी द्रव्य का रूप उद्भूत होता है और किसी का अनुद्भूत, जैसे घट, पट आदि का रूप उद्भूत और चक्षु आदि का रूप अनुद्भूत । यह विचित्रता कारणवैचित्र्य के विना नहीं उपपन्न हो सकती । शालि, यव आदि के बीज टूट कर जब परमाणु की स्थिति में हो जाते है तब उनमें शालित्व, यवत्व आदि धर्मभेद नहीं रह जाते क्योंकि द्रव्यत्वव्याप्यजाति की व्याप्य-जातियां परमाणु में नहीं मानी जाती । अतः परमाणुभूत शालि, यवादि बीजों में द्रव्यत्वव्याप्य

सर्वत्र तद्धेतुत्वस्यैवौचित्यात् । ननूक्तमेव नियत्यादेः कार्यवैचित्र्यम्,-अत एतत्पक्षेणैव प्रत्यासत्त्या प्रतिलोमक्रमेण तद्दूषणार्थमाह-तस्य=भोग्यस्य, विचित्रत्वम्, यस्माद्धेतोः, नियत्यादेः=नियत्यादिप्रयोज्यम्, न युज्यते ॥६८॥ तथाहि--

मूलं--नियतेर्नियतात्मत्वान्नियतानां समानता ।
तथानियतभावे च बलात् स्यात् तद्विचित्रता ॥६९॥

नियतेर्नियतात्मत्वात्=एकरूपत्वात्, नियतानां=तज्जन्यत्वेनाभिमतानाम्, समानता स्यात्, तथा=अदृष्टप्रकारानतिक्रमेण अनियतभावे च=असमानकार्यकारित्वे च नियतेरभ्युपगम्यमाने, बलात्=न्यायात्, तद्विचित्रता=नियतिविचित्रता स्यात् । 'घटो यदि पटजनकाऽन्यूनाऽनतिरिक्तहेतुजन्यः स्यात्, पटः स्यात्'-'घटजनकं यदि पटं न जनयेत्, पटजनकाद् भिद्येत' इति तर्कद्वयम् ॥६९॥

पृथिवीत्व जाति ही रहती है. उसकी व्याप्य शालित्व आदि जातियां नही रहती, इसलिये परमाणुभूत शालिबीजों से शालि अंकुर की ही उत्पत्ति एवं परमाणु भूत यवबीजों से यवाङ्कुर की ही उत्पत्ति का नियमन अदृष्ट द्वारा ही अन्यहेतुवादियों को भी मानना पडेगा, तो जब कुछ स्थानों में कार्य को अदृष्टजन्य मानना स्पष्ट रूप से आवश्यक प्रतीत होता है तो सर्वत्र उसी को कार्य का जनक मानना उचित है ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि नियति की चर्चा प्रस्तुत चर्चा के निकट पूर्व में होने से वह काल, स्वभाव आदि से प्रत्यासन्न है अतः आरोह-उतार के क्रम से पहले उसी की कार्यवैचित्र्य-प्रयोजकता की परीक्षा उचित है और उस परीक्षा का निष्कर्ष निश्चितरूप से यही निकलनेवाला है कि नियति आदि से भोग्यवैचित्र्य की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥६८॥

(नियति हेतुतापक्ष में कार्यसमानता की आपत्ति)

६९ वी कारिका में 'नियति से कार्य वैचित्र्य नहीं हो सकता,' इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है । कारिका का अर्थ यह है कि-

नियति की आत्मा=स्वरूप एक है अर्थात् नियति निश्चितरूप से एकस्वरूप है अतः भोग्य पदार्थों का जन्म यदि उसी से होगा तो कारण में एकरूपता होने से कार्यों में भी एकरूपता ही होगी, अनेकरूपता न हो सकेगी. जब कि कार्यो की अनेकरूपता सर्वमान्य है । अतः यदि अदृष्ट के समान उसे भी विचित्र कार्य का जनक मानना है तो विवश होकर उसे भी एकरूप न मान कर विचित्ररूप ही मानना होगा ।

यह बात दो तर्कों द्वारा सिद्ध होगी.जैसे-'घट यदि पट के कारणों से अन्यून और अनतिरिक्त कारणों से उत्पन्न होगा तो घट भी पट हो जायगा' । और 'घट का जनक यदि पट का जनन न करेगा तो पट के जनक से भिन्न होगा' । इनमें पहले तर्क का आशय यह है कि जितने कारणों से पट उत्पन्न होता है, यदि घट भी उतने ही कारणों से उत्पन्न होगा, घट के कारणों में यदि पट के किसी कारण का अभाव अथवा पट के कारणों से अतिरिक्त किसी नये कारण का सन्निवेश न होगा, तो घट भी पट ही हो जायगा, पट से भिन्न न हो सकेगा । क्योंकि कारणों में सर्वथा साम्य रहने पर कार्यों में

प्रागुक्तरीत्या कार्यवैचित्र्यनिर्वाहकतयैव नियत्यभ्युपगमाद् द्वितीये इष्टापत्तिमाशङ्क्याह-

मूलम्- **न च तन्मात्रभावादेर्युज्यतेऽस्या विचित्रता ।**
तदन्यभेदकं मुक्त्वा सम्यग्न्यायाऽविरोधतः ॥७०॥

न च=नैव, **तन्मात्रभावादेः** 'तन्मात्रभावो'=नियतिमात्रत्वम्, आदिना परिणामग्रहः, **ततोऽस्याः**=प्रतिनियतकार्यजनकनियतेः, **तदन्यभेदकं**=नियत्यन्यभेदकं **मुक्त्वा**=अनभ्युपगम्य, **सम्यग्न्यायाऽविरोधतः**=सत्तर्काऽप्रातिकूल्येन, विचित्रता स्यात् ॥७०॥

एतदेव प्रकटयन्नाह—

मूलं-न जलस्यैकरूपस्य वियत्पाताद् विचित्रता । उषरादिधराभेदमन्तरेणोपजायते ॥७१॥

जलस्य, एकरूपस्य=जलत्वेन समानस्य **वियत्पातात्**=अभ्रपातादनन्तरम्, **उषरादिधराभेदम्**=ऊषरेतरपृथिवीसंबन्धादिजन्यवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादिवैलक्षण्यमन्तरेण, विचित्रता न दृश्यते, सकललोकसिद्धं खल्वेतत् । तथा नियतेरप्यन्यभेदकं विना न भेद इति भावः ॥७१॥

अस्तु तर्हि तदन्यभेदकम्, अत्राह-

मूलम्- **तद्भिन्नभेदकत्वे च तत्र तस्या न कर्तृता ।**
तत्कर्तृत्वे च चित्रत्वं तद्वत्तस्याप्यसंगतम् ॥७२॥

वैषम्य नहीं हो सकता, अन्यथा समान कारणों से उत्पन्न होने वाले दो पटों में भी वैजात्य हो जायगा। एवं दूसरे तर्क का अभिप्राय यह है कि घट का जो कारण पटके उत्पादन में अनपेक्षित होगा वह पट के जनक से भिन्न होगा। इस प्रकार उक्त तर्कों से घट पट आदि कार्यों में विचित्रकारणजन्यत्व सिद्ध होता है, अतः एकरूप नियति से उन की उत्पत्ति मानना अयुक्त है ॥६९॥

[नियतिगत वैचित्र्य नियति से संपन्न नहीं हो सकता]

पूर्वोक्त रीति से कार्यों में वैचित्र्य की उपपत्ति के लिये ही नियति का अस्तित्व माना गया है, अतः नियति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये दूसरे पक्ष में इष्टापत्ति की शङ्का हो सकती है। ७० वीं कारिका में इस शङ्का का निराकरण करते हुये कहा गया है कि—

नियति से अन्य यदि उस का कोई भेदक न माना जायगा तो नियति के सामान्य स्वरूप से अथवा उस के परिणाम से उस में विचित्रता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि विचित्रता की सिद्धि सत्तर्क के अविरोध से ही सिद्ध हो सकती है ॥७०॥

७१ वी कारिका में इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि आकाश से जो जल बरसता है वह सब समान होता है, उस में जो वैविध्य आता है वह ऊषर और उपजाउ आदि विभिन्न भूमियों के सम्पर्क से ही होता है। जिस भूमि में जो जल गिरता है उस में उस भूमि के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का सम्बन्ध होने से मेघस्थ जल तथा अन्यत्र गिरने वाले जल से वैलक्षण्य आ जाता है इस सम्पर्क के बिना जल में वैलक्षण्य नहीं होता यह तथ्य सर्वलोकमान्य है। अतः अन्य भेदक के बिना नियति में भी वैचित्र्य नहीं हो सकता ॥७१॥

तद्भिन्नभेदकत्वे च=तद्भिन्नं भेदकं यस्यास्तस्या भावस्तत्त्वमिति समासः, नियतिभिन्नभेदकशालित्वे नियतेरङ्गीक्रियमाण इत्यर्थः तत्र=भेदकत्वेनाऽभिमते, तस्याः=नियतेः न कर्तृता=न हेतुता । तथाच सर्वहेतुत्वसिद्धान्तव्याकोपः । तत्कर्तृत्वे च=नियतेर्भेदकत्वाभिमतहेतुत्वे च, चित्रत्वं=भेदकत्वम् , तद्वत्=नियतिवत् , तस्यापि=भेदकत्वाभिमतस्यापि असंगतम् , कारणसरूपत्वात् कार्यस्येति भावः । एतेन 'तद्व्यक्तिनिरूपितनियतित्वेन तद्व्यक्तिजनकत्वम्' इत्यप्यपास्तम् , तन्नियतिजन्यत्वेन तद्व्यक्तित्व-सिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्व्यक्तिनिरूपितत्वेन नियतिजन्यतासिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रयात् कार्यस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्च, अन्यथा नियतित्वनिवेशवैयर्थ्यादिति दिग् ॥७२॥

('नियति से भिन्न भेदक' पक्ष में सर्वहेतुता विलोपन)

७२ वी कारिका में नियति की अन्य-भेद्यता का खण्डन किया गया है । कारिका का अर्थ० यदि नियति से भिन्न वस्तु को नियति का भेदक अर्थात् नियति में वैचित्र्य का सम्पादक माना जायगा तो उस भेदक को यदि नियतिजन्य न माना जायगा तो नियति में सर्वहेतुत्व का सिद्धान्त खण्डित होगा, और यदि उस भेदक को नियति से जन्य माना जायगा तो एकरूप नियति से उत्पन्न होने के कारण उस भेदक में वैचित्र्य न होगा क्योंकि 'कारण के समानजातीय ही कार्य की उत्पत्ति' का नियम है और जब भेदक स्वयं विचित्र न होगा तो उस से नियति में वैचित्र्य कैसे हो सकेगा ?

(विशिष्टरूप से कार्य-कारणभाव में असंगति)

'तद्व्यक्ति के प्रति तद्व्यक्ति-निरूपित-नियति कारण होती है,' इस कल्पना से भी नियतिजन्य कार्यों में वैचित्र्य का उपपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार का कार्यकारणभाव ही नहीं बन सकता । इस का कारण यह है कि तद्व्यक्तिनिरूपितनियतिजन्यत्व से ही तद्व्यक्तित्व की सिद्धि हो सकती है और तद्व्यक्तित्व की सिद्धि होने पर ही तद्व्यक्तिनिरूपितजन्यत्व की सिद्धि हो सकती है अतः उक्त कार्यकारणभाव अन्योन्याश्रयग्रस्त है । दूसरी बात यह है कि तद्व्यक्ति के प्रति नियति को तद्व्यक्तिनिरूपितनियतिस्वरूप से कारण मानने पर तद्व्यक्तिरूपकार्य तद्व्यक्ति के कारणतावच्छेदक कोटि में प्रविष्ट हो जाता है, जो अनुचित है, क्योंकि कार्य को कारणतावच्छेदक नहीं माना जा सकता । इसका कारण यह है कि कार्य यदि कारणतावच्छेदक होगा तो उत्पत्ति के पूर्व कारणतावच्छेदकविशिष्ट कारण की सत्ता न हो सकने से कार्य की उत्पत्ति असम्भव हो जायगी, और यदि कारणतावच्छेदक से उपलक्षित कारण से भी कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो अभिघात का कारणीभूत वेगवद्द्रव्य जब निवेग हो जायगा तब भी वेगोपलक्षित द्रव्यरूप कारण के रहने से अभिघात की उत्पत्ति की आपत्ति होगी । अतः कार्योत्पत्ति के लिये उससे पूर्व कारणतावच्छेदकविशिष्ट कारण की सत्ता आवश्यक होने से कार्य को कारणतावच्छेदक मानने पर कार्योत्पत्ति से पूर्व कार्यविशिष्टकारण की सत्ता सम्भव न होने के कारण कार्य की उत्पत्ति असम्भव हो जायगी ।

ननु नियतिस्वभावभेदादेव कार्यभेदोऽस्तु, इत्याशङ्क्याह-

मूलम्-तस्या एव तथाभूतः स्वभावो यदि चेष्यते ।
त्यक्तो नियतिवादः स्यात्स्वभावाश्रयणान्ननु ॥७३॥

यदि च तस्या एव=नियतेरेव, तथाभूतः=कार्यवैचित्र्यप्रयोजकः, स्वभावभेद इष्यते, तदा-'ननु' इत्याक्षेपे-स्वभावाश्रयणाद् नियतिवादस्त्यक्तः स्यात् । अथ तत्स्वभावस्तत्परिपाक एवेति नान्यहेतुत्वाभ्युपगम इति चेत् ? न, परिपाकेऽप्यन्यहेत्वाश्रयणावश्यकत्वात् । 'अन्यत्र

(कार्य कभी कारणतावच्छेदक नहीं हो सकता)

यदि इस शङ्का के परिहारस्वरूप यह कहा जाय कि-"कारण के साथ कार्य का जो सम्बन्ध कार्योत्पत्ति के पूर्व सम्भव नहीं हो सकता-जैसे संयोग कालिक आदि. उस सम्बन्ध से ही कार्य को कारणतावच्छेदक मानने पर यह दोष हो सकता हैं, किन्तु कार्य का जो सम्बन्ध कार्योत्पत्ति के पूर्व भी कारण में सम्भव है उस सम्बन्ध से कार्य को कारणतावच्छेदक मानने पर यह दोष नहीं हो सकता, अतः वसे सम्बन्ध से कार्य को भी कारणतावच्छेदक माना जा सकता है । प्रकृत में तद् व्यक्ति के प्रति 'निरूपितत्व सम्बन्ध से तद्व्यक्तिविशिष्ट नियति' को कारण मानना है और नियति के साथ तद्व्यक्ति को अपने हेतुभूत नियति का निरूपण करने के लिये स्वयं रहना आवश्यक नहीं है किन्तु उस का ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान तो अनुत्पन्न का भी अनुमान आदि से हो सकता है, अत तद्-व्यक्ति के प्रति तद्व्यक्तिनिरूपितनियति को कारण मानने में यह बाधा नहीं हो सकती-"तो इस कथन से भी नियति की उक्त कारणता का समर्थन नहीं हो सकता क्योंकि इस ढंग से कार्य को कारण-तावच्छेदक मानने पर कार्यवत्स्वरूप से कारण मानने में कोई आपत्ति न होने से कार्यातिरिक्त धर्मों को कारणतावच्छेदक मानना अनावश्यक हो जायगा । फलतः प्रकृत में भी कार्यनिरूपितत्वसम्बन्ध से कार्यवत्त्वेन कारणता मानने पर कारणतावच्छेदक कोटि में नियतित्व के निवेश की आवश्यकता न रह जाने से नियति की कारणता ही समाप्त हो जायगी क्योंकि कारणता कार्यवत्त्व से अवच्छिन्न है, नियतित्व से अवच्छिन्न नहीं है इसलिये जो कार्यवत्त्ववाला होगा वह कारण होगा किन्तु नियतित्व-वाला नहीं ॥७२॥

७३ वीं कारिका में 'कार्य को नियतिजन्य मानने पर भी नियति के स्वभावभेद से कार्य में भेद हो सकता है' इस शङ्का का नियति के निराकरण में पर्यवसान बताया गया है । कारिका का अर्थ-

['नियति के स्वभाव वैचित्र्य से विचित्रकार्य'-यह भी असिद्ध है]

यदि नियति में स्वभावभेद की कल्पना कर उसके द्वारा नियति के कार्यों में भेद-याने वैविध्य की उपपत्ति की जायगी तो स्वभाव का आश्रय करने से नियतिवाद का त्याग हो जायगा । यदि यह कहा जाय कि-"नियति का परिपाक ही नियति का स्वभाव है अतःवह नियतिस्वरूप ही है, इसलिये उसे कार्यवैचित्र्य का प्रयोजक मानने पर भी कार्य में अन्यहेतुकत्व की प्रसक्ति न होने से नियतिवाद का परित्याग न होगा"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नियति के परिपाक को नियतिमात्र से जन्य मानने पर नियति का परिपाक भी नियति के समान वैचित्र्यहीन ही होगा, अतः उस से भी कार्य में वैचित्र्य न हो सकेगा, और यदि उसे नियति से भिन्न हेतु से जन्य मान कर उस में वैचित्र्य माना

परिपाकविध्यदर्शनेऽपि नियतिपरिपाकः स्वभावादेवे'ति चेत् ? घट्टकुटीप्रभातापत्तिः। 'उत्तरपरिपाके पूर्वपरिपाक एव हेतुः, आद्यपरिपाके चान्तिमापरिपाक एव इत्यादिरीत्या विशिष्य-हेतु-हेतुमद्भावाद् न दोष' इति चेत् ? तर्ह्येकदैकत्र घटनियतिपरिपाकेऽन्यत्रापि घटोत्पत्तिः, प्रतिसंतानं नियतिभेदाभ्युपगमे च नियतिपरिपाकयोर्द्रव्यपर्यायनामान्तरत्व एव विवादः।

किञ्च, एवं शास्त्रोपदेशवैयर्थ्यप्रसक्तिः, तदुपदेशमन्तरेणाऽप्यर्थेषु नियतिकृतत्वबुद्धेर्नियत्यैव भावात्, दृष्टा-ऽदृष्टफलशास्त्रप्रतिपादितशुभाऽशुभक्रियाफलनियमाभावश्च स्यात्। तद्धेतुकत्वान्तर्भावितनियमस्य नियतिप्रयोज्यत्वे च सिद्धमितरहेतुना, पारिभाषिककारणत्व-प्रतिक्षेपस्याऽबाधकत्वादिति दिग् ॥७३॥

जायगा तो नियति से अतिरिक्त कारण की सिद्धि हो जाने से नियति वाद के परित्याग की आपत्ति अपरिहार्य हो जायगी। यदि यह कहा जाय कि-'अन्य परिपाकों का वैविध्य भले अन्यहेतुक हो, पर नियति का परिपाकवैविध्य अन्य हेतु से न होकर नियतिके स्वभाव से ही होता है अतः नियतिवाद का परित्याग नहीं होगा-' तो यह कथन कर-राजदेय ग्रहण के लिये घाट पर बनी कुटो में ही प्रभात होने के समान होगा, क्योंकि नियति के स्वभावभेद को ही नियतिपरिपाक के वविध्य का प्रयोजक मानने के कारण स्वभाववाद का प्रवेश हो जाने से नियतिवाद के परित्यागापत्ति का सकट पूर्ववत् पुनः उपस्थित हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि-"नियति का उत्तरपरिपाक नियति के पूर्वपरिपाक से होता है और नियति का प्रथमपरिपाक नियति के अन्तिम अपरिपाक से होता है, इस प्रकार नियतिस्वरूप 'नियति के परिपाकविशेष' से ही नियति के निर्यातस्वरूप अन्य परिपाकों की तत्तत्परिपाक-व्यक्ति पर आधारित विशेष कार्यकारणभावों से उपपत्ति हो जाने के कारण नियतिवाद के परित्याग की आपत्ति नहीं होगी-"तो यह कथन ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त कल्पना करने पर जिस समय कहीं एकत्र घटजनकनियति का परिपाक होगा उस समय अन्यत्र भी घटोत्पत्ति की आपत्ति होगी और यदि इस दोष के निवारणार्थ प्रतिसन्तान में नियतिभेद की कल्पना की जायगी तो नियति और परिपाक में द्रव्य और पर्याय से कोई अन्तर न होगा, केवल नाम में ही विवाद रह जायगा जिस का कोई महत्त्व नहीं है।

[नियति मात्र को कारण मानने पर शास्त्रवैयर्थ्य]

नियतिवाद में अब तक जो दोष बताये गये उनके अतिरिक्त एक यह भी दोष है कि नियतिवाद मानने पर कार्यों में नियतिहेतुकत्व का प्रतिपादक शास्त्र निरर्थक हो जायगा क्योंकि उक्तवाद में कार्यों में नियतिजन्यत्व का ज्ञान भी नियति से ही सम्पन्न हो जायगा। इसी प्रकार इस वाद में शास्त्र द्वारा प्रतिपादित यह नियम भी न बन सकेगा कि अमुक शुभ-अशुभकर्म से अमुक दृष्ट वा अदृष्ट फल होता है, क्योंकि इस वाद में नियति से अतिरिक्त कोई कारण मान्य न होने से शुभाशुभ कर्म को भी तत्तत्फल का कारण न माना जा सकेगा। अतः शास्त्रप्रतिपादित उक्त नियम की उपपत्ति इस वाद में सम्भव नहीं हो सकती, और यदि तत्तत् फल में तत्तत् शुभ-अशुभकर्म हेतुकत्व के नियम को भी

स्वभावाश्रयणेऽपि दोषमाह-

मूल-स्वो भावश्च स्वभावोऽपि स्वसत्तैव हि भावतः ।
तस्यापि भेदकाभावे वैचित्र्यं नोपपद्यते ॥ ७४ ॥

स्वभावोऽपि च स्वो भावः, कर्मधारयाऽऽश्रयणात् , एकपदव्यभिचारेऽपि तस्य बहुलमुपलम्भात् , अन्यभावपदार्थभ्रान्तिनिरासाय तद्विवरणमाह-हि=निश्चितम् , भावतः=अध्यक्षविषयतया स्वसत्तैव । तस्याऽपि=स्वभावस्य भेदकाभावे=वैजात्याभावे, वैचित्र्यं=कार्यवैचित्र्यप्रयोजकत्वम् , नोपपद्यते ॥ ७४ ॥

मूलं-ततस्तस्याविशिष्टत्वाद् युगपद्विश्वसंभवः ।
न चासावि [च स्यादि] ति सद्युक्त्या तद्वादोऽपि न संगतः ॥७५॥

ततः=वैचित्र्याभावात् , तस्य=स्वभावस्य, अविशिष्टत्वात्=एकरूपत्वात् , विश्वजनकत्वे, युगपत्=एकदैव, विश्वसंभवः=जगदुत्पादप्रसङ्गः । 'न 'च स्याद्'=युगपज्जग-

नियतिप्रयोज्य माना जायगा तब भी तत्तत् फल के प्रति तत्तत् शुभा-अशुभ कर्मरूप अतिरिक्त कारण सिद्ध हो जाने से नियतिवाद का लोप हो जायगा, क्योंकि उक्त नियम को नियतिप्रयोज्य मानने से तत्तत् फल में तत्तत् शुभा-अशुभ कर्मों की कारणता का पारिभाषिक ही निषेध होता है, और पारिभाषिक निषेध से वास्तविक कारणता का खण्डन नहीं हो सकता ॥७३॥

(स्वभाववाद में वैचित्र्य की अनुपपत्ति)

७४ वीं और ७५ वीं इन दोनों कारिकाओं में स्वभाववाद में दोष बताते हुये कहा गया है कि स्वभाव शब्द में 'स्वो भावः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मधारय समास है, इसमें भावपद स्वपद के अर्थ से अधिक अर्थ का बोधक होने से यद्यपि स्वपदका व्यभिचारी है, फिर भी स्वपद के साथ उस का कर्मधारयसमास हो सकता है क्योंकि 'शीतं जलं शीतजलं' इत्यादि में जैसे दोनों पदों के समव्याप्त होने पर भी कर्मधारय होता है उसी प्रकार 'नीलं कमलं नीलकमलम्, पीतम् अम्बरं पीताम्बरं' इत्यादि में दोनों पदों के परस्पर व्यभिचारी होने पर भी एकत्र सामानाधिकरण्य के आधार पर एवं 'घटश्च तद् द्रव्यम् च घटद्रव्यम्' में द्रव्यपद के घटपद का व्यभिचारी होने पर भी कर्मधारय के मान्य होने से स्व और भाव पद का भी कर्मधारय होना निर्बाध है । इस कर्मधारय के अनुसार स्वभाव शब्द का अर्थ होता है स्व से अभिन्न भाव और यह भाव प्रत्यक्षगम्य स्वसत्ता रूप ही है । इसप्रकार 'स्व' ही स्वभाव होता है और यह स्वभाव यदि भेदकहीन माना जायगा तो इस में वैचित्र्य न होने से इस से उत्पन्न होने वाले कार्यों में भी वैचित्र्य न हो सकेगा ॥७४॥

(एककाल में समस्त विश्व की उत्पत्ति का अनिष्ट)

एकरूप स्वभाव से कार्य का जन्म मानने पर केवल यही दोष नहीं हैं कि कार्य में वैचित्र्य की उपपत्ति न हो सकेगी, अपितु कार्य को उत्पन्न करने में स्वभाव को किसी अन्य की अपेक्षा न होने से स्वभाव से एक कार्य की उत्पत्ति के समय उस के साथ ही समूचे जगत् की उत्पत्ति की आपत्ति होगी,

१] 'न चासावि' ति पाठस्थाने 'न च स्यादि' ति मूलपाठः टीकाकृत्सम्मतः प्रतिभाति ।

दुत्पादः भवति, इति हेतोः, सद्युक्त्या=अबाधिततर्केण, तद्वादोऽपि=स्वभाववादोऽपि, न संगतः । ननु स्वभावस्य क्रमवत्कार्यजनकत्वमपि स्वभावादेवेति नानुपपत्तिरिति चेत् ? न, तस्यैव स्वभावस्य पूर्वोत्तरकार्यजनकत्वे पूर्वोत्तरकालयोरुत्तरपूर्वकार्यप्रसङ्गेन क्रमस्यैव व्याहतेः, एकस्यैव स्वभावस्य नानाजातिनियामकत्वे सर्वस्य सर्वजातीयत्वस्य एकजातीयत्वस्य वा प्रसङ्गात् ॥७५॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

मूलं-तत्तत्कालादिसापेक्षो विश्वहेतुः स चेन्ननु ।
मुक्तः स्वभाववादः स्यात्कालवादपरिग्रहात् ॥७६॥

"तत्तत्कालादिसापेक्षः=तत्तत्क्षणादिसहकृतः, सः=स्वभावः, विश्वहेतुः, कालक्रमेण कार्यक्रमोपपत्तेरिति"चेत् ? 'ननु' इत्याक्षेपे स्वभाववादो मुक्तः स्यात् , कालवादपरिग्रहात्=

किन्तु जगत् की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती, अत इस अबाधित तर्क से स्वभाववाद भी असंगत सिद्ध हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि-"स्वभाव का केवल कार्यजनकत्व ही स्वभाव नहीं हैं अपितु क्रमवत्कार्यजनकत्व स्वभाव है अतः स्वभाव अपने इस स्वभाव के अनुसार क्रम से ही कार्य को उत्पन्न करेगा, एकसाथ सब कार्यों को उत्पन्न न कर सकेगा, इसलिये एकसाथ समूचे जगत् की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती-"तो यह कथन ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव अपने जिस स्वभाव से क्रमयुक्तकार्य को उत्पन्न करेगा उसी स्वभाव से वह पूर्वोत्तर काल को भी उत्पन्न करेगा, फिर उसी से उत्तरकाल का पूर्व में और पूर्वकाल का उत्तर में उत्पादन हो जाने से क्रम का ही उपपादन असम्भव हो जायगा, क्योंकि जिस काल पर क्रम आधारीत होता है- उक्तरीति से वह काल ही क्रमहीन हो जाता है।

इस वाद में उक्त दोषों से अतिरिक्त एक दोष यह भी है कि जब स्वभाव ही कार्य की विभिन्न जातियों का प्रयोजक होगा तो भिन्न भिन्न कार्य में भिन्न भिन्न जाति न रह कर सब कार्यों में सभी जातियों का समावेश हो जायगा, क्योंकि सभी जातियों का नियमन अकेले स्वभाव को ही करना है और स्वभाव सब कार्यों का समान कारण है अतः उस से नियम्य सभी जातियों का सब कार्यों में समावेश न्यायप्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि-"सब कार्यों में सब जातियों का समावेश होने पर सब जातियाँ स्वनियत होगी और सामनैयत्य जातिभेद का बाधक है अतः जातिभेद न होने से कार्य में सर्वजातीयत्व का आपादन नहीं हो सकता"-तो इस कथन से भी दोष से मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि उक्तबाधक से जातिभेद न होने के कारण विभिन्न शब्दों से व्यपदेश होने पर भी सब कार्यों की एक ही जाति होगी, अतः सब कार्यों में एकजातीयत्व होने से कार्यवैचित्र्य का लोप हो जायगा ॥७५॥

(काल के अवलम्बन में स्वभाववाद का त्याग)

७६ वी कारिका में स्वभाववादि के उस अभिप्राय का निरास किया गया है जो उक्त दोष के निवारणार्थ उस की ओर से प्रकट किया जा सकता है। वह अभिप्राय यह है कि-

कालहेतुत्वाश्रयणात् । ननु क्षणिकस्वभावे नाऽयं दोष इत्युक्तमेवेति चेत् ? उक्तम्, परं न युक्तम्, एकजातीयहेतुं विना कार्यैकजात्याऽसंभवात्, कुर्वद्रूपत्वस्य च जातित्वाभावेन घटं प्रति घटकुर्वद्रूपत्वेन हेतुत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, सामग्रीत्वेन कार्यव्याप्यत्वस्य वास्तविकत्वेन गौरवस्याऽदोषत्वात्, प्रत्यभिज्ञादिबाधेन क्षणिकत्वस्य निषेत्स्यमानत्वाच्च । किञ्च, एकत्र घटकुर्वद्रूपसत्त्वेऽन्यत्र घटानुत्पत्तेर्देशनियामकहेत्वाश्रयणे स्वभाववादत्यागः, दण्डादौ घटादिहेतुत्वं प्रमायैव प्रेक्षावत्प्रवृत्तेश्च, अन्यथा दण्डादिकं विनाऽपि घटादिसंभावनया निष्कम्पप्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति दिग् । न च 'निर्हेतुका भावा' इत्यभ्युपगमेनाऽपि स्वभाववादसाम्राज्यम्, तत्र हेतूपन्यासे वदतो व्याघातात्, तदुक्तम्—

> "न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं, ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव बाधते ।
> अथापि हेतुप्रलयादसौ भवेत्, प्रतिज्ञया केवलयाऽस्य किं भवेत् ?" ।१॥ इति।

न च ज्ञापकहेतूपन्यासेऽपि कारकहेतुप्रतिक्षेपवादिनो न स्वपक्षबाधेति वाच्यम्; ज्ञानजनकत्वेनैव ज्ञापकत्वात्, अनियतावधित्वे कादाचित्कत्वव्याघातात् नियतावधिसिद्धौ तत्त्वस्यैव हेतुत्वात्मकत्वाच्च, अन्यथा, 'गर्दभाद् धूमः' इत्यपि प्रमीयेतेति । अधिकमग्रे ॥७६॥

'स्वभाव अकेला जगत् का कारण नहीं होता किन्तु तत्तत्क्षणात्मक काल के योग से तत्तत् कार्य का कारण होता है । अतः तत्तत् क्षण के क्रमिक होने से वह क्रम से ही कार्य को उत्पन्न करता है ।' किन्तु यह अभिप्राय भी स्वभाववाद को जीवित रखने में असमथ है क्योंकि ऐसा मानने पर स्वभाव से भिन्न काल में भी कार्य की कारणता सिद्ध हो जाने से–'स्वभाव से ही सब कार्यों की उत्पत्ति होती हैं स्वभाव से भिन्न कोई वस्तु कार्य का जनक नहीं होती'–इस स्वभाववाद का लोप हो जायगा ।

"स्वभाव क्षणिक होता है, क्षणिक होने से स्वभाव का क्रमिकत्व अनिवार्य है, अतः क्रमिक स्वभाव से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति मानने पर स्वभाव से भिन्न कारण की सिद्धि न होने से स्वभाववाद का भङ्ग नहीं हो सकता"-यह कथन भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि यह एक वचनमात्र हैं, इस में कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि भिन्न भिन्न स्वभाव को भिन्नभिन्न कार्य का जनक मानने पर एकजातीय कारण की सिद्धि न होने से कार्य में एकजातीयता न हो सकेगी । जब कि घट-पट आदि जैसे एक एक जाति के सहस्रों कार्य जगत् में देखे जाते हैं ।

(कुर्वद्रूपत्व का खण्डन)

'घटोत्पादक समस्त स्वभावों में घटकुर्वद्रूपत्वनाम की एक जाति मानकर तज्जातीय स्वभावों से होनेवाले घटों में एकजातीयता की उपपत्ति हो सकती है'–यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुर्वद्रूपत्व जाति में कोई प्रमाण नहीं है । वह जाति तब हो सकती है जब एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी जाय और उसीको कार्य का व्याप्य माना जाय, पर एक ही कारण से कार्य का होना असिद्ध है, कार्य की उत्पत्ति कारणसमूहात्मक सामग्री से ही होती है, सामग्री ही कार्य की याप्य होती है । सामग्री-कारणसमूह को एककारणविशिष्ट अपरकारण के रूप में व्याप्य मानने पर

अत एव कालवादोऽपि निरस्तः, इत्याह–

मूलम्–कालोऽपि समयादिर्यत्केवलः सोऽपि कारणम् ।
तत एव ह्यसंभूतेः कस्यचिन्नोपपद्यते ॥ ७७ ॥

कालोऽपि समयादिः=क्लृप्तद्रव्यपर्यायरूपः, अतिरिक्तकालपर्यायो वा; यद्-यस्माद्धेतोः ततः, तत एव=समयादेः, हि=निश्चितम्, कस्यचित्= कस्यापि, असंभूतेः=अनुत्पत्तेः,

सामग्री प्रविष्ट कारणों के विशेष्यविशेषणभाव में विनिगमना न होने से गौरव अवश्य है किन्तु प्रमाणानुमत होने से यह गौरव तो सह्य हो सकता है। पर प्रमाणशून्य होने से कुर्वद्रूपत्वको स्वीकार करने का भार दुस्सह है। दूसरी बात यह है कि कुर्वद्रूपत्वकी सिद्धि भावपदार्थ के क्षणिकत्व की सिद्धि पर निर्भर है और क्षणिकत्व पूर्वोत्तर घटादि में 'स एवायं घटः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से बाधित है।

(स्वभाववाद का खण्डन)

यह भी ज्ञातव्य है कि कुर्वद्रूपत्व की सत्ता मानकर भी स्वभाववाद की रक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि एकत्र घट कुर्वद्रूपत्व से घट की उत्पत्ति होने पर अन्यत्र भी उसी घट की उत्पत्ति की आपत्ति हो सकती है। इस आपत्ति का परिहार यदि देशनियामक अतिरिक्त हेतु की कल्पना करके किया जायगा तो स्वभाव से भिन्न हेतुके सिद्ध हो जाने से स्वभाववाद का परित्याग हो जायगा। दूसरा दोष यह है कि यदि स्वभाव ही सब कार्यों का जनक होगा तो दण्ड आदि में घट आदि की कारणता के प्रमात्मकज्ञान से दण्ड आदि के संग्रह में जो घटाद्यर्थी पुरुष की प्रवृत्ति होती है वह न हो सकेगी, क्योंकि दण्ड आदि से घट आदि के होने की सम्भावनामात्र से निष्कम्पप्रवृत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता।

['विना हेतु भावोत्पत्ति' पक्ष में वदतो व्याघात]

यदि यह कहा जाय कि–"समस्त भाव विना हेतु के ही उत्पन्न होते है; यही स्वभाव वाद का अर्थ है, अतः इस वाद में बताये गये दोषों को कोई अवसर ही नहीं हो सकता" तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'समस्त भाव विना हेतु के ही उत्पन्न होते है, इस मत को सिद्ध करने के लिये हेतु का प्रयोग आवश्यक होने के कारण यह मत कथनमात्र से ही व्याहत हो जाता है। जैसे—

यह ठीक ही कहा गया है कि–'भाव निर्हेतुक हैं' इस प्रतिज्ञा को हेतु के साथ प्रस्तुत करने पर प्रतिज्ञा को प्रस्तुत करने वाले वादो द्वारा ही प्रतिज्ञा का भङ्ग हो जाता है और हेतुहीन प्रतिज्ञा को प्रस्तुत करने पर केवल प्रतिज्ञा निरर्थक हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि–'प्रतिज्ञा का साधक हेतु ज्ञापक होता है, अतः उस से कारक हेतु का खण्डन करने वाले वादी के पक्ष का व्याघात नहीं हो सकता' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञापक भी वही होता है जो ज्ञान का कारक होता है । अतः ज्ञापक हेतु मानने पर कारक हेतु भी स्वीकृत हो जाता है, क्योंकि ज्ञान को अनियतावधिक मानने पर उस के कादाचित्कत्व का लोप होगा और नियतावधिक मानने पर उस का कारक हेतु सिद्ध हो जायगा ! क्योंकि नियतावधि ही कारक होता है इसीलिये 'गर्दभाद् धूमः' यह व्यवहार नहीं होता ॥७६॥

केवलः=अन्यानपेक्षः, सोऽपि=कालोऽपि, कारणं नोपपद्यते, विवक्षितसमये कार्यान्तरस्याऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च तत्क्षणवृत्तिकार्ये तत्पूर्वक्षणहेतुत्वाभिधानाद् न दोष इत्युक्तमेवेति वाच्यं, अग्रेभाविनस्तत्क्षणवृत्तित्वस्यैव फलत आपाद्यत्वात्, 'तत्क्षणवृत्तिकार्ये तत्पूर्वक्षणत्वेन हेतुत्वम्, तदुत्तरक्षणविशिष्टे कार्ये तत्क्षणत्वेन वा ?' इति विनिगमनाविरहाच्च ॥७७॥

दोषान्तरमाह-

मूलम्-यतश्च काले तुल्येऽपि सर्वत्रैव न तत्फलम् ।
अतो हेत्वन्तरापेक्षं विज्ञेयं तद् विचक्षणैः ॥ ७८ ॥

यतश्च काले=समयादौ, तुल्येऽपि=अविशिष्टेऽपि सति, तत्फलं=तत्कालजन्यं घटादि सर्वत्रैव न, तन्त्वादौ तदनुपपत्तेः, अतस्तत्फलं, विचक्षणैः=यौक्तिकैः, हेत्वन्तरापेक्षं=कालातिरिक्तदेशादिहेतुजन्यं, विज्ञेयम् । न च मृदोऽन्यत्र घटस्याऽनापत्तिरेव, काले हेतुसत्त्वेऽपि देशे कार्यानापत्तेरिति वाच्यम्, मृदजन्यत्वेन मृदवृत्तित्वस्याऽऽपाद्यत्वात् । मृदजन्यत्वं

(कालवाद का निरसन युगपद् सर्वकार्योत्पत्ति का अनिष्ट)

७७ वीं कारिका में कालवाद का खण्डन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

काल का अर्थ है समय; उसे प्रमाण सिद्ध द्रव्य का पर्याय रूप माना जाय, या अतिरिक्त काल-द्रव्य का उपाधिरूप माना जाय, अथवा अतिरिक्त पदार्थरूप माना जाय, किसी भी स्थिति में एक मात्र उस को ही कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारणान्तर के अभाव में केवल काल से किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती, और यदि एक मात्र काल से भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव होगी तो एक कार्य की उत्पत्ति के समय अन्य सभी कार्यों की भी उत्पत्ति की आपत्ति होगी । क्योंकि केवल काल से कार्योत्पत्ति मानने पर किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिये कोई अन्य अपेक्षणीय न होने से एक कार्य के उत्पादनार्थ उस काल के उपस्थित होने पर अन्यों की अनुत्पत्ति में कोई युक्ति प्रतीत नहीं होती । 'तत्क्षणवृत्तिकार्य के प्रति तत्क्षण का पूर्वक्षण कारण है' कालवाद के उपपादन में जो यह कार्यकारणभाव बताया गया है उस से भी आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि जब काल मात्र ही कारण माना जायगा तब सभी कार्यों में तत्क्षणवृत्तित्व की आपत्ति होगी, अतः सभी कार्यों के एकक्षणवृत्ति हो जाने से कार्यतावच्छेदककोटि में तत्क्षणवृत्तित्व का अन्तर्भाव निरर्थक होगा । इस के अतिरिक्त इस बात में कोई विनिगमना नहीं है कि तत्क्षण के पूर्वक्षण को तत्क्षणवृत्तिकार्य के प्रति तत्क्षणपूर्वक्षणत्वरूप से कारण माना जाय या तत्क्षणोत्तरक्षणवृत्तिकार्य के प्रति तत्क्षणत्वरूप से कारण माना जाय ! क्योंकि लाघव गौरव दोनों में समान है । व्यवहित तत्क्षणोत्तरक्षणवृत्तिकार्य की उत्पत्त्यापत्ति का परिहार करने के लिये दूसरे कार्यकारणभाव में कार्यतावच्छेदककोटि में जैसे तत्क्षणाव्यवहितोत्तरत्व का निवेश आवश्यक होगा, उसी प्रकार व्यवहित पूर्वक्षण से तत्क्षणवृत्तिकार्य की उत्पत्त्यापत्ति के वारणार्थ पूर्व कार्यकारणभाव में कारणतावच्छेदककोटि में तत्क्षणाव्यवहितपूर्वत्व का निवेश भी आवश्यक होगा ॥७७॥

७८ वीं कारिका से कालवाद में एक और अतिरिक्त दोष बताया गया है तथा ७९ वीं कारिका कालआदि की स्वतन्त्रकारणता की असंगति का उपसंहार किया गया है-

च जन्यतासंबन्धेन मृद्वद्भिन्नत्वम्, अतो न तर्कमूलव्याप्त्यसिद्धिः । न च तत्स्वभावत्वादेव तस्य क्वाचित्कत्वम्, फलतस्तत्स्वभावत्वस्यैवाऽऽपाद्यत्वादिति दिग् ॥७८॥

उपसंहारमाह–

मूलम्–अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम् ।
गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ॥ ७९ ॥

अतः=उक्तहेतोः, कालादयः सर्वे समुदायेन स्वस्वप्रत्यासत्त्या गर्भादेः कार्यजातस्य, न्यायवादिभिः, कारणम्=फलोपधायकाः, विज्ञेयाः ॥७९॥

इदमेव स्फुटतरशब्देनाह–

मूल–न चैकैकत एवेह क्वचित्किञ्चिदपीक्ष्यते ।
तस्मात्सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता ॥८०॥

इह=जगति, न च=नैव, एकैकत एव नियत्यादेः, क्वचित्=क्वापि किञ्चित्=किमपि घटादि, ईक्ष्यते=जायमानं प्रतीयते । तस्माद् हेतोः, सर्वस्य=घटादेः कार्यस्य, सामग्री=

(तन्तु आदि में घटोत्पत्ति का दोष)

अतिरिक्त दोष यह है कि यदि केवल काल ही घट आदि आर्यों का जनक माना जायगा तो घट की उत्पत्ति मृद् मात्र ही में न हो कर तन्तु आदि में भी होगी क्योंकि इस मत में कार्य की देशवृत्तिता का कोई नियामक नहीं है और यदि देशवृत्तिता के नियमनार्थ तत्तत्कार्य में तत्तद्देश को भी कारण माना जायगा तो कालवाद का परित्याग हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि-"काल तो काल में ही कार्य का उत्पादक है प्रतः उस से अनिष्ट देश में कार्योत्पत्ति काआपादन नहीं हो सकता"– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त आपत्ति का तात्पर्य इस आपत्ति में है कि घट यदि कालमात्र से जन्य होगा तो मृद् से अजन्य होने के कारण मृद् में भी अवृत्ति हो जायगा, क्योंकि यह व्याप्ति है कि जो जिस से जन्य नहीं होता वह उस में अवृत्ति होता है, घट में मृद् अवृत्तित्व का आपादक मृद्-अजन्यत्व है उस का अर्थ है जन्यता सम्बन्ध से मृद्वत् से भिन्नत्व, अतः मृद्जन्यत्वकी अप्रसिद्धि से मृद-जन्यत्व की भी असिद्धि होने के कारण उक्त व्याप्ति तथा आपादक का अभाव होने से उक्त आपत्ति असंगत होगी । 'घट आदि मृद्वृत्ति स्वभाव होने से मृद्वृत्ति होते हैं अन्यवृत्ति नहीं होते'–यह कथन भी पर्याप्त नहीं हो सकता क्योंकि फलतः घट आदि में मृद्वृत्तिस्वभावत्व के समान अन्यवृत्तिस्व-भावत्व ही आपाद्य है ।।७८।।

उक्त दोषों का परिहार सम्भव न होने से न्यायवादियों को यही मानना उचित है कि काल आदि अन्यनिरपेक्ष हो कर कार्य के उत्पादक नहीं होते अपितु अन्यहेतुओं के साथ सामग्रीघटक होकर कार्योत्पादक होते हैं ।।७९।।

८० वी कारिका में पूर्वकारिका की बात को ही अधिक स्फुट शब्दों में कहा गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार हैं–

कथञ्चित्तद्व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तहेतुसंहतिः, जनिका=कार्योपधायिका, मता=इष्टा । पूर्वं कारणसमुदाये कार्योपधायकत्वनियमः साधितः, इदानीं तु कार्ये कारणसमुदायोपाधेयत्वनियम इति तु तत्त्वम् ।

ननु कालाद्येकान्तप्रतिक्षेपेऽप्यदृष्टैकान्ताऽप्रतिक्षेपाद् न साध्यसिद्धिरिति चेत् ? न, अदृष्टैकान्तवादेऽनिर्मोक्षापत्तेः, मोक्षस्य कर्माजन्यत्वात् ।–"आत्मस्वरूपावस्थानरूपो मोक्षः कर्मक्षयेणाभिव्यज्यत एव, न तु जन्यत एवे"–ति चेत् ? सत्यम् , कर्मक्षयस्यैव कर्म विना

('कार्य मात्र कालादिकारण सामग्री जन्य है'-सामग्रीवाद)

नियति आदि एक एक मात्र से जगत् में किसी भी कार्य को उत्पत्ति नहीं देखी जाती किन्तु कारणसामग्री से ही देखी जाती है और कारणसामग्री तत्तत् कारण से कथंचिद् भिन्नाऽभिन्न होती है, अतः एकैक कारण भी सामग्रीविधया कार्य का कारण होता है और अन्यनिरपेक्ष एक एक व्यक्ति के रूप में अकारण भी होता है। पूर्वकारिका में कारणसमुदायात्मक सामग्री में कार्य की उपधायकता= 'अपने अव्यवहित उत्तर क्षण में कार्यवत्ता' बतायी गयी है और इस कारिका में कार्य में सामग्री की उपधेयता='सामग्री के अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पद्यमानता' बतायी गयी है, यही दोनों कारिकाओं के प्रतिपादन में अन्तर है।

[एकान्त कर्मवाद का निरसन]

'एकमात्र काल आदि की ही एकान्ततः कारणता का खण्डन होने पर भी अदृष्टमात्र की एकान्तकारणता का खण्डन न होने से सामग्री की कार्योपधायकता नहीं सिद्ध हो सकती.'–यह शङ्का करना उचित नहीं हो सकता क्योंकि केवल अदृष्ट को कारण मानने पर मोक्ष का अभाव हो जायगा, क्योंकि मोक्ष कर्मजन्य नहीं होता और कर्मवाद में कर्म से भिन्न किसी को कारण नहीं माना जाता, अतः कारण का सर्वथा अभाव हो जाने से मोक्ष का होना असम्भव हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि-'आत्मा का अपने विशुद्धरूप में अवस्थान ही मोक्ष है, कर्मक्षय से उस की अभिव्यक्ति मात्र होती है, उत्पत्ति नहीं होती, अतः कारणाभाव में भी उस का अस्तित्व अक्षुण्ण रह सकता है,'–तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि कारण का अभाव होने पर मोक्ष का अभिव्यञ्जक कर्मक्षय ही नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मक्षय भी कर्म से होता नहीं और कर्म से भिन्न कोई कारण इस मत में मान्य नहीं है।

(ज्ञानयोग ही कर्मक्षय का हेतु है)

इस सन्दर्भ में यदि यह कहा जाय कि–'कर्मक्षय में भी स्वप्रयोज्य ज्ञानयोग सम्बन्ध से पूर्वकर्म ही हेतु है, अन्य कोई हेतु नहीं है अतः कर्मक्षय के कारण द्वारा कर्मवाद का त्याग नहीं हो सकता। आशय यह है कि-कर्मों का क्षय ज्ञानयोग से होता है और ज्ञानयोग पूर्वकर्म से होता है क्योंकि मनुष्य के शुभकर्म ही उसे ज्ञानयोग के सम्पादन में प्रवृत्त करते हैं, इस प्रकार पूर्वकर्म ही ज्ञानयोग के द्वारा कर्मक्षय का हेतु होता है,'–तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जब ज्ञानयोग हुये विना कर्मक्षय नहीं होता तो उसे सम्बन्ध बना कर पूर्वकर्म को कारण मानने की अपेक्षा सीधे ज्ञानयोग को ही कर्म-क्षय का कारण मानना उचित है। अतः कर्मक्षय में अन्यहेतुकत्वसिद्ध होने से कार्यमात्र में कर्ममात्र के हेतुत्व रूप कर्मवाद का भङ्ग ध्रुव है, और यदि ज्ञानयोग का सम्बन्धरूप में ही उपयोग अभीष्ट

ऽनुत्पत्तेः। 'स्वप्रयोज्यज्ञानयोगसंबन्धेन पूर्वकर्मैव तत्र हेतुरिति चेत्? न, साक्षादेव तस्य हेतुत्वौचित्यात्, अन्यथा कर्मत्वस्यैव तेन संबन्धेन हेतुत्वप्रसङ्गात्। किञ्च, दृष्टकारणान्यनतिपत्त्याऽदृष्टस्य कार्यजनकत्वात् तेषामपि तथात्वमनिवारितम्, तद्विपाकेन तदुपक्षये तैस्तद्विपाकोपक्षयस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्, बलवत्त्वस्याऽप्युभयत्र *"अब्भंतर-बज्झाणं०" इत्यादिना महता प्रबन्धेनाऽन्यत्राऽविशेषेणैव साधितत्वादिति दिग् ॥८०॥

'अत्र कालादयश्चत्वारोऽपि स्वातन्त्र्येण हेतवः' इत्येके, 'कालादृष्टे एव तथा, नियतिस्वभावयोस्त्वदृष्टधर्मत्वेन न तथात्वम्' इत्यन्ये, इति मतभेदमाह–

मूलम्–स्वभावो नियतिश्चैव कर्मणोऽन्ये प्रचक्षते ।
धर्मावन्ये तु सर्वस्य सामान्येनैव वस्तुनः ॥८१॥

अन्ये=आचार्याः, स्वभावो नियतिश्च, एवकारस्य 'कर्मणः' इत्युत्तरं संबन्धात् कर्मण एव धर्मौ–'इति' इत्यध्याह्रियते–इति प्रचक्षते अभ्युपगमप्रकर्षेण व्याख्यान्तीति योजना ।

हो तब भी कर्मक्षय की कारणता कर्म में नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि ज्ञानयोग जैसे कर्मप्रयोज्य है, उसी प्रकार कर्मत्वप्रयोज्य भी है क्योंकि कारण और कारणतावच्छेदक दोनों ही कार्य के प्रयोजक कहे जाते हैं. अतः नाना कर्म को स्वप्रयोज्य ज्ञानयोग सम्बन्ध से कारण मानने की अपेक्षा एक कर्मत्व को स्वप्रयोज्यज्ञानयोग-सम्बन्ध से कारण मानने में लाघव है। इस प्रकार पुनः कर्मक्षय में कर्म से भिन्न कर्मत्वरूप हेतु की जन्यता सिद्ध होने से कालवाद का भङ्ग दुर्वार होगा।

[अदृष्ट को भी दृष्टकारणों की अपेक्षा]

यह भी ज्ञातव्य है कि अदृष्ट जब दृष्टकारणों की उपेक्षा न कर के ही कार्य का जनक होता है, तो अदृष्ट के समान दृष्ट कारणों में भी कार्य की जनकता का वारण नहीं हो सकता, अतः कार्यमात्र में कर्महेतुकत्व के सिद्धान्त का धराशायी होना अनिवार्य है। यदि यह कहा जाय कि-"दृष्टकारणों के सन्निधान से कर्म का विपाक होता है अर्थात् कर्म फलोपधायक होने की अवस्था से युक्त होता है तथा उस के अनन्तर क्षण में कार्य का जन्म होता है । अतः कर्मविपाक से दृष्टकारणों का उपक्षय अर्थात् उन की अन्यथासिद्धि हो जाने से वे कारण नहीं हो सकते" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टकारणों से कर्मविपाक को ही उपक्षीण- अन्यथासिद्ध कहकर उस के कारणत्व को भी असिद्धि बतायी जा सकती है ।-'कर्मविपाक आन्तर वस्तु होने से बाह्य दृष्टकारणों से बलवान् होता है अतः वही

---

* अब्भन्तर-बज्झ णं बलियाबलियत्तणं ति जइ बुद्धि । नणु कयरं अबलत्तं वेचित्तं वा वि वेसम्मं ॥४५॥
णिप्फत्ति व फलट्ठा अणियरजोगो फलेण वा सद्धिं । पढमे समसामग्गी बिइए वाबारवेसम्मं ॥४६॥
तइए दोण्ह वि समया चउत्थपक्खो पुणो असिद्धत्ति । तेण समावेक्खाणं दोण्हवि समयत्ति वत्थुठिई ॥४७॥
इत्यादि, गाथाविवृत्या 'अध्यात्ममतपरीक्षा' नाम्नि ग्रन्थे साधितं दृष्टव्यम् ।

उद्भूतरूपादिवस्तुस्वभावहेतोः स्वभावस्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनादिनियमरूपार्थं नियतेश्चाऽदृष्ट एव स्वीकारादित्याशयः । अन्ये त्वाचार्याः, **सामान्येनैव**=दृष्टा-ऽदृष्टसाधारण्येनैव, सर्वस्य वस्तुनः स्वभावो नियतिश्च धर्मौ इति 'प्रचक्षते' इति प्राक्तनेन योजना । अत्र स्वभावस्तथा-भव्यत्वात्मिका जातिः कार्यैकजात्याय, नियतिश्चातिशयितपरिणतिरूपा कार्यातिशयाय सर्वत्रो-पयुज्यत इति । अधिकमन्यत्र ॥८१॥

॥ इति श्रीपण्डितपद्मविजयसोदरपण्डितयशोविजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीकायां द्वितीयः स्तबकः संपूर्णः ॥

दृष्टकारणों का उपक्षय करेगा'–यह कहना भी युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि 'अब्भन्तर–बज्झाणं०, इत्यादि गाथा से आन्तर और बाह्य कारणों को समानबल बताया गया है ।।८०।।

[नियति और स्वभाव की हेतुता में मतान्तर]

८१ वीं कारिका में यह मतभेद बताया गया है कि कुछ विद्वानों ने काल, स्वभाव, नियति और कर्म इन चारों को स्वतन्त्ररूप से कार्यमात्र का कारण माना है और अन्य विद्वानों ने काल तथा अदृष्ट इन दोनों को ही स्वतन्त्ररूप से कार्यमात्र का कारण माना है और स्वभाव एवं नियति को अदृष्ट का धर्म मान कर उन्हें कारण नहीं माना है ।

कारिका के पूर्वार्ध में 'एव' शब्द को 'कर्मणः' के उत्तर में पढने पर कारिका का अर्थ यह होता है कि अन्य आचार्यों के कथनानुसार स्वभाव और नियति कर्म-अदृष्ट के ही धर्म हैं, क्योंकि कोई वस्तु उद्भूतरूप ही होती है और कोई वस्तु अनुद्भूतरूप ही होती है, यह नियम उन वस्तुओं के जनक अदृष्ट के स्वभाव से ही उपपन्न हो सकता है । एवं अग्नि के ऊर्ध्वज्वलन का नियम भी अग्नि के जनक नियति से ही होता है, और वह नियति अदृष्टगत होती ही है । इस के विपरीत दूसरे आचार्यों का मत है कि स्वभाव और नियति सामान्यरूप से सम्पूर्ण वस्तु के धर्म है । सामान्यरूप का अर्थ है दृष्ट और अदृष्ट सभी पदार्थ अपने स्वभाव और नियतिरूप धर्मों द्वारा सभी कार्यों के कारण होते है ।

इस मत के अनुसार 'तथाभव्यत्व' जाति ही स्वभाव है जिस से कार्यों में ऐकजात्य की उपपत्ति होती है और नियति कार्यगत ऐसी परिणति है जिससे कार्यों में अतिशय अर्थात् स्वेतरवैलक्षण्य की उपपत्ति होती है । आशय यह है कि प्रत्येक दृष्ट पदार्थ तथा अदृष्ट पदार्थ अपने तथाभव्यत्वनामक जातिरूप स्वभाव से अपने कार्यों में एकजातीयता का और अपनी अतिशयितपरिणति रूप नियति से अपने कार्यों में अतिशयात्मक वैशिष्टच का सम्पादक होता है ।।८१।।

द्वितीय स्तबक समाप्त

परिशिष्ट १–द्वितीयस्तबके मूलगाथानामकारादिक्रमः

परिशिष्ट २—टीकायामुद्धृतवाक्यांशाः

पृष्ठांकः	अकाराद्यंशः	
१८	अन्धे तमसि मज्जामः	[ ]
६७	अब्भंतर-बज्झाणं	[अध्यात्ममतपरीक्षा-४५श्लो०]
५२	अशुद्धमिति चेत्	[ ]
२२	आगमश्चोपपत्तिश्च	[ ]
७७	कः कंटकानां	[ ]
६७	कालो सहाव णियइ	[सम्मतिसूत्र १५०]
५०	चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः	[जैमिनीसूत्र १-१-२]
४७	जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः	[महाभारत-
४७	जपेनैव तु संसिध्येत्	[मनुस्मृति-
४७	ज्ञानपालीपरीक्षिप्ते	[ ]
१८	ते होंति परावेक्खा	[भाषारहस्य-३०]
२३	तत्थ य हेउवाओ०	[सम्मतिसूत्र १४०]
३७	न जातु कामः कामानां	[मनुस्मृति-]
१२	न हेतुरस्तीति वदन्	[ ]
४९	नोत्सृष्टमन्यार्थं	[अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका-११]
७९	प्राप्तव्यो नियति०	[ ]
२३	भविओ सम्मदंसण०	[सम्मतिसूत्र-१४१]
३२	मानसी वासनाः पूर्वं	[ ]
८४	यथा यथा पूर्वकृतस्य	[ ]
६४	ये चक्रुः क्रूरकर्माणः	[योगशास्त्र २-३७]
६४	वरं वराकश्चार्वाको	[" २-३८]
६४	हिंसादिसंसक्त०	[अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका-१०]

❀ शुद्धिकरण ❀

पृष्ठांक	पं०	अशुद्धिः	शुद्धिः
५	१५	से होनेसे	होने से
५	१६	सुवृद्धता	से सुवृद्धता
८	२	घटादिक	घटादि
१२	४	प्रकृतिस्य	प्रकृतिकस्य
२२	१६	प्रतिमाद्य	प्रतिपाद्य
४५	३०	वहिता	विहिता
५४	५	वावपत्तौ	वोपपत्तौ
६६	१२	वह उस	वह अधिकृत जीव उस
७५	१४	प्रयक्त	प्रयुक्त
८२	६	भागप्रयोजनं	भोगप्रयोजनं
८६	६	वयत्	वियत्
८७	२७	निवग	निर्वेग
८६	१	कविध्य	कद्वविध्य
८६	१६	से	की
६१	२५	स्वनियत	समनियत
६२	८	व्याघात्	व्याघातात्

——

卐 अर्हं 卐

❀ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ❀

तृतीयः स्तबकः



(मङ्गल)

(टी०)–सर्वः शास्त्रपरिश्रमः शमवतामाकालमेकोऽपि यत्–
साक्षात्कारकृते धृते हृदि तमो लीयेत यस्मिन्मनाक् ॥
यस्यैश्वर्यमपङ्किलं च जगदुत्पाद-स्थिति-ध्वंसनैः ।
तं देवं निरवग्रहग्रहमहाऽऽनन्दाय वन्दामहे ॥ १ ॥

[निष्कलंक ईश्वर को प्रणाम]

जिस देव का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उद्देश से शमसंपन्न साधुपुरुषों का शास्त्रसंमत संपूर्ण परिश्रम एकमात्र भगवन्मुख होकर आजीवन चलता रहता है, अर्थात् जिस के दर्शन के लिए शमसंपन्न साधुओं एकमात्र ईश्वरपरायण होकर शास्त्र की रीत से जीवन-पर्यन्त या अनेक जीवन-पर्यन्त कठोर परिश्रम करते रहते हैं और हृदय में जिसका किञ्चिन्मात्र स्फुरण हो जाने पर हृदय का संपूर्ण अज्ञान-अंधकार विलीन हो जाता है और जिसका ऐश्वर्य जगत् के उत्पादन-पालन और संहार के व्यापार से कलुषित नहीं होता–

–उस देव का हम निष्प्रतिबन्ध (निरावरण) ज्ञान युक्त महान् आनन्द के लिए अभिवादन करते हैं।

इस मंगल श्लोक से जैन दर्शन की कई महत्वपूर्ण दृष्टीयां स्पष्ट होती हैं, जैसे-वीतराग भगवान का साक्षात्कार करने के लिए साधक को सर्व प्रथम शमसंपन्न होना चाहिये। शम का अर्थ है क्रोध-लोभादिकषायों का उपशम जिसमें समाविष्ट है संसार के विषयों में आसक्ति का परित्याग। मनुष्य जब तक सांसारिक भोगों से उदासीन न होगा-या सांसारिक विषयों में जब तक उस के मन का आकर्षण शिथिल न होगा तब तक विषय जनित कषाय मंद न होने से ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए वह योग्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि शमसंपन्न होने पर भी उसे भगवन्मुख होना आवश्यक है क्योंकि शम होने पर भी यदि मनुष्य भगवन्मुख न होगा तो उस का शम स्थायी न हो सकेगा। संसार का चाकचिक्य एक दिन उसको अवश्य विचलित कर देगा, क्योंकि मनुष्य का मन सदा कोई न कोई आलंबन चाहता है। अतः उसे भगवान का आलंबन न दिया जायगा तो विवश होकर वह किसी

सामग्र्यामीश्वरोऽपि निविशत इति वार्त्तान्तरमाह—

मूलम्–ईश्वरः प्रेरकत्वेन कर्ता कैश्चिदिहेष्यते ।
अचिन्त्यचिच्छक्तियुक्तोऽनादिसिद्धश्च सूरिभिः ॥१॥

इह=सामग्र्याम्, कैश्चित् सूरिभिः=पातञ्जलाचार्यैः, प्रेरकत्वेन=परप्रवृत्तिजनकत्वेन

सांसारिक आलंबन को ग्रहण कर लेगा और फिर ईश्वर के दर्शन की आशा उसके लिए एक दिवा-स्वप्नमात्र रह जायगी । दूसरी बात यह है कि ईश्वर के दर्शनार्थ साधना करने वाले व्यक्ति का जीवन शास्त्र पर आधारित होना चाहिये और उसके समस्त व्यापार शास्त्र के विधि-निषेधों से नियन्त्रित होना चाहिए। यदि साधक के पास शास्त्र का आलोक न रहेगा तो कभी भी वह मोह के अंधकार में गिर सकता है।

तीसरी बात यह है कि साधक को अपने साधनामार्ग पर चलने के लिए बडा धैर्यवान् होना चाहिए। लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब होने पर भी उसे किञ्चित् विचलित न होना चाहिए। हो सकता है कि उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जीवन भर अथवा कई जन्मों तक अपनी आध्यात्मिक यात्रा चालु रखनी पडे।

चौथी बात और महत्व की है जो यह है कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान का किञ्चित्मात्र स्मरण होने से ही साधक का हृदयांधकार दूर हो जाता है क्योंकि उस से साधक की आशा बलवत्तर होती है। और विश्वास होता है कि अपने मार्ग पर चलने पर भगवान का आंशिक दर्शन शीघ्र भी हो सकता है और उस दर्शन से ही उसके हृदय का अज्ञान तमः दूर हो सकता है जो कि उस की अग्रिम यात्रा में उसे भयप्रद हो सकता है और निराशा के आवर्त में उद्भ्रान्त भी कर सकता है।

पांचवीं बात-जैन शासन के महान सिद्धांत का अवद्योतन करती है। वह यह कि जैन शासन में न्याय दर्शन के समान ईश्वर को जगत का कर्ता-भर्ता और हर्ता नहीं माना जाता। क्योंकि जगत उत्पादन पालन और विनाश का कर्तृत्व यदि ईश्वर में माना जायेगा तो उसमें राग द्वेषादि का सम्बन्ध अवश्य मानना होगा क्योंकि जिस में राग द्वेषादि का संबंध नहीं होता वह जीव हिंसक आरंभ समारंभादि कुछ भी व्यापार नहीं कर पाता और यदि राग द्वेष आदि होगा तो उसका ऐश्वर्य निश्चितरूप से कलंकित हो जायगा क्योंकि उस स्थिति में उस में सांसारिक की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य न होगा।

छट्ठी बात जो कही गई है उस से ईश्वर के अभिवादन का मुख्य लाभ सूचित होता है। और वह है निरावरण अनंत ज्ञान युक्त विशुद्ध अक्षय आनंद की निर्बाध प्राप्ति। इस कथन से यह संकेत किया गया प्रतीत होता है कि ईश्वर-अभिवादन से मनुष्य को यद्यपि उसके लौकिक अभीष्ट प्राप्त होते हैं किन्तु मनुष्य को उसे भगवान के अभिवादन का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। अन्यथा उस के मुख्य लक्ष्य अनंत ज्ञान व महान आनंद की प्राप्ति से मनुष्य वंचित रह जायगा। अतः लौकिक अभीष्ट को उसे आनुषंगिक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

आद्य मूल कारिका में अन्य शास्त्रों के इस मत का उल्लेख किया गया है कि जगत् की उत्पत्ति जिस कारणसामग्री से होती है उस में ईश्वर का भी समावेश है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

ईश्वरः कर्तेष्यते । कीदृशः ? इत्याह–अचिन्त्या=इन्द्रियादिप्रणालिकां विनाऽपि यथावत्सर्वविषयावच्छिन्ना या चिच्छक्तिश्चेतना, तया युक्तः-तदाश्रयः, तथा अनादिसिद्धश्च कदापि बन्धाभावात् । त्रिविधो हि तैर्बन्ध उच्यते, प्राकृतिक-वैकारिक-दाक्षिणभेदात् । तत्र प्रकृतावात्मताज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यान् प्रतीदमुच्यते—

"पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।" इति । ये तु विकारानेव भूतेन्द्रियाऽहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते, तेषां वैकारिको बन्धः, यान् प्रतीदमुच्यते–

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ १ ॥
बौद्धाः शतसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।" इति ।

इष्टापूर्ते दाक्षिणो बन्धः, पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति । इयं च त्रिविधापि बन्धकोटिरीश्वरस्य मुक्तिं प्राप्यापि भवे पुनरेष्यतां प्रकृतिलीनत्वज्ञानानां

[पातञ्जल के मतानुसार ईश्वर का स्वरूप]

पातञ्जल दर्शन में निष्ठा रखने वाले विद्वानों ने यह माना है कि जगत्उत्पादकसामग्री में ईश्वर भी प्रविष्ट है क्योंकि जगत के अन्य अचेतन कारणों का प्रेरक होने से वही जगत् का कर्ता है। उस की चेतना शक्ति अचिन्त्य है, क्योंकि इन्द्रियादि ज्ञान साधनों के विना भी संपूर्ण विषयों से उस का संबन्ध है। अर्थात् ईश्वर साधननिरपेक्ष सर्वविषयक शाश्वतज्ञान का आश्रय है और अनादिसिद्ध नित्यमुक्त है क्योंकि उस में कभी भी बन्ध संभवित नहीं है ।

कहने का आशय है कि बन्ध के तीन भेद होते हैं-(१)प्राकृतिक (२) वैकारिक (३) दाक्षिण्य ।

(तीन प्रकार का बन्ध)

जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की आत्मरूप में उपासना करते है उन्हें प्राकृतिक बन्ध होता है और वे प्रकृति में आत्मचिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्र (१००,०००) वर्ष तक प्रकृति में मुक्त कल्प होकर अवस्थित रहते हैं।

और जो प्रकृति के कार्यभूत-इन्द्रिय-अहंकार और बुद्धि तत्त्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकारिक बन्ध होता है। उन में इन्द्रिय में आत्मभाव का चिन्तन करने वाले दशमन्वन्तरकाल तक निर्दुःख रहते हैं। और भूतों का आत्मभाव से चिन्तन करने वाले भौतिक कहे जाते हैं। जो १०० सौ वर्ष तक निर्दुःख होकर रहते हैं । और अहंकार को आत्मरूप से चिन्तन करने वाले आभिमानिक कहे जाते हैं। वे सहस्रवर्ष तक निर्दुःख रहते हैं। और जो बुद्धि तत्त्व को आत्मभाव से देखते हैं और उसी के आत्मरूप में उपासक होते हैं वे सहस्र वर्ष तक दुःखमुक्त रहते हैं। इस प्रकार अनात्मा में आत्मदर्शियों की मुक्तावस्था अनित्य होती है।

१ बौद्धाः-बुद्धिशब्दाच्छैषिकोऽण् ॥

योगिनामिव नोत्तरा न वा पूर्वा संसारिमुक्तात्मनामिव, इति निर्बाधमनादिसिद्धत्वम् । तथा चाह पतञ्जलिः–"क्लेश-कर्मविपाका-ऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः(योगत्र २-४)" इति । क्लेशाः=अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः । कर्माणि शुभाऽशुभानि । तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । आशयाः=नानाविधास्तदनुगुणाः संस्काराः । तैरपरामृष्टोऽसंस्पृष्टः सर्वज्ञतया भेदाऽग्रहनिमित्त-काऽविद्याऽभावात् , तस्या एव च भवहेतुसर्वक्लेशमूलत्वात् । तथा च सूत्रम्–"अविद्या क्षेत्र-मुत्तरेषां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नो-दाराणाम्" (योगसूत्र २-४) इति । अनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था, अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यभावात् कार्याऽजननं तन्ववस्था, अभिव्यक्तस्य जनित-कार्यस्यापि केनचित् बलवता सजातीयेन विजातीयेन वा लब्धवृत्तिकेनाऽभिभवात् भविष्यद्-वृत्तिकत्वेनावस्थानं विच्छिन्नावस्था । अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन लब्धवृत्ति-कतया स्वकार्यकरत्वमुदारावस्था । तत्राद्यमवस्थाद्वयं प्रतिप्रसवाख्येन निर्बीजसमाधिना हीयते, अन्त्यं तु शुद्धसत्त्वमयेन भगवद्ध्यानेनेति । 'अविद्याऽभावात् तन्नाशजन्यं कथं तत्त्वज्ञानं तस्य ?' इति चेत् । अत एव नित्यं तत् , नित्यज्ञानवत्त्वादेव चायं कपिलप्रभृतिमहर्षीणामपि गुरुः ॥१॥

इष्ट और पूर्त्त को दक्षिण बन्ध कहा जाता है । इष्ट का अर्थ है वेद में वर्णित विविध यज्ञ और पूर्त का अर्थ है पुराणों में वर्णित परोपकार के कार्य जैसे वाटिका वावडी कूप धर्मशाला आदि का निर्माण । जो आत्मा के वास्तव स्वरूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकारक कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यों में मनोयोगपूर्वक व्यापृत होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है ।

ये तीनों बन्धों की दो कोटि होती है–पूर्व कोटि और उत्तर कोटि । वे योगी जो प्रकृति आदि में आत्मचिन्तन कर प्रकृति में लीन हो कर मुक्ति प्राप्त करते हैं उनको मुक्ति की अवधि समाप्ति होने पर संसार में पुनः आना पडता है अतः वह उक्त बन्धों की उत्तर कोटि को प्राप्त करते हैं और जो संसारी जीव आत्मा का वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार करके मुक्त होते है उन्हें उन बन्धों की पूर्व कोटि होती है, उत्तर कोटि नहीं होती, क्योंकि मुक्ति के बाद उन्हें किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता । ईश्वर में बन्ध की ये दोनों हि कोटियां नहीं होती इसलिए वह निर्बाध रूप से नित्य मुक्त होता है । जैसा कि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में कहा है कि 'जो पुरुष क्लेश-कर्म-विपाक और आशयों से कभी भी संयुक्त नहीं होता वह पुरुषविशेष ही ईश्वर है ।'

[क्लेश-कर्म और विपाक का स्वरूप]

क्लेश का अर्थ है अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष और अभिनिवेश । कर्म का अर्थ है पुण्य और पाप । विपाक का अर्थ है जन्म-आयु और भोग रूप कर्मफल । और आशय का अर्थ है जन्म आयु और भोग के प्रयोजक अनेक प्रकार के संस्कारों का निधि । ईश्वर में इन वस्तुओं का सम्पर्क नहीं होता क्योंकि वह सर्वज्ञ होता है इसलिए उस में आत्मा और अनात्म के भेद का अज्ञान नहीं होता । इसीलिए अनात्मा में आत्मा के तादात्म्य की बुद्धिरूप अविद्या भी उसमें नहीं रहती । और जब उस में अविद्या ही नहीं होती तो उसमें अन्य क्लेशों के सम्पर्क की संभावना कैसे हो सकती है ? क्योंकि अविद्या ही जगत् के हेतुभूत सम्पूर्ण क्लेशों का मूल है । जहां मूल ही नहीं है वहां उसके कार्य कैसे हो सकते हैं ?

तदिदमाह—

मूलम्-ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥२॥

यस्य=जगत्पतेर्ज्ञानम्, अप्रतिघम्=नित्यत्वेन सर्वविषयत्वात् क्वचिदप्यप्रतिहतम् । वैराग्यं च=माध्यस्थ्यं च रागाभावादप्रतिघम् । चः समुच्चयो एवोऽवधारणे, ऐश्वर्यं पारतन्त्र्याऽभावादप्रतिघम्, तच्चाष्टविधम्-अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम् वशित्वम्,

---

यह बात योगसूत्र में इस प्रकार कही गई है कि "प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ये सभी प्रकार के उत्तरभावि क्लेशों की जन्मभूमि अविद्या है। सुप्तावस्था का अर्थ है अप्रकटरूप में क्लेश की अवस्थिति, तनु अवस्था का अर्थ है प्रकट होने पर भी सहकारी कारण का संनिधान न होने से कार्य को उत्पन्न करने की असमर्थता। और विच्छिन्न वस्था का अर्थ है अभिव्यक्त होकर और अपने कार्य को उत्पन्न करके भी किसी बलवान एवं लब्धवृत्तिक सजातीय अथवा विजातीय पदार्थ से अभिभूत -वृत्तिहीन होकर भविष्य में सवृत्तिक होने के लिए अवस्थित रहना। और उदार अवस्था का अर्थ है- अभिव्यक्त होकर एवं सहकारियों का संनिधान प्राप्त कर एवं कोई प्रतिबन्धक न होने से अपने कार्य को उत्पन्न करने का अवसर प्राप्त कर अपने कार्य का सम्पादन करना। इन अवस्थाओं में पहली दो अवस्थाओं की निवृत्ति निर्बीज समाधि से होती है जिसे प्रतिप्रसव कहा जाता है। और अन्तिम दो अवस्थाओं की निवृत्ति भगवान के शुद्धसत्त्वमय ध्यान से होती है।"

ईश्वर को तत्त्वज्ञ मानने पर प्रश्न होता है कि जब ईश्वर में अविद्या ही नहीं होती तो उस में तत्त्वज्ञान कैसे होता है? क्योंकि तत्त्वज्ञान अविद्या के नाश से होता है किन्तु ईश्वर में अविद्या न होने से उस का नाश भी उसमें नहीं हो सकता और इसके फलस्वरूप तत्त्वज्ञान की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ईश्वर में अविद्या और अविद्या का नाश न होने के कारण ही उसका तत्त्वज्ञान नित्य होता है और नित्यज्ञान का आश्रय होने से ही वह कपिलादि महर्षियों का भी गुरु होता है।

दूसरी कारिका में पूर्व कारिका के कथन को ही पुष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[ईश्वर का सहजसिद्ध चतुष्टय]

ईश्वर जगत् का स्वामी है। उसका ज्ञान नित्य एवं सर्वविषयक होने से किसी काल और किसी विषय में प्रतिहत नहीं है। उसका वैराग्य-माध्यस्थ्य भी उस में राग न होने से कहीं भी प्रतिहत नहीं है। अर्थात् उसमें किसी भी चेतन अथवा अचेतन वस्तु के प्रति राग और द्वेष न होने से वह सबके प्रति तटस्थ है और उसमें किसी प्रकार की परतन्त्रता न होने से उस का ऐश्वर्य भी अप्रतिहत है।

उसके ऐश्वर्य का आठ प्रकार हैं—[1]अणिमा, [2]लघिमा, [3]महिमा, [4]प्राप्ति, [5]प्राकाम्य [6]वशित्व [7]ईशित्व [8]यत्र कामावसायित्व ।

ईशित्वम्, यत्रकामावसायित्वं चेति। यतो महानणुर्भवति सर्वभूतानामप्यदृश्यः, सोऽणिमा। यतो लघुर्भवति सूर्यरश्मीनप्यालम्ब्य सूर्यलोकादिगमनसमर्थः, स लघिमा। यतोऽल्पोऽपि [1]नाग-नगादिमानो भवति, स महिमा। यतो भूमिष्ठस्याप्यङ्गुल्यग्रे गगनस्थादिवस्तुप्राप्तिः, सा प्राप्तिः। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, यत उदक इव भूमावुन्मज्जति निमज्जति च। वशित्वम्-यतो भूत-भौतिकेषु स्वातन्त्र्यम्। ईशित्वम्-यतस्तेषु [2]प्रभव-स्थिति-व्ययानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वम्-यतः सत्यसंकल्पता भवति, यथेश्वरसंकल्पमेव भूतभावादिति। धर्मश्च प्रयत्न-संस्काररूपोऽधर्माभावादप्रतिघः। एतच्चतुष्टयं सहसिद्धम्-अन्यानापेक्षतयाऽनादित्वेन व्यवस्थितम्। अत एव नेश्वरस्य कूटस्थताव्याघातः, जन्यधर्माऽनाश्रयत्वादिति बोध्यम् ॥२॥

तस्य कर्तृत्वे युक्तिमाह—

(१) जिस शक्ति से महान वस्तु अणु हो कर अन्य प्राणियों के लिए अदृश्य बन जाती है वह शक्ति अणिमा कही जाती है।

(२) जिस शक्ति से गुरु वस्तु लघु हो कर सूर्य की किरणों के सहारे सूर्यलोक आदि तक जाने में समर्थ हो जाती है वह शक्ति लघिमा कही जाती हैं।

(३) जिस शक्ति से लघु परिमाण की वस्तु हाथी और पर्वत आदि के समान विराट हो जाती हैं वह शक्ति महिमा कही जाती हैं।

(४) जिस शक्ति से भूमि में स्थित भी मनुष्य अपनी अंगुलो के अग्र भाग से आकाशस्थ वस्तु का स्पर्श कर सकता है वह शक्ति 'प्राप्ति' कही जाती हैं।

(५) प्राकाम्य का अर्थ है इच्छा का अभिघात न होना। इस शक्ति से मनुष्य जल के समान स्थल में भी भीतर और बाहर आ जा सकता है।

(६) वशित्व का अर्थ है भूत और भौतिक वस्तुओं के विषय में स्वातन्त्र्य। इस शक्ति से मनुष्य भूत और भौतिक पदार्थों का यथेष्ट विनियोग कर सकता है।

(७) ईशित्व का अर्थ है वह सामर्थ्य जिस से मनुष्य भूत और भौतिकों के उत्पादन पालन और विनाश करने में समर्थ होता हैं।

(८) यत्र कामावसायित्व का अर्थ है सत्य संकल्पता। इसी शक्ति के कारण जगत् के सम्पूर्ण भूत और भौतिक पदार्थ ईश्वर के संकल्पानुसार ही होते हैं।

धर्म का अर्थ है प्रयत्नरूप संस्कार। ईश्वर में अधर्म नहीं होने से उस का धर्म भी पूर्ण रूप से अप्रतिहत होता है।

इस प्रकार ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य और धर्म-ये चारों चीजें ईश्वर में सहसिद्ध—नित्य सिद्ध हैं अर्थात् अन्य निरपेक्ष होने के कारण ये चारों अनादि हैं। इसीलिए ईश्वर की कूटस्थता भी व्याहत नहीं होती है, क्योंकि वह जन्य धर्म का आश्रय नहीं होता।

तीसरी कारिका में ईश्वर के कर्तृत्व की साधक युक्ति बताई गई हैं। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

१ नागो-हस्ती, नगः-पर्वतः। २ "स्मृत्यर्थदयेशः" ॥ २।२।११॥ इति सूत्रेण कर्मसंज्ञाया विकल्पेन पक्षे षष्ठी।

मूलम्-अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥३॥

अयं=संसारी जन्तुः, आत्मनः सुख-दुःखयोर्जायमानयोः, अनीशः=अकर्ता, यतोऽज्ञः =हिताऽहितप्रवृत्ति-निवृत्त्युपायानभिज्ञः, अतः स्वर्गं वा, श्वभ्रमेव वा=नरकमेव वा, ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, अज्ञानां प्रवृत्तौ परप्रेरणाया हेतुत्वावधारणात्, पश्वादिप्रवृत्तौ तथादर्शनात्, अचेतनस्यापि चेतनाधिष्ठानेनैव व्यापाराच्च । अत एव-

"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥१॥" [गीता-]

इत्यागमेन सर्वाधिष्ठानत्वं भगवतः श्रूयते, इति पातञ्जलाः ।

नैयायिकास्तु वदन्ति-

"कार्या-ऽऽयोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥१॥" [न्या०कु०५-१] इति ।

(पातञ्जलमतानुसार ईश्वर का जगत्कर्तृत्व)

संसारी जीव को अपने सुखदुःख के उपाय का ज्ञान नहीं होता। 'क्या करने से उस का हित होगा और क्या करने से उस का अहित होगा ?' इस बात को वह स्वयं नहीं सोच पाता । इसलिये अपने सुखदुख का वह कर्ता नहीं हो सकता । अतः एव यह मानना आवश्यक है कि जीव ईश्वर की प्रेरणा से ही ऐसे कर्म करता है जिन से स्वर्ग अथवा नरक की प्राप्ति होती है, क्योंकि अज्ञों की प्रवृत्ति में यह प्रेरणा ही कारण होती है-यह सर्व विदित है । पशु आदि की प्रवृत्ति लोक में प्रेरणा से ही देखी जाती है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि-जीव अपने सुख-दुख का उपाय न जानने के कारण अपने सुख-दुख का संपादन स्वयं भले न कर सके परन्तु प्रकृति अथवा बुद्धि के व्यापार से उसे सुख-दुख होने में कोई बाधा नहीं हो सकती' । यह कहना इसलिये संभव नहीं हैं कि प्रकृति एवं बुद्धि स्वभावतः अचेतन होती है, अत एव चेतन के सम्पर्क के विना वह भी सव्यापार नहीं हो सकती क्योंकि लोक में चेतन बढई आदि के सम्पर्क से ही अचेतन कुठारादि में काष्ठच्छेदन के व्यापार का होना देखा जाता हैं । इसीलिए गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा हैं कि-प्रकृति सर्वाध्यक्षभूत हमारे सम्पर्क से ही चराचरात्मक जगत् का सर्जन करती है । मैं ही तापक हूं और मैं ही जल के अवर्षण और वर्षण का कारण हूँ ।'

ईश्वर के कर्तृत्व के सम्बन्ध में पातञ्जलों का यही संक्षिप्त दृष्टिकोण है ।

(जगत्कर्तृत्व में नैयायिकों का अभिगम)

नैयायिकों का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण दूसरा है । वह ईश्वर को परप्रेरक के रूप में कर्ता न मानकर साक्षात् उसी को विश्व का कर्त्ता मानते हैं। उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलिग्रन्थ में 'कार्यायोजनधृत्यादेः०' इस कारिका से ईश्वर में कर्तृत्व में सिद्ध करने वाले अनेक अनुमानों का

अस्याऽर्थः-कार्यादीश्वरसिद्धिः, 'कार्यं सकर्तृकम् कार्यत्वात्' इत्यनुमानात्। न च कार्यत्वस्य कृतिसाध्यत्वलक्षणस्य क्षित्यादावसिद्धिरिति वाच्यम्, कालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वे सति, प्रागभावप्रतियोगित्वे सति, ध्वंसप्रतियोगित्वे सति वा सत्त्वस्य हेतुत्वात्। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्च न कार्यस्य घटादेः सकर्तृकत्वसिद्ध्याँऽशतः सिद्धसाधनम्, न वा पक्षतावच्छेदकस्य हेतुत्वं दोषः, 'कार्यत्वं साध्यसमानाधिकरणम्' इति सहचारग्रहेऽपि 'कार्यं सकर्तृकम्' इति बुद्धेरभावाच्च।

संकेत किया है। उन में कार्य से ईश्वर का अनुमान पहला अनुमान है जिस का प्रयोग इस प्रकार होता है-

[कार्य-हेतुक अनुमान]

'कार्य सकर्तृक होता है क्योंकि वह कार्य है'-इस अनुमानप्रयोग के द्वारा 'कार्य' हेतु से ईश्वर की सिद्धि होती है। इस पर यह शंका हो सकती है कि—'कार्यत्व हेतु का अर्थ है कृतिसाध्यत्व और वह पक्ष के अन्तर्गत आनेवाले क्षित्यादि में असिद्ध है। इसलिए कार्यत्व हेतु के भागासिद्ध हो जाने से उससे संपूर्ण कार्य में सकर्तृकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसके लिये समस्त कार्य में हेतु का होना आवश्यक है"।-किन्तु यह शंका कार्यत्व हेतु का निम्नोक्त रूप में निर्वचन कर देने पर निर्मूल हो जाती है। जैसे-कार्यत्व का अर्थ है कालवृत्ति-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होते हुए भावात्मक होना। इस प्रकार का कार्यत्व क्षित्यादि में विद्यमान है क्योंकि क्षित्यादि भावात्मक है और क्षित्यादि उत्पत्ति के पूर्वकाल में और क्षित्यादिविनाशकाल में उसका अत्यन्ताभाव होने से वह कालवृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। कार्यत्व के इस परिष्कृत स्वरूप में सत्त्व-भावात्मकत्व का संनिवेश ध्वंस में व्यभिचार वारण करने के लिये आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि-"प्राचीन नैयायिक मत में ध्वंस और प्रागभाव के साथ अत्यन्ताभाव का विरोध होने से क्षित्यादि का अत्यन्ताभाव उस के उत्पत्ति के पूर्वकाल तथा विनाशकाल में नहीं रह सकता क्योंकि पूर्वकाल में उस के अत्यन्ताभाव का विरोधी उसका प्रागभाव और विनाशकाल में अत्यन्ताभाव का विरोधी ध्वंस विद्यमान होता है। क्षित्यादि के अस्तित्वकाल में भी क्षित्यादि का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता क्योंकि उस समय क्षित्यादि स्वयं ही अपने अत्यन्ताभाव का विरोधी विद्यमान होता है। अतः क्षित्यादि में कालवृत्तिअत्यन्ताभावप्रतियोगित्व संभव न होने से उक्त कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है। नवीन नैयायिक मत में भी उक्त कार्यत्व हेतु से सकर्तृत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि 'नित्यद्रव्य कालिक सम्बन्ध से किसी में भी नहीं रहता' इस मत के अनुसार नित्यद्रव्य कालवृत्तिअत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भावात्मक वस्तु है किन्तु सकर्तृक नहीं है। इस प्रकार नित्यद्रव्यों में उक्त कार्यत्व हेतु में सकर्तृकत्व का व्यभिचार स्पष्ट है।

(कार्यत्व प्रागभावप्रतियोगिसत्त्व)

इस दोष का परिहार करने के लिये कार्यत्व को 'प्रागभाव-प्रतियोगित्वे सति सत्त्व' के रूप में परिष्कृत करना आवश्यक है, किन्तु प्रागभाव न मानने वाले दीधितिकार आदि के मत में प्रागभाव घटित हेतु असिद्ध हो जाने से उक्तानुमान के द्वारा क्षित्यादि सकर्तृकत्व की सिद्धि नहीं होती। तथापि 'ध्वंस प्रतियोगित्वे सति सत्त्व' को कार्यत्व मानकर उस से संपूर्ण कार्य में सकर्तृकत्व का अनुमान करने में कोई

ननु तथापि सकर्तृकत्वं यदि कर्तृसाहित्यमात्रम्, तदाऽस्मदादिना सिद्धसाधनम्, यदि च कर्तृजन्यत्वम् तदा बाधोऽपि, ज्ञानादेरेव जनकतया कर्तुरजनकत्वादिति चेत् ? न, प्रत्यक्षजन्यत्वत्वेच्छाजन्यत्वत्वादिना साध्यतायामदोषात् । अदृष्टाऽद्वारा जन्यत्वस्य विशेष्यता-संबन्धावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकसमवायावच्छिन्नजन्यत्वस्य वा साध्यत्वाच्च नाऽदृष्टजनका-स्मदादिज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरं वा ।

बाधा नहीं हो सकती है । यद्यपि-पक्षान्तर्गत आनेवाले घटादि कार्यों में सकर्तृकत्व की सिद्धि होने से अंशतः सिद्धसाधन होता है अर्थात् कार्यत्वरूप पक्षतावच्छेदक के आश्रय विशेष में सकर्तृत्वरूप साध्य की सिद्धि होने से कार्य में सकर्तृकत्व अनुमान का प्रतिरोध प्रसक्त होता है-किन्तु प्रस्तुत अनुमान में उसे दोष नहीं माना जाता है क्योंकि प्रस्तुत अनुमान में पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्या-नुमिति अर्थात् यावत् पक्ष में साध्यानुमिति उद्दिष्ट है और यावत् पक्ष में साध्यानुमिति के प्रति यावत् पक्ष में साध्य की सिद्धि ही प्रतिबन्धक होती है न कि यत्किञ्चित् पक्ष में साध्य की सिद्धि ।

उक्तानुमान में यह भी शंका हो सकती है कि-'पक्षतावच्छेदक और हेतु एक है इस लिये हेतु में साध्य का व्याप्तिज्ञान साध्यसिद्धि रूप हो जायगा क्योंकि साध्य की व्याप्ति साध्यसामानाधिकरण्य से घटित होती है और पक्षतावच्छेदकात्मक हेतु में साध्यसामानाधिकरण्य का ज्ञान पक्ष में साध्यवत्त्व के ज्ञान होने पर ही संभव है अतः हेतु में साध्य का व्याप्तिज्ञान साध्यसामानाधिकरण्य कुक्षि में पक्ष में साध्यप्रकारक होने से साध्यसिद्धि रूप हो जायगा । अतः व्याप्तिज्ञान के द्वारा सिद्धसाधन की आपत्ति होगी" ।-किन्तु विचार करने पर यह शंका उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि साध्यसामा-नाधिकरण्य की कुक्षि में पक्ष में साध्य का ज्ञान निर्धर्मतावच्छेदक होता हैं अर्थात् पक्षतावच्छेदकरूप से पक्ष में साध्यसम्बन्ध का भान नहीं होता है अतः एव व्याप्तिज्ञानात्मक साध्यसिद्धि से पक्षतावच्छेदकाव-च्छिन्न में साध्यानुमिति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता. क्योंकि तद्धर्मावच्छिन्न विशेष्यक साध्यानुमिति के प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकसाध्यनिश्चय को ही सिद्धिविधया प्रतिबन्धकत्व न्यायप्राप्त हैं ।

[सकर्तृकत्व-कर्तृसाहित्य या कर्तृजन्यत्व ?]

प्रस्तुत अनुमान में यह शंका होती है कि-"सकर्तृकत्व रूप साध्य का अर्थ यदि कर्तृसाहित्य किया जायगा तो जीवात्मा से सिद्धसाधन हो जायगा, क्योंकि कर्त्ता शब्द से जीवात्मा का समान-कालिकत्व या समानदेशत्व ग्रहण करने पर भो कर्त्ता का उक्तस्वरूप कर्तृसाहित्य कार्यमात्र में उपपन्न हो जाता है । और यदि सकर्तृकत्व का अर्थ कर्तृजन्यत्व माना जायगा तो कार्य के प्रति कर्तृगतज्ञान आदि के ही कारण होने से कर्ता को कार्य का अजनक होने के कारण कर्तृजन्यत्वरूप साध्य की अप्र-सिद्धि हो जायगी । और यदि सकर्तृकत्व का अर्थ जन्यतासम्बन्ध से कर्तृमत्त्व किया जायगा तो कर्त्ता कार्य का अजनक होने के कारण जन्यत्व कर्त्ता का व्यधिकरण सम्बन्ध होगा इसलिए कार्य में जन्यत्व-सम्बन्ध से कर्त्ता का अभाव होने से बाध हो जायगा । अतः प्रस्तुत अनुमान का समर्थन अशक्य है-" किन्तु यह शंका अनवकाश है क्योंकि प्रत्यक्षजन्यत्व, इच्छाजन्यत्व अथवा कृतिजन्यत्व को साध्य मान लेने पर उक्त दोष का परिहार हो सकता हैं ।

कार्यमात्र में अदृष्ट द्वारा जीवात्मा के प्रत्यक्षजन्यत्व, इच्छाजन्यत्व अथवा कृतिजन्यत्व के द्वारा सिद्धसाधन का या जीवात्मा के प्रत्यक्षादि को कार्य मात्र के प्रति किसी साक्षात् सम्बन्ध

अथात्र शरीरजन्यत्वमुपाधिः, अङ्कुरादौ साध्यव्यापकतासंदेहे संदिग्धोपाधितासाम्राज्यात् , तदाहितव्यभिचारसंशयेनाऽनुमानप्रतिरोधात्, लाघवाद् व्यभिचारज्ञानत्वेनैव व्याप्तिधीविरोधित्वात् , पक्ष-तत्समयोरपि व्यभिचारसंशयस्य दोषत्वादिति चेत् ? न, प्रकृते ज्ञानत्वादिकार्यत्वाभ्यां हेतु-हेतुमद्भावनिश्चयात् , लाघवतर्कावतारे तदुपाधिसंशयस्याऽविरोधित्वात् , अनुकूलतर्कानवतार एव संदिग्धोपाधेर्व्यभिचारसंशयाधायकत्वात् , अन्यथा पक्षेतरत्वोपाधिशङ्कया प्रसिद्धानुमानस्याऽप्युच्छेदप्रसङ्गात् इत्येके।

से कारण मानकर सिद्धसाधन अथवा अर्थान्तर की आपत्ति का परिहार करने के लिये अदृष्टाद्वारक-प्रत्यक्षादिजन्यत्व को अथवा विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न प्रत्यक्षादिनिष्ठकारणता निरूपितसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नजन्यत्व को साध्य मानना आवश्यक है।

कहने का आशय यह है कि यदि सामान्यरूप से प्रत्यक्षादिजन्यत्व को साध्य माना जायगा तो जीवात्मा के प्रत्यक्षादि द्वारा सिद्धसाधन होगा, क्योंकि जीवात्मा के अदृष्ट से ही समस्त कार्य की उत्पत्ति होती है। और वह अदृष्ट जीवात्मा के प्रत्यक्ष इच्छा और कृति से होनेवाले विहित-निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न होता है। अतः कार्यमात्र में पूर्वसृष्टि में होनेवाले जीव के प्रत्यक्षादि की अदृष्ट द्वारा जन्यता सिद्ध होने से सिद्धसाधन होगा;

अदृष्टाऽद्वारक प्रत्यक्षादि जन्यत्व को साध्य मानने पर इस दोष का परिहार होने पर भी जीव के पूर्वसृष्टिगत प्रत्यक्षादि को स्वध्वंस द्वारा नूतनसृष्ट का कारण मान लेने पर कार्यमात्र में जीव के अदृष्टाऽद्वारक प्रत्यक्षादिजन्यत्व सिद्ध हो जाने से अर्थान्तर हो सकता है। अतः समवायसम्बन्ध से कार्य मात्र के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से कर्तृगत उपादान का प्रत्यक्ष, उपादान में कार्य की चिकीर्षा और उपादानविषयक कृति कारण होती है। इस कार्यकारणभाव के आधार पर विशेष्यत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रत्यक्षादिनिष्ठकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्यत्व को साध्य मानना आवश्यक है। ऐसा मानने पर पूर्वसृष्टिगत जीवात्मा के प्रत्यक्षादि के द्वारा सिद्धसाधन नहीं हो सकता, क्योंकि द्व्यणुकादि के उपादानकारण परमाणु आदि का प्रत्यक्ष जीव को पूर्व सृष्टि में भी नहीं होता और यदि कथञ्चित् अलौकिक प्रत्यासत्ति से परमाणु आदि का प्रत्यक्ष जीव को माना जाय तो वह नवीन सृष्टि में होनेवाले द्व्यणुकादि का विशेष्यतासम्बन्ध से कारण न हो सकेगा क्योंकि विशेष्यता ज्ञानसमान-कालीन होती है। अतः नवीन सृष्टि के पहले पूर्वसृष्टि का जीवगतप्रत्यक्ष विशेष्यतासम्बन्ध से द्व्यणु-कादि के उपादान कारणों में नहीं रह सकता, इसलिये जीवात्मा के प्रत्यक्षादि को लेकर कार्यमात्र में इस परिष्कृत प्रत्यक्षादिजन्यत्वरूप साध्य के सम्भव न होने से जीवात्मा के प्रत्यक्षादिद्वारा सिद्धसाधन या अर्थान्तर नहीं हो सकता।

[शरीरजन्यत्व उपाधि शंका का समाधान]

इस सन्दर्भ में यह शंका हो सकती है-"कार्यत्व हेतु शरीरजन्यत्व रूप उपाधि से ग्रस्त है क्योंकि सकर्तृकत्वरूपसाध्य घटपटादि जिन कार्यों में सिद्ध है उन में शरीरजन्यत्व भी सिद्ध है, अतः शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्व रूप साध्य का व्यापक है। एवं कार्यत्व के आश्रय अङ्कुरादि में शरीरजन्यत्व का अभाव होने से वह कार्यत्वरूप साधन का अव्यापक भी है। अतः उपाधिग्रस्त होने के कारण प्रस्तुत

परे तु- स्वोपादानगोचरा स्वजनकाऽदृष्टाऽजनिका या कृतिस्तदजन्यं समवेतं जन्यं स्वोपादानगोचरस्वजनकादृष्टजनकान्याऽपरोक्षज्ञान-चिकीर्षाजन्यम्, कार्यत्वात् । घटादावंशतः

अनुमान से वादि के अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि-'अङ्कुरादि में सकर्तृकत्व का सन्देह है किन्तु शरीरजन्यत्व का अभाव निश्चित है अत: शरीरजन्यत्व में साध्यसकर्तृकत्व की व्यापकता का निश्चय न हो सकने से शरीरजन्यत्व उपाधि नहीं हो सकता ।-' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निश्चित उपाधि न होने पर भी अङ्कुरादि द्वारा शरीरजन्यत्व में साध्य व्यापकता का सन्देह होने से सन्दिग्धोपाधि का होना अनिवार्य है । यदि यह शंका की जाय-'सन्दिग्धोपाधि होने से भी कोई दोष नहीं हो सकता क्योंकि सन्दिग्धोपाधि के व्यभिचारसन्देह से हेतु में साध्यव्यभिचार का सन्देह ही हो सकता है. निश्चय नहीं हो सकता । और व्यभिचार संदेह व्याप्तिज्ञान विरोधी न होने से हेतु में साध्यव्याप्ति का निश्चय हो कर अनुमिति के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि व्याप्ति ज्ञान के प्रति व्यभिचारनिश्चयत्वरूप से व्यभिचारज्ञान को प्रतिबन्धक मानने में गौरव है । अत: लाघव की दृष्टि से व्यभिचारज्ञानत्वरूप से ही व्यभिचारज्ञान व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक है अत: एव व्यभिचारसंशय से भी व्याप्तिनिश्चय का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण सन्दिग्धोपाधि का भी अनुमानविरोधित्व अपरिहार्य हैं । यद्यपि सन्दिग्धोपाधि के व्यभिचार के संशय से हेतु में साध्यव्यभिचार का संशय पक्ष में ही होगा, तो भी कोई हानि नहीं है क्योंकि पक्ष और पक्षसन्देह के द्वारा भी हेतु में साध्यव्यभिचार का संशय अनुमान में दोष रूप हो सकता हैं ।

यदि यह शङ्का की जाय "पक्ष में साध्य का संशय होने के कारण पक्ष द्वारा सर्वत्र ही हेतु में साध्यव्यभिचार का सन्देह हो सकता हैं. अत: व्यभिचार संशय को अनुमान का दोष मानने पर अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष में साध्यनिश्चय की दशा में हेतु में साध्यव्यभिचार का संशय न होने से सिषाधयिषा से पक्ष में साध्यानुमान हो सकता हैं. क्योंकि अनुमिति में पक्षताविधया सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव ही कारण होता हैं । फलत: शरीरजन्यत्व रूप उपाधि से ग्रस्त होने से प्रस्तुत अनुमान द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने की आशा करना दुराशा मात्र है।"

-किन्तु विचार करने पर इस अनुमान में शरीरजन्यत्व को लेकर उपाधिग्रस्तता की शङ्का का औचित्य सिद्ध नहीं होता । क्योंकि कार्यसामान्य और ज्ञानादिसामान्य में कार्यत्व और ज्ञानत्व आदि रूप से कार्य कारणभाव निश्चित है, क्योंकि इस कार्य-कारण भाव में लाघव है । और इस लाघव तर्क के कारण उपाधिसंशय कार्यत्व में ज्ञानादिजन्यत्व की व्याप्ति के निश्चय में बाधक नहीं हो सकता। सन्दिग्धोपाधि से हेतु में साध्यव्यभिचार का संशय उसी दशा में होता है जब हेतु में साध्यव्याप्ति-का निश्चायक कोई अनुकूल तर्क न हो। और यदि अनुकुल तर्क रहने पर भी सन्दिग्धोपाधि से हेतु में साध्यव्यभिचार का संशय होगा तो पक्षेतरत्वरूप उपाधि की शङ्का होने से पर्वत में वह्नि के प्रसिद्ध अनुमान का भी उच्छेद हो जायगा। इस प्रकार विचार करने से प्रस्तुत अनुमान के प्रयोग में कोई दोष नहीं है । ऐसा कितनेक विद्वान् कहते हैं ।

(सकर्तृकत्व-स्वोपादानगोचरस्वजनकादृष्टाऽजनकप्रत्यक्षादिजन्यत्व)

अन्यविद्वान् 'कार्यं सकर्तृकं, कार्यत्वात्' इस अनुमान की व्याख्या इस रूप में करते हैं कि प्रकृत अनुमान में संपूर्ण कार्य पक्ष नहीं है किन्तु वह कार्य पक्ष है जो समवेत होता है और अपने

सिद्धसाधनवारणाय तदजन्यान्तम्, तादृशकृतिजन्यं यत् यत्स्वं तद्भिन्नत्वं तदर्थः; नातो द्व्यणुकादेरुपादानगोचरतादृशकृत्यप्रसिद्ध्या पक्षत्वाभावप्रसङ्गः। तत्र शब्द-फूत्कारादेरपक्षत्वे संदिग्धसाध्यकत्वेन तत्राऽनैकान्तिकत्वसंशयः स्यात्, अतः प्रतियोगिकोटौ गोचरान्तम्; शब्दादेर्मृदङ्गादिगोचरतादृशकृतिजन्यत्वेऽपि न स्वोपादानगोचरतादृशकृतिजन्यत्वमिति न

उपादान कारण विषयक ऐसी कृति से अजन्य होता है जो उसके जनक अदृष्ट की उत्पादक नहीं होती। ऐसे कार्य को पक्ष बनाने के लिये स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनककृति अजन्य समवेतजन्यत्व को पक्षतावच्छेदक मानना आवश्यक होता है। और इस प्रकार के धर्म को पक्षतावच्छेदक बनाने पर सकर्तृकत्वरूप साध्य के स्वरूप को भी बदलना होता है। फलतः सकर्तृकत्व का अर्थ हो जाता है स्वोपादान-गोचरस्वजनकअदृष्टाऽजनकप्रत्यक्षादिजन्यत्व। इस का आशय यह है कि जो कार्य स्वोपादनगोचर और स्वजनकअदृष्टाऽजनककृति से अजन्य होते हुये समवेत होता है वह स्वोपादानगोचर और स्वजनकअदृष्टाजनक प्रत्यक्ष से जन्य होता है। उक्त मूल अनुमान की इस प्रकार व्याख्या कर देने पर पक्षतावच्छेदक का जो स्वरूप प्रस्तुत होता है उस में तीन अंश है जैसे स्वोपादानगोचरस्वजनकअदृष्टाजनककृत्यजन्यत्व, समवेतत्व और जन्यत्व।

इन में प्रथम अंश का त्याग कर देने पर घटादि कार्य भी पक्षान्तर्गत हो जाता है और उन में सकर्तृकत्व सिद्ध है इसलिये अंशतः सिद्धसाधन अर्थात् पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि रूप बाधक की उपस्थिति से अनुमितिप्रतिरोध की आपत्ति होती है। इस दोष के परिहार के लिये अजन्यत्व-पर्यन्त अंश का पक्षतावच्छेदक कोटि में सनिवेश आवश्यक है। इस अंश का संनिवेश करने पर घटादि पक्षान्तर्गत नहीं होता है क्योंकि वे स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनक कुलाल की कृति से जन्य होते हैं। अजन्यत्वान्त अंश में स्व पद से जन्य को ग्रहण करना अभीष्ट है, अजन्य को नहीं। इसलिये अजन्यत्वान्तभाग का अर्थ है स्वोपादानगोचर-स्वजनक अदृष्टाजनक कृति से जन्य जो जो हैं तद् तद् भिन्नत्व। यदि स्व पद से अजन्य का ग्रहण किया जायगा तो द्व्यणुकादि पक्ष न हो सकेगा क्योंकि द्व्यणुकादि के उपादान को विषय करनेवाली द्व्यणुकादिजनकअदृष्ट की अजनक कोई कृति प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये स्वपद से द्व्यणुकादि का ग्रहण न हो सकने से वह स्वोपादान गोचर स्वजनक अदृष्टाजनक कृत्यजन्यशब्द से पक्षविधया उपन्यस्त नहीं हो सकता है। फलतः उस के कर्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि असंभव हो जायेगी।

('उपादान गोचर' पदकी सार्थकता)

इस अंश में भी कृति में यदि स्वोपादानगोचर विशेषण न देकर स्व-जनक अदृष्टाजनक कृति-जन्य भिन्नत्व मात्र को ही पक्षतावच्छेदक की कोटि में निवेश किया जायगा तो मृदङ्गादि को बजाने से उत्पन्न होने वाला शब्द और वायु का फुत्कार पक्षान्तर्गत न हो सकेगा। क्योंकि मृदङ्गादि बजाने से उत्पन्न होनेवाला शब्द स्वजनक अदृष्ट के अजनक मृदङ्गादिगोचर मृदङ्गादिवादक कृति से जन्य होने के कारण तादृशकृतिजन्य भिन्न नहीं होगा। क्योंकि फुत्कार भी फुत्कार के निमित्त-भूत यन्त्र विषयक कृति से जन्य है जो कृति फूत्कारजनक अदृष्ट का अजनक है, इसलिये वह भी स्वजनक अदृष्टाजनककृतिजन्य भिन्न नहीं है। जब शब्द और फुत्कार पक्ष से बहिर्भूत हो जायेंगे तो उन में साध्य का सन्देह होने से हेतु में साध्यव्यभिचार का सन्देह हो जायगा। किन्तु कृति में स्वोपादानगोचरत्व का निवेश कर देने पर शब्द और फुत्कार को पक्षान्तर्गत होने में कोई बाधा

दोषः । मन्त्रविशेषपाठपूर्वकस्पर्शजन्यकांश्यादिगमनस्य स्पर्शजन्याऽदृष्टद्वारा स्वोपादनकांश्यगोचरस्पर्शजनकजन्यकृतिजन्यस्याऽपत्त्वे तत्र संदिग्धानैकान्तिकत्वं स्यात्, एवं स्वोपादानशरीरगोचरोर्ध्वचरणादितपःकृतिजन्यकालशरीरीयगौररूपादौ तत् स्यात्; अतस्तत्कोटौ 'स्वजनक०' इत्यादि, कांश्यचालनादिकं तु स्वजनकाऽदृष्टजनकजन्यकृतिजन्यमेवेत्यदोषः । ध्वंस-गगनैकत्वादिवारणाय 'समवेतम्' इति, 'जन्यमि'ति च । शब्द-फूत्कारादौ सिद्धसाधनवारणाय साध्ये गोचरान्तम् । उक्तकांश्यचालनादौ तद्वारणाय 'स्वजनक०' इत्यादि ।

नहीं होगी, क्योंकि उन के जनक अदृष्ट-अजनिका मृदङ्गादिगोचर कृति उन के उपादान आकाश और वायु को विषय नहीं करती । अतः वे स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनक कृति जन्य भिन्न हो जाते हैं।

[स्वजनकादृष्टाजनक-पद की सार्थकता]

इसी प्रकार यदि कृति में स्वजनक अदृष्टाजनकत्व का संनिवेश न कर स्वोपादानगोचर कृति जन्यभिन्नत्व मात्र को पक्षतावच्छेदक का घटक माना जायगा तो कांश्य पात्र की वह गति जो मन्त्र-विशेष के पाठ के साथ होनेवाले स्पर्श से उत्पन्न होती है-पक्षान्तर्गत न हो सकेगी । क्योंकि वह भी अपने उपादानभूत कांश्यपात्र को विषय करने वाली स्पर्श जनक कृति से जन्य है । अतः वह स्वोपादान गोचर-कृतिजन्यभिन्न नहीं हो सकती । इसी प्रकार कृष्णवर्ण के शरीर में उत्पन्न होनेवाला वह गौर रूप भी पक्षान्तर्गत न हो सकेगा जो अधोमुख और ऊर्ध्व पाद की अवस्था में शरीरस्थापनरूप तपश्चर्याकी कृति से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह भी अपने उपादान कारण शरीर को विषय करने वाली ऊर्ध्व मुख अधःपादादि-तप की कृति से जन्य होने के कारण स्वोपादान गोचर कृति जन्य भिन्न नहीं होता है । फलतः कांश्य पात्र की उक्त गति और कृष्णशरीर के उक्त गौर रूप के द्वारा हेतु में साध्य व्यभिचार का सन्देह होने से अनुमिति का प्रतिरोध हो जायगा और कृति में जब स्वजनक अदृष्टाजनकत्व का निवेश करते हैं तब यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि कांश्यपात्र की गति कांश्यपात्रगोचर स्पर्शजनक कृति से अदृष्ट द्वारा उत्पन्न होती है । और कृष्णशरीर गत उक्त गौर रूप भी स्वोपादानगोचर अधोमुख उर्ध्वपादादि रूप तप की कृति से अदृष्ट द्वारा ही उत्पन्न होता है । अत एव उक्त गति और उक्त रूप स्वोपादानगोचर स्वजनक अदृष्ट जनक कृति से ही जन्य होने के कारण स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनककृतिजन्य भिन्न होने से पक्षान्तर्गत हो जाते हैं।

(समवेतत्व और जन्यत्व का उचित निवेश)

दूसरा अंश है 'समवेतत्व' । इस अंश का पक्षतावच्छेदक कोटि में संनिवेश न करने पर ध्वंस भी पक्षान्तर्गत हो जाता हे । और उसमें साध्य का बाध होने से पक्षतावच्छेदकाऽवच्छेदेन अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाता है । अतः समवेतत्व अंश का पक्षतावच्छेदक कोटि में प्रवेश आवश्यक है ।

तीसरा अंश है 'जन्यत्व'-इस अंश का भी पक्षतावच्छेदक कोटि में संनिवेश आवश्यक है । अन्यथा आकाशगत एकत्व-परिमाणादि नित्य गुण भी पक्षान्तर्गत हो जायेंगे और उन में साध्य का बाध होने से पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति का प्रतिरोध हो जायगा ।

न च साध्ये पक्षे च गोचरान्तद्वयं माऽस्तु, मृदङ्गादिगोचरकृतिजन्यशब्दादिस्तु पक्षबहिर्भूत एव दृष्टान्तोऽस्त्विति वाच्यम्, अदृष्टेतरव्यापारद्वाराऽस्मदादिकृतिजन्यत्वसिद्ध्याऽर्थान्तरप्रसङ्गवारणाय साध्ये तन्निवेशावश्यकत्वे, शब्दादावनैकान्तिकत्वसंशयवारणाय पक्षेऽपि तदावश्यकत्वात्, तादृशशब्दादिकर्तृतयापि भगवत्सिद्धये पक्षे तन्निवेशेऽशंतः सिद्धसाधनवारणाय साध्ये तन्निवेशावश्यकत्वाच्च। एतेन 'स्वजनकाऽदृष्टजनकान्यत्वमप्युभयत्र माऽस्तु' इत्यपास्तम्, तादृशकांश्यचालनादिकर्तृतयाऽपि भगवत्सिद्ध्यर्थं पक्षे तदुपादाने साध्येऽप्यावश्यकत्वात्। यदि च 'स्वजनकादृष्टजनककृतेर्न स्वजनकत्वम्, मानाभावात्' इति विभाव्यते, तदा पक्षे तद् नोपादेयम्; साध्ये तु देयमेव, अन्यथा सर्गान्तरीयज्ञानादीनां द्व्यणुकाद्युपादानाऽगोचरत्वेन द्व्यणुकादौ सिद्धसाधनाभावेऽप्युक्तकांश्यचालनादावदृष्टजनककृतिजन्यत्वसिद्ध्याऽर्थान्तरापत्तेर्वस्तुगत्या स्वोपादानगोचरकृतिजन्यं यत् तत्त्वावच्छिन्नभेदकूटवत्त्वेन कांश्यचालनादेरपि पक्षान्तर्गतत्वात्' इत्याहुः।

(कृति में स्वोपादानगोचरत्व का उचित निवेश)

सकर्तृकत्वरूप साध्य को स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनक प्रत्यक्षादि जन्यत्व रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि साध्य के इस प्रस्तुत रूप में कृति में स्वोपादानगोचरत्व का संनिवेश न किया जायगा तो मृदङ्गवादनजन्य शब्द और वायुगत फुत्कारादि में स्वजनक-अदृष्ट का अजनक मृदङ्गादि गोचर प्रत्यक्षादिजन्यत्वके सिद्ध होने से अंशतः सिद्धसाधन होगा। अतः उस के वारण के लिये साध्य के शरीर में कृति अंश में स्वोपादान गोचरत्व का निवेश आवश्यक है। इसी प्रकार मन्त्रविशेष पाठपूर्वक स्पर्श से उत्पन्न होनेवाली कांश्यपात्र की गति में स्व के उपादान कांश्यपात्र को विषय करनेवाली स्पर्शजनक कृति का जन्यत्व रहने से और अधोमुख ऊर्ध्वचरणादि रूप तप की कृति से उत्पन्न होनेवाले कृष्णशरीरगत गौररूप में स्वोपादान शरीर गोचर कृति जन्यत्व रहने से अंशतः सिद्धसाधन होगा। अतः इस दोष के निवारणार्थ साध्य के शरीर में कृति अंश में स्वजनक-अदृष्टाजनकत्व का निवेश आवश्यक है। इस निवेश से उक्त अंशतः सिद्ध साधन दोष का परिहार हो जाता है, क्योंकि कांश्यपात्र की गति को उत्पन्न करनेवाली कांश्यविषयिणी स्पर्शजनिका कृति उस गति के जनक अदृष्ट का जनक होती है-अजनक नहीं होती है। और कृष्ण शरीर में गौररूप उत्पन्न करनेवाले अधोमुख उर्ध्वचरणादिरूप तप की कृति भी उक्त रूप के जनक अदृष्ट का जनक ही होती है अजनक नहीं होती है। अतः कांश्य की उक्त गति और कृष्णशरीरगत उक्त गौररूप में स्वोपादानगोचरस्वजनकअदृष्टाजनक कृत्यादि जन्यत्व सिद्ध न होने से अंशतः सिद्धसाधन नहीं हो सकता है।

इस संदर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि-"साध्य और पक्ष दोनों ही के शरीर में स्वोपादानगोचरत्व का निवेश न किया जाय और उस निवेश के अभाव में मृदङ्गादिगोचर कृति से उत्पन्न होनेवाले शब्दादि को पक्ष से बाह्य दृष्टान्त माना जाय, अतः उस के द्वारा हेतु में साध्य के व्यभिचार की शंका कैसे हो सकती है" ?-किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि

अन्ये तु द्रव्याणि ज्ञाने-च्छा-कृतिमन्ति, कार्यवत्त्वात्, कपालवत्। साध्यता विशेष्यतया, हेतुता च समवायेन, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाद् नांशतः

पक्ष में अदृष्ट से भिन्न किसी व्यापार के द्वारा अस्मदादि की कृतिजन्यता मान लेने पर अर्थान्तर की प्रसक्ति होगी। अतः उस के वारण के लिये साध्य के शरीर में स्वोपादानगोचरत्व का निवेश आवश्यक होगा। अस्मदादि की कृति द्वयणुक के उपादान को विषय नहीं करती इसलिये अर्थान्तर की आपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार साध्य में स्वोपादानगोचरत्व का संनिवेश आवश्यक हो जाने पर पक्ष में भी उस का निवेश करना आवश्यक होगा। अन्यथा मृदङ्गादिवादन से होने वाले शब्द के द्वारा हेतु में शब्द व्यभिचार की शंका की आपत्ति होगी। क्योंकि पक्ष में स्वोपादानगोचरत्व का निवेश न होने पर उक्त शब्द पक्ष बहिर्भूत हो जाता है और उस में स्वोपादानगोचर स्वजनक अदृष्टाजनक कृतिजन्यत्वरूप साध्य का सन्देह होता है।

इस के अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि यदि मृदङ्गादि से उत्पन्न होनेवाले शब्दादि के कर्त्तारूप में भी परमेश्वर की सिद्धि करनी हो तो उसे पक्षान्तर्गत बनाने के लिये पक्ष में स्वोपादान-गोचरत्व का निवेश करना होगा, और उस स्थिति में उसमें स्वोपादान गोचरत्व से अघटित साध्य के सिद्ध होने से अंशतः सिद्धसाधन की आपत्ति होगी, अतः उस के वारणाथ साध्य में भी स्वोपादानगो-चरत्व का निवेश आवश्यक होगा।

इस प्रसंग से यह सुझाव कि-'स्वजनक अदृष्टाजनकत्व का संनिवेश साध्य और पक्ष दोनों में न किया जाय'-उचित नहीं है। क्योंकि कांश्यपात्र की उक्त गति और कृष्ण शरीर से उत्पन्न होनेवाले उक्त गौर रूप के कर्त्तारूप में भी ईश्वर की सिद्धि करने के लिये पक्ष में कृत्यंश में स्वजनक-अदृष्टाजनकत्व का निवेश करना होगा और उस स्थिति में साध्य में भी उस अंश के निवेश की आवश्यकता अपरिहार्य होगी। अन्यथा उक्त गति और उक्त रूप में अंशतः सिद्धसाधन की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-'स्वजनक अदृष्ट को उत्पन्न करनेवाली कृति स्व का जनक नहीं हो सकती है क्योंकि उसे स्व का कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उस दशा में पक्ष में स्वजनक अदृष्टाजनकत्व के निवेश की आवश्यकता न होगी। किन्तु शाब्द में उस का निवेश करना ही होगा। क्योंकि शाब्द में उसका निवेश न करने पर पूर्व सर्ग के अस्मदादिके ज्ञानजन्यत्व को लेकर द्वयणुकादि में सिद्धसाधन नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व सर्गका अस्मदादि का ज्ञान भी द्वयणुकादि के उपादान को विषय नहीं करता"-तब भी उक्त कांश्यपात्र की गति में और कृष्णशरीरगत गौर रूप में अर्थान्तरकी आपत्ति हो सकती है यदि उन्हें स्वजनक अदृष्ट को उत्पन्न करनेवाली कृति से जन्य मान लिया जाय, क्योंकि स्वोपादानगोचर कृतिजन्य जो जो वस्तु हैं वे सभी वस्तुओं का भेदकुट उक्त गति और उक्त रूप में विद्यमान है। अतः उक्त गति और उक्त रूप भी पक्षान्तर्गत हो जाते हैं।-यह भी अन्य विद्वानों का मत है।

[द्रव्यपक्षक कार्यवत्ताहेतुक अनुमान]

अन्य विद्वान कार्य में सकर्तृकत्व साधक अनुमान का इस रूप में प्रयोग करते हैं कि-'द्रव्य ज्ञानेच्छाकृतिमान् होते हैं क्योंकि वे कार्यवान् होते हैं जैसे कपाल।" इस अनुमान में द्रव्य पक्ष है और

सिद्धसाधनम् । न च बहिरिन्द्रिग्राह्यत्वमुपाधिः, अनुकूलतर्केण हेतोर्व्याप्यतानिर्णये तदनवकाशात् । न च त्रितयस्य मिलितस्य साध्यत्वेऽप्रयोजकत्वम्, मिलितत्वेनाऽहेतुत्वात्, प्रत्येकं साध्यत्वे ज्ञाने-च्छावत्त्वेन साधने सर्गान्तरीयज्ञानादिना सिद्धसाधनमिति वाच्यम्, मिलितत्वेन साध्यत्वेऽपि कार्यकारणभावत्रयस्य प्रयोजकत्वात् । 'सर्गाद्यकालीनं द्रव्यं ज्ञानवत्' कार्यत्वात्, पक्षतावच्छेदककालावच्छेदेन साध्यसिद्धेः—इत्यप्याहुः ।

ज्ञान इच्छा और कृति विशेष्यता सम्बन्ध से साध्य है और कार्य समवाय सम्बन्ध से हेतु है। स्पष्ट है कि समवाय सम्बन्ध कोई भी कार्य द्रव्य में ही होता है। और जो कार्य जिस द्रव्य में होता है उस द्रव्य में उस कार्य के उपादान भूत द्रव्य का ज्ञान और उस के उपादान भूत द्रव्य में उस कार्य की चिकीर्षा और उस कार्य के उपादानभूत द्रव्य को विषय करनेवाली उस कार्य की विधायिका कृति विशेष्यता सम्बन्ध से रहती है। इस अनुमान में अंशतः सिद्धसाधन की प्रसक्ति प्रतीत होती है क्योंकि पक्ष के अन्तर्गत आनेवाले कपालादि द्रव्यों में घट के उत्पादक ज्ञान इच्छा और प्रयत्न विशेष्यता सम्बन्ध से सिद्ध है। किन्तु यह अंशतः सिद्ध साधन इस अनुमान को दूषित नहीं कर सकता, क्योंकि उस में पक्षतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वावच्छेदेन साध्य की सिद्धि उद्देश्य है। इसलिये पक्षतावच्छेदक से आक्रान्त होने वाले द्रव्यों में परमाणु और द्व्यणुक भी आते हैं और उन में क्रम से द्व्यणुक और त्र्यणुक के उत्पादक ज्ञानेच्छाकृति विशेष्यता सम्बन्ध से सिद्ध नहीं है, क्योंकि परमाणु और द्व्यणुक अस्मदादि के ज्ञान इच्छा प्रयत्न के विषय नहीं होते है। अतः उन में विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञानेच्छाकृति की सिद्धि ईश्वर के ज्ञानादि द्वारा ही हो सकती है।

इस अनुमान में बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व को उपाधित्व संभावित है, क्योंकि ज्ञानेच्छाकृतिरूप साध्य विशेष्यतासम्बन्ध से जिन कपालादि द्रव्यों में सिद्ध है उन में बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व है। इसलिये वह साध्य का व्यापक है। और कार्यरूप साधन समवाय सम्बन्ध से परमाणु और द्व्यणुकादि में भी है किन्तु उस में बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है इसलिये वह साधन का अव्यापक भी है। किन्तु इस उपाधि से प्रस्तुत अनुमान का विरोध नहीं हो सकता क्योंकि कार्य को यदि ज्ञानेच्छाकृति का व्यभिचारी माना जायगा तो कार्य के प्रति ज्ञानादि की सर्वसम्मत कारणता का लोप हो जायगा। इस अनुकूल तर्क से कार्यात्मक हेतु में ज्ञानेच्छाकृति रूप साध्य की व्याप्ति का निर्णय उक्त उपाधि के द्वारा अवरुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अनुकुल तर्क के अभाव में ही उपाधि-व्यभिचार से हेतु में साध्य-व्यभिचार की अनुमिति होने से हेतु में साध्य व्याप्ति के निर्णय का प्रतिरोध हो कर अनुमिति का अवरोध होता है जो प्रस्तुत अनुमान में कार्यसामान्य के प्रति ज्ञानेच्छाकृति के सर्वसम्मत कारणता रूप अनुकूलतर्क के नाते संभव नहीं है।

(मीलित या पृथक् ज्ञानादि की साध्यता पर आक्षेप)

इस अनुमान में यह शंका हो सकती है कि-"ज्ञानेच्छाकृति इन तीनों को मीलितरूप में साध्य माना जायगा तो अप्रयोजकत्व दोष होगा अर्थात् कार्यात्मक हेतु तीनों को मीलित रूप में सिद्ध न कर सकेगा क्योंकि कार्य के प्रति ज्ञानेच्छाकृति को मीलितरूपसे कारणता न मानकर पृथक् पृथक् ही कारणता मानी जाती है। और यदि ज्ञानेच्छाकृति को अलग अलग साध्य माना जाय तो द्रव्य में विशेष्यता

'क्षित्यादिकं सकर्तृकं, कार्यत्वात्' इत्येवाऽनुमानम्, प्रकृतविचारानुकूलविवाद-विषयत्वेन च क्षित्यादीनामनुगमः, सकर्तृकत्वं च प्रतिनियतकर्तृनिरूपितः संबन्धो व्यवहार-साक्षिको घटादिदृष्टान्तदृष्टो नित्यवर्गव्यावृत्त इति नानुपपत्तिः-इत्यपि केचित्।

सम्बन्ध से ज्ञान और इच्छा का साधन करने पर पूर्व सर्ग के योगिज्ञान और इच्छा को लेकर सिद्ध-साधन हो जायगा। क्योंकि पूर्व सर्ग में सामान्य मनुष्यों को परमाणु और द्वचणुक का प्रत्यक्षज्ञान और उन में द्वचणुक और त्र्यणुक रूप कार्य की चिकीर्षा न होने पर भी योगी को परमाणु और द्वचणुक का ज्ञान और उन में द्वयणुक और त्र्यणुकरूप कार्य की चिकीर्षा योगबल से अवश्य हो सकती हैं। इस प्रकार पूर्व सर्ग के योगीज्ञान और योगी की इच्छा को लेकर सिद्धसाधन की प्रसिद्धि होगी।-" किन्तु विचार करने पर यह शंका उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि ज्ञानेच्छाकृति को मिलितरूप से साध्य मानने पर भी अप्रयोजकत्व दोष नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानेच्छाकृति तीनों में मीलित रूप से कार्य के प्रति एक कारणता न होने पर भी उन तीनों में कार्य की जो पृथक् पृथक् तीन कारणताएँ हैं यह ही प्रयोजक हो जायगी। क्योंकि कार्य यदि मीलित तीनों का व्यभिचारी होगा तो भी उक्त तीनों कारणताओं के लोप की आपत्ति होगी।

कुछ विद्वान उक्त आपत्ति के भय से प्रकृत अनुमान का अन्य रूप में प्रयोग करते है। जैसे सृष्टि के आरंभ काल में स्थित द्रव्य विशेष्यता सम्बन्धसे ज्ञानवान् है, क्योंकि उस में समवायसम्बन्ध से कार्य होता है।' इस प्रकार के अनुमान में पूर्वसर्ग के योगीज्ञान के द्वारा सिद्धसाधन की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस अनुमान में सृष्टि का आरंभकाल पक्षतावच्छेदक है और तत्कालावच्छेदेन ज्ञान की सिद्धि उद्देश्य है। पूर्व सर्ग का ज्ञान परमाणु आदि द्रव्यों में सृष्टिके आरम्भकालावच्छेदेन नहीं रह सकता क्योंकि सष्टि के आरंभकाल में पूर्वसर्ग का ज्ञान विद्यमान नहीं होता।

[क्षित्यादि-पक्षक अनुमान]

कतिपय विद्वान 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्'-इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग न कर 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्' इसी प्रकार के अनुमान का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार-क्षित्यङ्कुरादि अनेक कार्यों का अनुगम, प्रकृत विचार का प्रयोजक जो विवाद, उस विवाद के विषयत्वरूप से हो जाता है। अतः क्षिति आदि तादृशविवादविषयत्वरूप एक अनुगत धर्म के द्वारा पक्ष बन जाते हैं। इसलिये क्षितित्व अङ्कुरत्वादि धर्मोंके अननुगत होने पर भी उन सभी को पक्ष होने में कोई बाधा नहीं होती। उन विद्वानोंके अनुसार सकर्तृकत्वरूप साध्य भी कर्तृजन्यत्व' या कृतिजन्यत्व रूप न होकर कर्तृनिरूपित सम्बन्धरूप होता है जो कि 'अमुक कार्य अमुककर्तृमान है' इस व्यवहार से सिद्ध है, और नित्य पदार्थों में नहीं रहता क्योंकि नित्यपदार्थों में 'कर्तृमान' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता। कर्ता का यह सम्बन्ध घट आदि दृष्टान्त में सिद्ध है, क्योंकि 'घट कर्तृमान-घट कर्तृमान' इस प्रकार का व्यवहार सर्वमान्य है। इस प्रकार 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं' इस अनुमान से क्षिति अङ्कुरादि कार्यों में कर्ता का नियत सम्बन्ध सिद्ध होता है। और वह सम्बन्ध अस्मदादि को कर्ता मानकर नहीं उत्पन्न हो सकता। क्योंकि 'क्षित्यादिकं अस्मदादिकर्तृकं' यह व्यवहार नहीं होता। अतः उक्त अनुमान द्वारा क्षित्यादि में कर्तृसम्बन्ध की उत्पत्ति ईश्वरद्वारा ही की जा सकती है। फलतः उक्त अनुमान द्वारा क्षित्यादि के कर्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि निर्विवाद है।

आयोजनादपि । 'सर्गाद्यकालीनद्व्यणुककर्म प्रयत्नजन्यम्, कर्मत्वात्, अस्मदादि-शरीरकर्मवत्'- इत्यनुमानात्। परमाणोरेव तादृशप्रयत्नवत्त्वे जडताहानिः स्यात् ।

अदृष्टं तु तत्र दृष्टहेत्वनपेक्षं न हेतुः, तथात्वे दृष्टहेतूच्छेदापत्तेः, कर्मण एवाऽनुत्प-

(आयोजन-द्व्यणुकजनकक्रिया-हेतुक अनुमान)

'कार्यायोजनधृत्यादेः' इस पूर्व निर्दिष्ट कारिका में आयोजन को भी ईश्वर का अनुमापक बताया गया है। आयोजन द्वारा ईश्वर का जो अनुमान अभिमत है उसका प्रयोग इस रूप में होता है कि- 'सृष्टि के प्रारम्भ काल में उत्पन्न होने वाले द्व्यणुक की उत्पत्ति जिस परमाणु-कर्म से होती है वह कर्म प्रयत्नजन्य है, क्योंकि वह एक कर्म है। जो भी कर्म होता है वह प्रयत्नजन्य होता है, जैसे-अस्मदादिके शरीर में होनेवाला कर्म'। आशय यह है कि सृष्टि के आरम्भ में जब द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है तब जिन परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है उन परमाणुओं में से किसी एक परमाणु में ईश्वर के प्रयत्न से कर्म उत्पन्न होता है और उस कर्म से उस परमाणु का पूर्व देश के साथ विभाग और पूर्व देश के साथ विद्यमान संयोग का नाश होकर दूसरे परमाणु के साथ उसका संयोग होता है। उसके बाद उस संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति और उस संयोग को उत्पन्न करने वाले परमाणु-कर्म का नाश साथ ही होता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व न माना जायगा तो दो परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करनेवाला कर्म न हो सकेगा। फलतः द्व्यणुक की उत्पत्ति न हो सकने से सृष्टि का निर्माण असम्भव हो जायगा। अतः उक्त अनुमान के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले द्व्यणुक की उत्पत्ति के लिये अपेक्षित परमाणुद्वयसंयोग को संपन्न करने के लिये परमाणु में जो कर्म अपेक्षित है उस कर्म के कारणरूप में जो प्रयत्न सिद्ध होता है उस प्रयत्न का आश्रय कोई जीव नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में जीव अशरीर होता है और अशरीर जीव में प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः उस प्रयत्न के आश्रय रूप में ईश्वर की सिद्धि आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि-'दो परमाणुओं को संयुक्त करनेवाला परमाणु कर्म परमाणु के ही प्रयत्न से उत्पन्न होता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परमाणु को प्रयत्नवान् मानने पर उसे चेतन ही मानना होगा क्योंकि प्रयत्न की उत्पत्ति चेतन में ही होती है। फलतः परमाणु की जडता समाप्त हो जायगी जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि सभी परमाणु चेतन होंगे तो उनकी अलग अलग इच्छाएँ होंगी। फलतः उनके विचारों और इच्छाओं में सामञ्जस्य न होने के कारण उन के द्वारा सुव्यवस्थित सृष्टि का निर्माण न हो सकेगा।

[अदृष्ट से परमाणुक्रिया की उत्पत्ति की आशंका]

आयोजनके आधार पर प्रस्तुत प्रकृत अनुमान के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि-'सृष्टि के आरम्भ में द्व्यणुक के आरम्भक परमाणुद्वय के संयोग का जनक परमाणुकर्म प्रयत्न से नहीं उत्पन्न होता है किन्तु अदृष्ट से ही उत्पन्न होता है। इसलिये प्रकृत अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि अदृष्ट दृष्टहेतु से निरपेक्ष होकर उस कर्म का कारण नहीं हो सकता। यदि दृष्ट हेतु की अपेक्षा किये बिना भी अदृष्ट को कारण माना जायगा तो सर्वत्र अदृष्ट से ही सभी कार्यों की उत्पत्ति हो जाने से दृष्टकारण का सर्वथा लोप हो जायगा। फलतः जिस कर्म को अदृष्ट से जन्य बताया जा रहा है उस कर्म की ही उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह कर्म जिस

चिप्रसङ्गात् । 'चेष्टात्वमुपाधि'रिति चेत् ? किं तत् ? 'प्रयत्नजन्यक्रियात्वमि'ति चेत् ? न तत्रैव तस्यैवाऽनुपाधित्वात् । 'हिता-ऽहितप्राप्ति-परिहारफलत्वमि'ति चेत् ? न, विषभक्षणा-ऽहिलङ्घनाद्यव्यापनात् । 'शरीरसमवायिक्रियात्वं तदि'ति चेत् ? न, मृतशरीरक्रियाया अतथात्वात् । 'जीवत' इति चेत् ? न, नेत्रस्पन्दादेरतथात्वात् । 'स्पर्शवद्द्रव्यान्तराऽप्रेरणे सति शरीरक्रियात्वं तत्, शरीरपदोपादानाद् न ज्वलन-पवनादिक्रियाऽतिव्याप्तिरि'ति चेत् ? न, शरीरत्वस्य चेष्टाघटितत्वात् । 'चेष्टात्वं=सामान्यविशेषो, यत उन्नीयते प्रयत्नपूर्विकेयं क्रिये'ति चेत् ? न, क्रियामात्रेण तदुन्नयनात् ।

परमाणुद्वय के संयोग के लिये अपेक्षित है वह संयोग सीधे अदृष्ट से ही उत्पन्न हो जायगा । बीच में कर्म की कोई आवश्यकता न रह जायगी । अतः उक्त परमाणु कर्म को सीधे अदृष्ट से जन्य न मानकर प्रयत्न से जन्य मानना आवश्यक हैं ।

(चेष्टात्व उपाधि की आशंका)

इस संदर्भ में यह शंका हो सकती है कि-'प्रकृत अनुमान चेष्टात्वरूप उपाधि से ग्रस्त है क्योंकि चेष्टात्व कर्मत्वरूप साधन से विशिष्ट प्रयत्नजन्यत्व साध्य का व्यापक है क्योंकि प्रयत्नजन्य सभी कर्मों में चेष्टात्व रहता है, और साधन का अव्यापक है क्योंकि कर्मत्वरूप साधन घटादिगत कर्म-में भी रहता है और चेष्टात्व उसमें नहीं रहता । अतः चेष्टात्व साधनावच्छिन्नसाध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने से उपाधि है-' । किन्तु चेष्टात्व का निर्वचन न होने के कारण चेष्टात्व को उपाधि कहना ठीक नहीं है । जसे चेष्टा का अर्थ यदि प्रयत्नजन्यक्रिया किया जायगा तो साध्य और उपाधि एक ही हो जायगा । क्योंकि सृष्टि के आरम्भकाल में उत्पन्न होनेवाले द्वयणुक के उत्पादक परमाणुद्वय संयोग के जनक परमाणु कर्म को प्रयत्नजन्य मानने पर फलतः प्रयत्नजन्यक्रियात्व ही साध्य होता है और वही चेष्टात्व है । इसलिए चेष्टात्व अपने ही प्रति उपाधि नहीं हो सकता । साध्य साधन का व्यापक होता है अतः साध्य से अभिन्न होने के कारण चेष्टात्व भी साधन का व्यापक ही होगा । जब कि उपाधि होने के लिये साधन का अव्यापक होना आवश्यक है । यदि यह कहा जाय कि-'हित की प्राप्ति और अहित के परिहार की उत्पादक क्रिया चेष्टा है । अतः साध्य और चेष्टात्व में भेद हो जाने से चेष्टात्व के उपाधि होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विषभक्षण रूप क्रिया और सर्पलंघन रूप क्रिया भी चेष्टा है । किन्तु चेष्टा का उक्त प्रकार से निर्वचन करने पर विषभक्षण और सर्पलङ्घन रूप क्रियाएँ चेष्टा न हो सकेगी, क्योंकि विषभक्षण आदि क्रियाएँ मृत्यु का जनक होने से अहित परिहार की जनक नहीं है । 'शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया का नाम चेष्टा है-' इस प्रकार भी चेष्टा का निर्वचन उचित नहीं हो सकता क्योंकि मृत शरीर में किसी स्पर्शवान् वेगवान द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होने वाली क्रिया भी चेष्टा के उक्त निर्वचन की परिधि में आ जाने से वह भी चेष्टा शब्द से व्यवहृत होने लगेगी । 'जीवित शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया चेष्टा है'-इस रूप में भी चेष्टा का निर्वचन नहीं हो सकता क्योंकि नेत्र का स्पन्दन और वातव्याधि से हस्तपादादि में होने वाला कम्पन भी शरीरसमवेत क्रियारूप होने से चेष्टा हो जायगी ।

धृतेरपि । 'ब्रह्माण्डादिपतनाभावः पतनप्रतिबन्धकप्रयुक्तः, धृतित्वात् , उत्पतत्पतत्रि-पतनाभाववत् , तत्पतत्रिसंयुक्ततृणादिधृतिवद् वा' । एतेनेन्द्रा-ऽग्नि-यमादिलोकपालप्रतिपादका आगमा अपि व्याख्याताः, तेषां तदधिष्ठानदेशानामीश्वरावेशेनैव पतनाभाववत्त्वात् । तथा च श्रुतिः "एतस्य चाक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः" इति । प्रशासनं दण्डभूतः प्रयत्नः, आवेशस्तच्छरीरावच्छिन्नप्रयत्नवत्त्वमेव, सर्वावेशनिबन्धन एव च सर्वतादा-त्म्यव्यवहार इति, "आत्मैवेदं सर्वम् , ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादिकम् ।

यदि यह कहा जाय कि-'स्पर्शवान् अन्य द्रव्य के संयोग के बिना उत्पन्न होने वाली शरीर की क्रिया चेष्टा है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस निर्वचन में शरीर पद का ग्रहण होने से यद्यपि ज्वलन और पवन आदि की क्रिया में चेष्टात्व का वारण हो जाता है क्योंकि वह क्रिया अस्पर्शवान् अन्य द्रव्य के संयोग से अनुत्पन्न होने पर भी शरीर समवेत नहीं होती क्योंकि ज्वलन और पवन किसी का शरीर नहीं है, तथापि चेष्टा के इस निर्वचन में शरीर का शरीरत्वेन निवेश है और शरीरत्व चेष्टाश्रयत्वरूप है । इसलिये चेष्टा के लक्षण में चेष्टा का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष लगेगा । यदि यह कहा जाय कि-'चेष्टात्व एक सामान्यविशेष=परम्परा जाति है, जिससे 'इय क्रिया प्रयत्नपूर्विका-यह क्रिया प्रयत्नजन्य हैं क्योंकि चेष्टारूप है' यह अनुमान होता है' । -तो यह ठीक नहीं हैं क्योंकि क्रिया में प्रयत्नपूर्वकत्व का अनुमान क्रिया के सामान्य रूप क्रियात्व से भी हो सकता है । अतः क्रिया मे प्रयत्नपूर्वकत्व की अनुमापकता के अवच्छेदकरूप से भी चेष्टात्व की सिद्धि मानकर सामान्य विशेष रूप में चेष्टात्व का निर्वचन नहीं हो सकता । आशय यह है कि ईश्वर-वादी के मत में सभी क्रिया में ईश्वरप्रयत्नपूर्वकत्व होने से क्रियात्व भी प्रयत्नपूर्वकत्व का व्याप्य हो सकता है । इसलिये क्रियात्व से ही प्रयत्नपूर्वकत्व का अनुमान हो सकने के कारण प्रयत्नपूर्वकत्व के अनुमापकतावच्छेदक रूप में चेष्टात्व को मान्यता नहीं प्रदान की जा सकती ।

(ब्रह्माण्डधृति-पतनाभावपक्षक अनुमान)

धृतेरपि=धृति से भी ईश्वर का अनुमान होता है । धृति का अर्थ है पतन का अभाव । उस से होनेवाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है जैसे-ब्रह्माण्ड आदि गुरुद्रव्यों के पतन का अभाव पतन के किसी प्रतिबन्धक से प्रयुक्त है क्योंकि वह गुरु द्रव्यों के पतन का अभाव रूप है । गुरुद्रव्यों का जो पतनाभाव होता है वह पतन के किसी प्रतिबन्धक से प्रयुक्त होता है जैसे उडते हुए पक्षी के पतन का अभाव उस पक्षी के प्रयत्नरूप प्रतिबन्धक से प्रयुक्त होता है । एवं उडते हुए पक्षी से पकडे हुए तृणादि के पतन का अभाव तृण के साथ उस पक्षी के संयोगरूप प्रतिबन्धक से प्रयुक्त है । आशय यह है कि जिस द्रव्य में गुरुत्व होता है उस का पतन अर्थात् नीचे की ओर गमन अवश्य होता है, यदि स्थान-विशेष में उस को रोक रखनेवाला कोई पदार्थ न हो । इस रोकनेवाले पदार्थ को ही पतन का प्रतिबन्धक कहा जाता है जैसे वृक्ष की शाखा में लगे हुए फलों का गुरुत्व होने पर भी पतन नहीं होता क्योंकि शाखाके साथ फल का संयोग फलको रोक रखता है । वह उस में पतनक्रिया उत्पन्न नहीं होने देता है । इसी प्रकार जब कोई पक्षी आकाश में उडता हुआ होता है तो उस उडते हुए पक्षी के शरीर में भी गुरुत्व है । इसलिये उस गुरुत्व के कारण उस का पतन हो जाना चाहिये किन्तु उस का पतन

इसलिये नहीं होता कि पक्षी का शरीर पक्षी की आत्मा में विद्यमान प्रयत्न से धारित रहता है। अर्थात् पक्षी की आत्मा का प्रयत्न स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अथवा अवच्छेदकता सम्बन्ध से पतन का प्रतिबन्धक होता है। इसीप्रकार आकाश में उडते हुऐ पक्षी द्वारा चोंच में रखे हुए काष्टखण्ड अथवा फल आदि में भी गुरुत्व है और गुरुत्व के कारण उस का भी पतन हो जाना चाहिये किन्तु उस का पतन इसलिये नहीं होता कि उन के पतन का कोई न कोई प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डादि द्रव्य भी गुरु है, अतः गुरुत्व के कारण उनका भी अपने स्थान से पतन हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता अपि तु वे अपने निश्चित स्थान में अवस्थित रहते हैं। अतः उन के पतन का भी विरोधी कोई न कोई होना चाहिये। ब्रह्माण्डादि किसी जीव का शरीर नहीं है इसलिये उडते हुए पक्षी के शरीर के समान उस का धारण संभव नहीं है। किन्तु जैसे उडते हुए पक्षी द्वारा पकडे गये तृणकाष्ट आदि का धारण प्रयत्नशील पक्षी के संयोग से होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड आदि का भी धारण किसी प्रयत्नशील के संयोग से ही मानना होगा। वह प्रयत्नशील कोई जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव में प्रयत्न का उदय जीवके शरीर होने पर ही होता है और ब्रह्माण्ड तो जीव के सशरीर होने के पूर्व भी रहता है। अतः एव उसे किसी ऐसे ही पुरुष के संयोग से धारित मानना होगा जो पुरुष शरीर के विना भी प्रयत्नवान् हो सके। इस प्रकार जिस के प्रयत्न से ब्रह्माण्ड आदि का पतन नहीं हो पाता वह ईश्वर से अन्य कोई नहीं हो सकता।

(इन्द्रादि देवताओं से सिद्धसाधनता की आशंका)

आगमो-पुराणादिशास्त्रों में इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवताओं को लोकपाल कहा गया है। अर्थात् उन्हें भिन्न भिन्न लोक का धारक बताया गया है। ईश्वर को ब्रह्माण्डादि का धारक मानने पर यह समस्या ऊठती है कि– जिन लोकों का धारक इन्द्रादि देवताओं को बताया गया है उन का धारण भी ईश्वर से ही हो जायगा। फिर उन लोकों के धारणार्थ इन्द्रादि देवताओं की कल्पना अनावश्यक है, अथवा इस प्रकार की समस्या हो सकती है कि आगमों के अनुसार इन्द्रादि देवताओं के द्वारा ही संपूर्ण लोक का धारण होने से उनके सामूहिक प्रयत्न से ब्रह्माण्ड का भी धारण हो सकने के कारण ब्रह्माण्ड आदि के धारण के निमित्त ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।'-किन्तु इन समस्याओं का समाधान अत्यंत सरल है। और वह यह है कि इन्द्रादि देवताओं से धारण किये गये लोकों का भी धारक ईश्वर ही है। इन्द्रादि में उन लोकों के धारण करने की जो बात कही गई है वह भी उन-देवताओं में ईश्वर के आवेश पर निर्भर हैं। अभिप्राय यह है कि ईश्वर ही इन्द्रादि शरीर में अन्विष्ट हो कर समस्त लोकों का धारक होता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व न हो तो इन्द्रादि भी उन उन लोकों के धारण में उसी प्रकार समर्थ नहीं होता।

वेद भी ईश्वर को ही द्युलोक-पृथ्वीलोक आदि का धारक बताता है। जैसे एतस्य च अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः।' इस वेद वाक्य में गार्गी नामक महिला को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि कभी भी अपने स्वरूप से च्युत न होनेवाले परमेश्वर के प्रशासन में ही द्युलोक और पृथ्वी लोक अपने स्थल से पतित न होते हुए स्थित है। इस में प्रशासन शब्द का अर्थ धारण करनेवाला प्रयत्न है। इस प्रकार वेद के अनुसार समस्त लोक ईश्वर के प्रयत्न से हि धारित है यह सिद्ध होता है। अभी जो यह बात कही गई कि इन्द्रादि देवता में ईश्वर का आवेश होने से उन में लोकधारकत्व माना जाता है। उस में आवेश का अर्थ इन्द्रादि शरीर के द्वारा प्रयत्नवात्

आदिना नाशादपि, 'ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः, नाशत्वात्, पाट्यमानपटनाशवद् इति।

कहना सङ्गत नहीं प्रतीत होता किन्तु कथन का यह आशय है कि ईश्वर के प्रयत्न से इन्द्रादि शरीर में लोकधारक व्यापार का उदय होता है और उस व्यापार से लोक का धारण होता है। उस के अनुसार इन्द्रादि में ईश्वर का आविष्ट होने का अर्थ है इन्द्रादि के शरीर को अपने प्रयत्न से सक्रिय वनाना।

ईश्वर का आवेश केवल इन्द्रादि देवताओं में ही नहीं होता अपितु संपूर्ण पदार्थों में होता है। इसीलिये ईश्वर में संपूर्ण पदार्थों के तादात्म्य का अथवा संपूर्ण पदार्थों में ईश्वर के तादात्म्य का व्यवहार होता है। जैसा कि 'आत्मैवेदं सर्वं'-यह सब कुछ आत्मा ही है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वं'-यह संपूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है इत्यादि शास्त्रवचनों से स्पष्ट है। अभिप्राय यह है कि जैसे शरीर में आत्म-प्रयत्न से क्रिया का उदय होने के कारण शरीर को आत्मा से आविष्ट मानकर शरीर और आत्मा में 'स्थूलोऽहं करोमि' इत्यादि सम्बन्ध से तादात्म्यरूप व्यवहार होता है। उसी प्रकार ईश्वर के प्रयत्न से संपूर्ण जगत् में अवस्थिति रूप क्रिया का उदय होने से संपूर्ण जगत् में ईश्वर का आवेश होता है और उस से 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' इस प्रकार संपूर्ण जगत् में ईश्वर के तादात्म्य का व्यवहार होता है।

(ब्रह्माण्डप्रलय से इश्वर की सिद्धि का अनुमान)

'कार्यायोजनधृत्यादेः'-इस पूर्व चर्चित कारिका में धृति' शब्द के साथ 'आदि' शब्द पठित है। उस आदि शब्द से नाशरूप अर्थ की सूचना होती है। इसलिये इस कारिका से यह भी ज्ञात होता है कि नाश के कर्तारूप में भी ईश्वर की प्रतीति होती है। जैसे घट पट आदि का नाश तो सामान्य मनुष्यों के प्रयत्न से भी हो जाता है। किन्तु ब्रह्माण्ड जिस में अनेक विशाल लोक आश्रित है उस का नाश भी शास्त्रों में वर्णित है; वह नाश सामान्य मनुष्य के प्रयत्न से नहीं हो सकता, क्योंकि इतने बडे ब्रह्माण्ड की रचना की विधि जैसे सामान्य मनुष्य को ज्ञात नहीं होती उसी प्रकार उस के नाश की विधि भी सामान्य मनुष्य को ज्ञात नहीं हो सकती इसलिये ब्रह्माण्ड के नाश के लिये प्रयत्नशील होने का स्वप्न भी वह नहीं देख सकता। अतः उस ब्रह्माण्ड का नाश जिस के प्रयत्न से हो सकता है वह ईश्वर से अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। ब्रह्माण्डनाश द्वारा होने वाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है कि'-ब्रह्माण्डनाश प्रयत्न से जन्य है क्योंकि वह नाश है। जो भी नाश होता है वह प्रयत्न से जन्य होता है। जैसे पट के टूकडे करने पर होनेवाला पट का नाश।' इस अनुमान में पक्षाऽसिद्धि की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्माण्ड का नाश शास्त्रों में वर्णित है। अथवा 'ब्रह्माण्डम् नाशप्रतियोगी, जन्यभावत्वात्'=ब्रह्माण्ड भी नष्ट होता है क्योंकि वह जन्य भाव है, जो भी जन्य भाव होता है वह नष्ट होता है-जैसे घटपटादि'। इस अनुमान से भी ब्रह्माण्ड का नाश सिद्ध है। अतः एव पक्षाऽसिद्धि नहीं हो सकती। शंका-' पट समूह के ऊपर जलता हुआ अङ्गारा पड जाने पर पट समूह का नाश हो जाता हैं, समुद्र में तूफान या भूकंप आने पर सहस्रों भवन आदि का नाश हो जाता है। यह नाश किसी प्रयत्न से नहीं होता यह स्पष्ट है। इसलिये इस प्रकार के नाशों में नाशत्व प्रयत्नजन्यत्व का व्यभिचारी हो जाता है। अतः नाशत्व हेतु से ब्रह्माण्ड नाश में प्रयत्न जन्यत्व का अनुमान अशक्य है।"-इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि ईश्वरवादी ऐसे नाशों को भी ईश्वर प्रयत्न से ही सम्पन्न मानते हैं। अतः ऐसे नाश भी पक्षतुल्य होते हैं। अतः एव उनके द्वारा नाशत्व को प्रयत्नजन्यत्व का व्यभिचारी नहीं कहा जा सकता।

पदादपि । पद्यते गम्यतेऽनेनेति पदं=व्यवहारः, ततः 'घटादिव्यवहारः स्वतन्त्र-पुरुषप्रयोज्यः, व्यवहारत्वात् आधुनिककल्पितलिप्यादिव्यवहारवत्' इत्यनुमानात्, न च पूर्वपूर्वकुलालादिनैवाऽन्यथासिद्धिः, प्रलयेन तद्विच्छेदात् ।

[व्यवहार प्रवर्त्तक रूप में ईश्वरसिद्धि]

पद से भी ईश्वर का अनुमान होता है । पद शब्द की व्युत्पत्ति है 'पद्यते=गम्यते-ज्ञायते अनेनेति पदम्' । अर्थात् जिस से पदार्थ ज्ञात हो उस का नाम है पद । इस व्युत्पत्ति के अनुसार पद शब्द का अर्थ है व्यवहार । और व्यवहार का अर्थ है तद् तद् अर्थों में परम्परा से प्रयुक्त होनेवाला तद् तद् शब्द, जैसे घटरूप अर्थ में सुदीर्घ परंपरा से प्रयुक्त होनेवाला घट शब्द एवं पट रूप अर्थ में सुदीर्घ परंपरा से प्रयुक्त होनेवाला पट शब्द आदि । इस व्यवहार के द्वारा जो ईश्वरानुमान अभिमत है उस का प्रयोग इस प्रकार होता है-"घट आदि अर्थों में प्रयुक्त होनेवाला घट आदि शब्द-रूप व्यवहार किसी स्वतन्त्र पुरुष से प्रवर्तित हुआ हैं क्योंकि वह व्यवहार है । जो भी व्यवहार होता है वह सब किसी स्वतंत्र पुरुष से प्रवर्तित होता है । जैसे आधुनिक मनुष्यों द्वारा क-ख आदि वर्णों के लिये कल्पित लिपि" ।

आशय यह है कि जैसे क-ख आदि वर्णों के लिये विशेष प्रकार की लिपि का व्यवहार किसी आधुनिक स्वतंत्र पुरुष के द्वारा प्रचारित होता है उस प्रकार घट आदि अर्थों में घट आदि शब्दों का प्रयोगरूप व्यवहार भी किसी स्वतन्त्र पुरुष के द्वारा प्रवर्तित होना चाहिये । और वह पुरुष कोई आधुनिक नहीं हो सकता, क्योंकि यह व्यवहार अनादिकाल से चल रहा है । अतः इस अनादिकाल से प्रवृत्त व्यवहार के आरंभ में जो पुरुष रहा हो वह ही उस का प्रवर्तक हो सकता है । आधुनिक पुरुष तो घट आदि अर्थों में घट आदि शब्द का प्रयोग अपने पूर्ववर्ती पुरुषों से शीखकर करते हैं । वह उस के स्वतन्त्र प्रवर्तक नहीं होते हैं । उस का स्वतन्त्र प्रवर्तक वही कहा जायगा जिस को घट आदि अर्थों में घट आदि शब्द के प्रयोग करने की शिक्षा लेने की अपेक्षा नहीं होती किन्तु वह स्वयं निर्धारित करता है कि घट आदि अर्थों को बताने के लिये घट आदि शब्दों का प्रयोग होना चाहिये ।

(कुलालादि से ही अन्यथासिद्धि की आशंका)

इस संदर्भ में यह शंका हो सकती है कि-'जो जिस वस्तु को बनाता है वही इस वस्तु का नाम निर्धारित करता हैं । जैसे आधुनिक यन्त्रादि को बनानेवाला मनुष्य उस का कोई नाम निश्चित करता है । उसी प्रकार घट आदि वस्तुओं को निर्माण करनेवाला मनुष्य ही उन के घट आदि नामों को निर्धारित करता है इस प्रकार घट का निर्माण करनेवाला प्रथम कुम्हार ही घट व्यवहार का और पट का निर्माण करनेवाला प्रथम जुलाहा ही पट व्यवहार का मूल प्रवर्तक है । इस प्रकार कुलाल तन्तुवाय इत्यादि आधुनिक मनुष्यों द्वारा ही घटपटादि व्यवहार का प्रवर्तन संभव होने से उस के मूल प्रवर्तक के रूप में ईश्वर की कल्पना नहीं हो सकती' । किन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि शास्त्रों में सृष्टि के निर्माण और प्रलय दोनों की चर्चा है । और अनुमान से भी सृष्टि का प्रलय के बाद होना सिद्ध है । जैसे 'वर्तमानं स्थूलद्रव्यात्मकं जगत् दृश्यसन्तानशून्यैः उपादानकारणैः उत्पन्नम्, स्थूलद्रव्यत्वात् प्रदीप्तज्वालावत् ।' इस से यह सिद्ध होता है कि प्रलय के बाद नई सृष्टि का निर्माण होता है । अतः एव उस में घटपट आदि की प्रथम रचना आधुनिक कुलालादि से

प्रत्ययतः=प्रमायाः, 'वेदजन्यप्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्या, शाब्दप्रमात्वात्, आधुनिकवाक्यजशाब्दप्रमावत् ।'

श्रुतेरपि । वेदोऽसंसारिपुरुषप्रणीतः, वेदत्वात्, इति व्यतिरेकिणः । न च परमते साध्याऽप्रसिद्धिः, 'आत्मत्वमसंसारिवृत्ति, जातित्वात्' इत्यनुमानेन पूर्वं साध्यसाधनात् ।

संभव नहीं है क्योंकि आधुनिक कुलालादि को घट आदि का निर्माण करने के लिये उस के निर्माण की विधि दूसरे से शीखनी होती है । अतः सृष्टि के आरंभ में घट आदि का प्रथम निर्माण करनेवाला वही पुरुष हो सकता है जिस को उस का निर्माण करने के लिये किसी दूसरे से शिक्षा लेने की आवश्यकता न हो। ऐसा पुरुष ईश्वर ही हो सकता है। इसलिये ईश्वर ही घट आदि का प्रथम निर्माता होने से घट आदि व्यवहार का मूल प्रवर्तक हो सकता है ।

[वेद के प्रमात्मक ज्ञान से वक्ता ईश्वर की सिद्धि]

प्रत्ययतः=प्रत्यय से भी ईश्वर का अनुमान हो सकता है। प्रत्यय का अर्थ है प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान-इस से होनेवाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है जैसे-वेद से उत्पन्न होनेवाली प्रमा वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थज्ञान से उत्पन्न होती है। क्योंकि वह शब्द से उत्पन्न होनेवाली प्रमा है। जो प्रमा शब्द से उत्पन्न होती है वह वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थज्ञान से ही उत्पन्न होती है। जैसे आधुनिकवाक्य से उत्पन्न होनेवाली प्रमा। आशय यह है कि मनुष्य को जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब उस ज्ञान का सङ्क्रमण करने के लिए अर्थात् उस ज्ञान को दूसरे मनुष्य तक पहुंचाने के लिये वह वाक्य का प्रयोग करता है और उस वाक्य से दूसरे को उसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है जिस प्रकार के ज्ञान का सङ्क्रमण करने के लिये वक्ता ने वाक्य प्रयोग किया हो। यदि वक्ता का ज्ञान अयथार्थ होता है तो उस ज्ञान का संक्रमण करने के लिये प्रयुक्त होनेवाले वाक्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अयथार्थ होता है। और यदि वक्ता का ज्ञान यथार्थ होता है तो उस के वाक्य से श्रोता को उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यथार्थ होता है। इस प्रकार वाक्य से यथार्थज्ञान का जन्म वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानपर निर्भर है। वेद भी वाक्यस्वरूप है। अतः एव उस से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यथार्थ तभी हो सकता है जब वेदवक्ता को वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो। यतः वेद से होनेवाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान माना जाता है अतः यह मानना आवश्यक है कि वेद वक्ता को वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान है । वह यथार्थज्ञान आधुनिक वक्ता को नहीं हो सकता। क्योंकि आधुनिक वक्ता को जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से ही होता है और स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्यों के अर्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुमान आदि से नहीं उत्पन्न किया जा सकता। अतः यह मानना आवश्यक है कि वेद का वक्ता कोई अैसा पुरुष है जिसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि साधनों के विना ही वेदार्थ का यथार्थज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जिस पुरुष के वेदार्थ विषयक यथार्थज्ञान द्वारा वेद से होने वाली यथार्थ बुद्धि का उदय हो सकता है वह पुरुष ईश्वर से अन्य नहीं हो सकता।

[वेद किसी असंसारी पुरुष से जन्य है]

श्रुति=वेद से भी ईश्वर का अनुमान होता है। और वह अनुमान व्यतिरेकी होता है। उस का प्रयोग इस प्रकार होता है-जैसे 'वेद असंसारी पुरुष द्वारा रचित है, क्योंकि वह वेद है। जो असंसारी पुरुष से रचित नहीं होता वह वेद नहीं होता-जैसे आधुनिक काव्यादि ।'-इस अनुमान में यह शंका हो सकती है कि-'असंसारी पुरुष की सत्ता में कोई प्रमाण न होने से 'असंसारी पुरुष से रचित होना'

वाक्यादपि । वेदः पौरुषेयः, वाक्यत्वात्, भारतवत् इत्यन्वयिनः ।

संख्याविशेषः=द्व्यणुकपरिमाणजनिका संख्या, ततोऽपि । 'इयं संख्या, अपेक्षाबुद्धिजन्या, एकत्वान्यसंख्यात्वात्,' इत्यस्मदाद्यपेक्षाबुद्ध्यजन्यत्वादतिरिक्तापेक्षाबुद्धिसिद्धौ तदाश्रयतयेश्वरसिद्धेः । न चाऽसिद्धिः, 'द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यम्, जन्यपरिमाणत्वात्, घटादिपरिमाणवत्' । न वा दृष्टान्तासिद्धिः, द्वि-कपालादिपरिमाणात् त्रिकपालादिघटपरिमाणोत्कर्षादिति दिग् ।

रूप साध्य अप्रसिद्ध है ।'–किन्तु विचार करने से यह शङ्का उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि असंसारी पुरुष अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं । जैसे-'आत्मत्व असंसारी में विद्यमान है, क्योंकि वह जाति है । जो भी जाति होती है वह असंसारी में विद्यमान होती है जैसे घटत्व पटत्व आदि जाति ।' आशय यह है कि संसार का अर्थ है मिथ्याज्ञान या मिथ्याज्ञानजन्यवासना अथवा शुभाऽशुभ कर्मों का बन्ध । यह संसार चेतनगत होने से घटपटादि में नहीं रह सकता । अत एव घटपटादि असंसारी कहा जाता है । घटत्व-पटत्व जाति असंसारी घट आदि में रहती है । तो जैसे घटत्व पटत्व जाति होने से असंसारी में विद्यमान होती है वैसे आत्मत्व-पुरुषत्व को भी जाति होने के कारण असंसारी में विद्यमान होना चाहिये । और यह तभी हो सकता है जब किसी पुरुष को असंसारी माना जाय । क्योंकि आत्मत्व पुरुष का ही धर्म हैं, असंसारी घटपटादि का धर्म नहीं है । इस अनुमान से असंसारी पुरुष सिद्ध है । अतः साध्याऽप्रसिद्धि की शङ्का नहीं हो सकती है ।

(वाक्य पक्षक अनुमान]

वाक्य से भी ईश्वर का अनुमान होता है और वह अनुमान अन्वयी होता है । जैसे, वेद पुरुष से रचित है क्योंकि वह वाक्य है । जो भी वाक्य होता है वह पुरुष से रचित होता है जैसे महाभारत-रामायण आदि । इस अनुमान में वाक्यत्व हेतु है । इसलिये उसे समझ लेना आवश्यक है अन्यथा उस में इस आधार पर इस प्रकार के व्यभिचार की शङ्का हो सकती है कि 'कोई ऐसा भी वाक्य हो सकता है जो पुरुष से रचित नहीं होता ।' जिज्ञासा होती है कि वाक्य का ऐसा क्या अर्थ है कि जिस से पुरुष से अरचित वाक्य की संभावना न हो । उत्तर यह है कि वाक्य ऐसे पदों के समूह को कहा जाता है जो पद परस्पर में साकाङ्क्ष हो, एकदूसरे से आसन्न हो, योग्यार्थक हो और किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने की ईच्छा से प्रयुक्त हो । तो इसप्रकार वाक्य लक्षण के गर्भ में वाक्यार्थ बोधन की इच्छा के प्रविष्ट होने से विना पुरुष के कोई वाक्य नहीं हो सकता । क्योंकि विशिष्टार्थ बोधन की इच्छा पुरुष में ही संभव है और उस के बिना वाक्य की निष्पत्ति अशक्य है ।

(द्व्यणुकपरिमाणोत्पादकसंख्याजनक अपेक्षाबुद्धि से ईश्वरसिद्धि)

संख्याविशेष से भी ईश्वर का अनुमान होता है और वह विशेष संख्या हैं द्व्यणुक में परिमाण को उत्पन्न करनेवाली परमाणुगत द्वित्व संख्या । उस संख्या से होनेवाला अनुमान का प्रयोग इसप्रकार होता है जैसे "द्व्यणुक परिमाण की उत्पादिका परमाणुगत द्वित्वसंख्या अपेक्षाबुद्धि से जन्य है,

क्योंकि वह एकत्व से भिन्न संख्या है। एकत्व से भिन्न जो भी संख्या होती है वे सभी अपेक्षाबुद्धि से जन्य होती है जैसे दो घटो में रहने वाली द्वित्व संख्या 'अयमेक घटः अयमेक घटः' इस अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है।" इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि परमाणुओं में भी 'अयमेकः परमाणुः अयमेकः परमाणुः' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि होती है और उस से परमाणु में उत्पन्न होने वाला द्वित्व द्व्यणुक परिमाण को उत्पन्न करता है। परमाणुओं में होने वाली यह अपेक्षाबुद्धि जीवों में संभव नहीं है क्योंकि जीवों को परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि अनुमान आदि से परमाणुओं में अपेक्षाबुद्धि की कल्पना की जाय तो वह भी सृष्टि के आरंभकाल में संभव नहीं है। क्योंकि सृष्टि के आरंभकाल में जो द्व्यणुक उत्पन्न होगा उसमें परिमाण उत्पन्न करने के लिये उस समय परमाणु में द्वित्व की आवश्यकता होगी और उसकी उत्पत्ति के लिये उसी समय परमाणुओं में अपेक्षाबुद्धि अपेक्षित है। और उस समय जीवों के शरीर न होने से जीवों में बुद्धि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिये परमाणुओं में ईश्वर की ही अपेक्षाबुद्धि माननी होगी। ईश्वर के बिना परमाणुओं में अपेक्षाबुद्धि न होने से उन में द्वित्व की उत्पत्ति हो सकेगी और द्वित्व के अभाव में द्व्यणुक में परिमाण न उत्पन्न हो सकेगा।

[द्व्यणुकपरिमाण में संख्याजन्यत्व पर आशंका]

इस अनुमान में यह शङ्का हो सकती है– "द्व्यणुकपरिमाण के संख्या के जन्यत्व में कोई प्रमाण न होने से द्व्यणुकपरिमाणजनक परमाणुगतद्वित्व संख्या रूप पक्ष असिद्ध है"–किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि अनुमान से उक्त संख्या सिद्ध है जैसे "द्व्यणुक का परिमाण संख्याजन्य है, क्योंकि वह जन्यपरिमाण है। जो जन्य परिमाण होता है वह संख्या से जन्य होता है जैसे घटादि का परिमाण। यदि यह कहा जाय–"इस अनुमान में दृष्टान्त असिद्ध है क्योंकि घट आदि का परिमाण कपाल आदि के परिमाण से उत्पन्न होने के कारण संख्याजन्य नहीं होता–" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि परिमाणजन्य परिमाण को भी संख्याजन्य मानना आवश्यक है। अन्यथा समान परिमाणवाले दो कपालों से उत्पन्न होने वाले घट के परिमाण से समान परिमाण वाले तीन कपालों से उत्पन्न होने वाले घट-का परिमाण अधिक न हो सकेगा। क्योंकि दोनों घटों के परिमाण को उत्पन्न करने वाले कपाल परिमाण समान ही है। और जब परिमाण को संख्याजन्य माना जायगा तो पूर्वघट का परिमाण कपालगत द्वित्व संख्या से उत्पन्न होगा और दूसरा घट कपालगत त्रित्व संख्या से उत्पन्न होगा। त्रित्व संख्या द्वित्व संख्या से बडी होती है। इसलिये त्रित्व संख्या से उत्पन्न होनेवाले द्वितीयघट के परिमाण का द्वित्वसंख्या से उत्पन्न होनेवाले पूर्वघट के परिमाण की अपेक्षा अधिक होना युक्तिसङ्गत हो सकता है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का हो सकती है-'द्व्यणुकपरिमाण संख्याजन्यम्' इस अनुमान में पक्ष असिद्ध हे क्योंकि द्व्यणुक के परिमाण होने में कोई प्रमाण नहीं है।' परन्तु किञ्चित् विचार करने से यह शङ्का निरस्त हो जाती है क्योंकि द्व्यणुक में परिमाण और उस परिमाण में जन्यता दोनों ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध है जैसे 'द्व्यणुकं परिमाणवत् द्रव्यत्वात्' और 'द्व्यणुकपरिमाणं जन्यं जन्यद्रव्य-परिमाणत्वात्'। द्व्यणुक में जन्यद्रव्यत्व के असिद्धि की शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि 'द्व्यणुकं जन्यद्रव्यं सावयवत्वात्' इस अनुमान से जन्यद्रव्यत्व सिद्ध है। द्व्यणुक में सावयवत्व की असिद्धि की भी शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि वह भी 'द्व्यणुकं सावयवं प्रत्यक्षद्रव्याश्रयत्वात् कपालादिवत्' इत्यादि अनुमान से सिद्ध है।

अथवा, कार्यं=तात्पर्यं वेदे यस्य तत्, स एवेश्वरः । आयोजनं सद्व्याख्या, 'वेदाः केनचिद् व्याख्याताः, महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात्' । अव्याख्यातत्वे तदर्थानवगमेऽननुष्ठानापत्तेः, एकदेशदर्शिनोऽस्मदादेश्च व्याख्यायामविश्वासः, इति तद्व्याख्ययेश्वरसिद्धिः । धृतिर्धारणं मेधाख्यज्ञानम्, आदिपदार्थोऽनुष्ठानम् ततोऽपि । 'वेदा वेदविषयकजन्यधारणान्यधारणाविषयाः, धृतिवाक्यत्वात्, लौकिकवाक्यवत्; यागादिकं यागादिविषयकजन्यज्ञानान्यज्ञानवदनुष्ठितम्, अनुष्ठितत्वात् गमनवत्' इति प्रयोगः । पदं प्रणवेश्वरादिपदम्, तत्सार्थक्यात् स्वतन्त्रोच्चारयितृशक्त [1]श्रुत्यादिस्थाऽहंपदाद् वा । न चेश्वरादिपदस्य स्वपरता,

"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः [2]षडन्तरङ्गाणि महेश्वरस्य ॥ 1 ॥

इत्यादिवाक्यशेषेण 'ईश्वरमुपासीत' इत्यादिविधिस्थेश्वरादिपदशक्तिग्रहात्, यथा यवादिपदस्य "[3]वसन्ते सर्वसस्यानां०" इत्यादिवाक्यशेषाच्छक्तिग्रहेण न कङ्ग्वादिपरता ।

['कार्यायोजन०' कारिका की अन्य प्रकार से योजना]

कार्यायोजन० इत्यादि कारिका से ईश्वर अनुमान करने का दूसरा भी प्रकार सूचित होता है जैसे कार्य का अर्थ है तात्पर्य । उससे ईश्वर का अनुमान इस रूप से हो सकता है-'वेदः सतात्पर्यकः (अर्थात्' अर्थविशेषबोधनेच्छाप्रयुक्तः, अर्थविशेषबोधकशब्दत्वात् आधुनिकशब्दवत् ।' इस अनुमान से वेद का अर्थविशेष में तात्पर्य सिद्ध होता है । तात्पर्य इच्छारूप होता है अत एव वह किसी आश्रय के बिना नहीं रह सकता । अतः उस का कोई आश्रय मानना आवश्यक है । जीव उस तात्पर्य का आश्रय नहीं हो सकता. क्योंकि वह वेद का आद्य वक्ता नहीं है । जिस शब्द का आद्यवक्ता होता है वह शब्द उसी के तात्पर्य से प्रयुक्त होता है अतः उस तात्पर्य के आश्रय रूप में ईश्वर का स्वीकार आवश्यक है ।

[वेद की यथार्थव्याख्या ईश्वर प्रयुक्त है]

आयोजन का अर्थ है यथार्थव्याख्या । उस से भी ईश्वरानुमान होता है । जैसे वेद किसी पुरुष से व्याख्यात है क्योंकि वह महाजन से परिगृहीत वाक्य है । व्याख्यात होने का अर्थ है सुगम वाक्यों से अर्थ का बोधन होना या अर्थ का बोधित होना । और महाजनपरिगृहीत होने का अर्थ है महाजनों द्वारा पढा जाना, अर्थ ज्ञान प्राप्त करना, और ज्ञात अर्थ का अनुष्ठान या वर्णन करना । महाजन का अर्थ है सत् और असत् की परीक्षा कर के सत् का ग्रहण और असत् का परित्याग करने की प्रवृति से संपन्न होना । यदि वेदों की व्याख्या न होती तो वेदार्थ का ज्ञान न होता और वेदार्थ के

---

[१] "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" [भ. गी. ९।१७] इत्यादौ । [२] 'षडाहुरङ्गानि' इत्यन्यत्र ग्रन्थे पाठः । [३] 'जायते पत्रशातनम्; मोदमानाश्च तिष्ठन्ति, यवा कणीशशालिनः' इति शेषं पादत्रयम् । आदिना 'वराहं गावोऽनुधावन्ति' इत्यादि ।

ज्ञान के अभाव में वेद के अनुसार कर्मों का अनुष्ठान आदि का प्रचलन न होता। अतः वेदार्थ का अनुष्ठान, वेदार्थ का ज्ञान और वेदों का अध्ययन महाजनों द्वारा होता है अतः किसी वेदार्थज्ञ के द्वारा उस की व्याख्या मानना आवश्यक है। यह व्याख्या किसी जीव द्वारा संपन्न नहीं हो सकती है क्योंकि वह अल्पज्ञ होता है और वेदार्थ अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। अतः एव अनेक अर्थों से गर्भित वाक्य की अल्पज्ञ द्वारा की जाने वाली व्याख्या में महाजनों को विश्वास नहीं पडता। इसलिये वेदों का व्याख्याता ऐसे ही पुरुष को मानना होगा जो संपूर्ण वेदार्थ को बिना किसी साधन के सहारे जानता हो। ऐसा पुरुष परमेश्वर से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता।

(वेदविषयक विशिष्टज्ञानरूप धृति से अनुमान)

धृति का अर्थ है-धारण, धारण का अर्थ है विशेष प्रकार का ज्ञान। जिसे मेधा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। और धृत्यादि में आदि शब्द का अर्थ है अनुष्ठान। इस विशिष्ट ज्ञानात्मकधृति और अनुष्ठान से भी ईश्वर का अनुमान होता है, जैसे धृतिमूलक अनुमान का प्रयोग इस रूप में किया जा सकता है-वेद वेदविषयक जन्यधृति, से अन्य धृति का विषय है क्योंकि धृति का विषयभूत वाक्य है। जो भी धृति का विषयभूत वाक्य होता है वह सब वेदविषयक जन्यधृति से अन्यधृति विषयक होता है जैसे लौकिकवाक्य महाभारत रामायण प्रभृति। आशय यह है कि लौकिक वाक्य की धृति वेदविषयकधृति से अन्य है, क्योंकि वह जन्य धृति होते हुए भी वेदविषयक नहीं है। उसी प्रकार वेद जिस धृति का विषय है उसे भी वेदविषयकधृति से अन्य होना चाहिये और वह धृति वेदविषयक होती है अतः वेदविषयकधृति से अन्य धृति उसी दशा में हो सकती है जब उसे नित्य माना जाय। इस प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि वेदविषयक नित्यज्ञान जो वेद को विषय करता है वह नित्यज्ञान जीव को हो नहीं सकता क्योंकि जीव में ज्ञान का सम्बन्ध साधनों द्वारा ही संपन्न होता है अतः उस ज्ञान के आश्रय रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है।

(यागानुष्ठान से अनुमान)

अनुष्ठान से तीसरा अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है जैसे याग=यागकर्म=यागविषयककर्म जन्यज्ञान से अन्य ज्ञानवाले पुरुषों से अनुष्ठित हुआ है। क्योंकि वह अनुष्ठित होता है। जो अनुष्ठित होता है वह सब यागादि जन्यविषयक ज्ञान से अन्य ज्ञानवाले पुरुषों से अनुष्ठित होता हैं जैसे गमनभोजनादि। आशय यह हैं-गमनभोजनादि 'अस्माभिः गन्तव्यं, अस्माभिः भोक्तव्यं' इत्यादि ज्ञान से युक्त पुरुषों द्वारा अनुष्ठित होता हैं और यह ज्ञान जन्यज्ञानरूप होने पर भी यागादिविषयक न होने से यागादिविषयक जन्य ज्ञान से अन्य ज्ञान कहलाता हैं। उसी प्रकार यागादि जिस ज्ञान से होता हैं उसे भी यागादिविषयक जन्यज्ञान से अन्य होना चाहिये। और वह ज्ञान यतः यागादिविषयक है अतः उसे नित्य मानने पर ही वह यागादिविषयक जन्यज्ञान से अन्य ज्ञान हो सकता है। और वह ज्ञान जीव में आश्रित नहीं होता इसलिये उस के आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि आवश्यक हैं।

(ॐ-अहं-ईश्वर आदि पद से अनुमान]

पद का अर्थ है 'प्रणव' नामक पद जिसे 'ॐ' कहा जाता है, और 'ईश्वर' आदि पद। इन पदों से भी ईश्वरानुमान होता हैं जैसे-'ॐ' यह प्रणव पद और ईश्वरादि पद सार्थक हैं क्योंकि वह साध्य-

प्रत्ययो=विधिप्रत्ययः, ततोऽपि, आप्ताभिप्रायस्यैव विध्यर्थत्वात् । न हीष्टसाधनत्वमेव

पद है । जो साध्यपद होता है वह सार्थक होता हैं जैसे घट आदि पद ।' उन पदों की सार्थकता अन्य किसी पदार्थ के द्वारा नहीं हो सकती क्योंकि अन्य किसी भी पदार्थ को चाहे वह जीव हो या चाहे जीव से भिन्न जड हो उसे ॐ या ईश्वर आदि पद से नहीं अभिहित किया जाता है । इसलिये उस की सार्थकता की उत्पत्ति के लिये ईश्वर को उन पदों का अर्थ मानना आवश्यक है ।

वेद में उपलब्ध होनेवाले 'अहम्' पद से भी ईश्वर का अनुमान होता है जैसे-वेदस्थ 'अहम्' पद स्वतन्त्र उच्चारणकर्ता का वाचक है क्योंकि वह अहम् पद है । जो भी अहम् पद होता है वह सब स्वतन्त्र उच्चारण कर्ता का वाचक होता है जैसे 'अहं गच्छामि' 'अहं इच्छामि' इत्यादि लौकिक वाक्यस्थ 'अहम्' पद अपने मूल वक्ता का बोधक होता है । वेदस्थ 'अहम्' पद का स्वतंत्र उच्चारणकर्त्ता कोई जीव नहीं हो सकता क्योंकि जो भी जीव 'अहम्' पद युक्त वैदिक वाक्यों का उच्चारण करता है वह अन्य पुरुष से उस वाक्य के उच्चारण को सीखकर ही करता है । अतः एव कोई ऐसा पुरुष मानना आवश्यक है जिसने वेदस्थ अहम् पद का सर्व प्रथम प्रयोग किया, जिसे उस के प्रयोग के लिये किसी दूसरे से शिक्षा नहीं लेनी पडी । ऐसा वैदिक अहम् पद का स्वतंत्र उच्चारणकर्ता ईश्वर ही हो सकता है ।

इस प्रसङ्ग में यह शंका हो सकती है-"ईश्वरादि पद अपने स्वरूप का ही बोधन करते हैं । इस प्रकार अपने स्वरूप के बोधन से भी उन पदों की सार्थकता उपपन्न हो जाने से उन पदों के अर्थ के रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है ।"-किन्तु विचार करने पर यह शंका सबल नहीं है क्योंकि 'ईश्वरमुपासीत' इस विधिवाक्य का श्रवण होने पर यह जिज्ञासा होती है-'ईश्वर शब्द का क्या अर्थ है जिस की उपासना का इस वाक्य से विधान किया जा रहा है' ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये 'सर्वज्ञता तृप्ति०' आदि वचन प्रस्तुत होता है । उस के अनुसार 'ईश्वरमुपासीत' इस विधिवाक्य के ज्ञाता पुरुषों की दृष्टि में ईश्वर वह पुरूष है जो सर्वज्ञ हो, नित्य तृप्त हो अर्थात् जिसे कभी अपने सुख की कामना न हो, नित्यज्ञान से संपन्न हो, स्वतंत्र हो अर्थात् जिस की इच्छा अन्य पुरुष की इच्छा को अधीन न हो और जिस की शक्ति का कभी लोप न हो और अनन्त हो । अर्थात् जिस का प्रयत्न नित्य और सर्वविषयक हो और जो विभु=व्यापक हो । इस प्रकार 'ईश्वरमुपासीत' इस विधिवाक्य के पूरक 'सर्वज्ञतातृप्ति' आदि वाक्य से उक्त प्रकार का पुरुष विशेष ईश्वर-पद का अर्थ है यह सिद्ध होता है । शब्दार्थ के निश्चय की यह रीति उसी प्रकार मान्य है जैसे 'यवैः यजेत' इस वाक्य के पूरक " वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणीशशालिन" इस वाक्य से यव पद के अर्थ का निर्णय करने की रीति । इस वाक्य से यह निश्चय होता है कि म्लेच्छों द्वारा यव शब्द से व्यवहृत होने वाला कङ्गु आदि यव शब्द का अर्थ नहीं हैं किन्तु वसन्त ऋतु में अन्य संपूर्ण सस्यों के पत्ते गिर जाने पर भी जो अपने कणसभर पत्तों के साथ विद्यमान होता है ऐसा सस्य ही यव शब्द का अर्थ है ।

[यजेत इत्यादि में विध्यर्थप्रत्यय से अनुमान]

प्रत्यय का अर्थ है विधि प्रत्यय । उस से भी ईश्वर का अनुमान होता है । क्योंकि विधिप्रत्यय का अर्थ होता है आप्ताभिप्राय । जैसे गुरु यदि शिष्य को उपदेश देता है 'मुक्तिकामः हरिं स्मरेत् =मोक्ष

तथा, 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इत्युक्तौ, 'कुतः' इति प्रश्ने 'यतो दारुमथनमग्निसाधनम्' इत्युत्तरेऽग्निसाधनत्वेन विध्यर्थवत्त्वानुमानानुपपत्तेः, अभेदे हेतुत्वेनोपन्यासाऽनौचित्यात्, 'तरति मृत्युम्०' इत्यादौ विधिवाक्यानुमानानुपपत्तेश्चेष्टसाधनतायाः प्रागेव बोधात्, 'कुर्याः, कुर्याम्' इत्यादौ वक्तृसंकल्पस्यैव बोधात्, आज्ञाऽध्येषणा-ऽनुज्ञा-संप्रश्न-प्रार्थनाऽऽशंसालिङीच्छाशक्तत्वस्यैव कल्पनाच्च। उल्लङ्घने क्रोधादिभयजनिकेच्छाऽऽज्ञा, अध्येषणीये प्रयोक्तुरनुग्रहद्योतिकाऽध्येषणा, निषेधाभावव्यञ्जिकाऽनुज्ञा, प्रयोजनादिजिज्ञासा प्रश्नः, प्राप्तीच्छा प्रार्थना, शुभेच्छाऽऽशंसा। निषेधानुपपत्तेश्च, इष्टसाधनत्वनिषेधस्य बाधात्; बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्यापि तदर्थत्वे 'श्येनेन०' इत्यादौ अलसस्य यागादिदुःखेऽपि बलवद्द्वेषेण 'यजेत' इत्यादौ बाधात्। तत आप्ताभिप्रायस्यैव विध्यर्थत्वात् तादृशाभिप्रायवदीश्वरसिद्धिः।

चाहने वाले को भगवान का स्मरण करना चाहिये; तो शिष्य को इस विधिप्रत्ययघटितवाक्य से यह बोध होता है-'भगवान का स्मरण यही मुमुक्षु का कर्तव्य है-यह गुरुदेव का अभिप्राय है।' इस अभिप्राय को जान कर ही शिष्य भगवान के स्मरण में प्रवृत्त होता है, क्योंकि गुरु जन के अभिप्राय को जान कर तदनुसार कार्य करना ही शिष्टाचार-प्राप्त कर्तव्य है। वेदवाक्य में भी विधिप्रत्यय होता है जैसे स्वर्गकामो यजेत' में यज् धातु के उत्तर में श्रूयमाण लिङ् प्रत्यय। इस लिङ्प्रत्यय का भी अर्थ 'आप्त का अभिप्राय' मानना होगा। अर्थात् इस लिङ् प्रत्यय घटित वाक्य से भी इस प्रकार का ही बोध मानना होगा-'यज्ञ स्वर्गकाम पुरुष का कर्त्तव्य है यह "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य के प्रयोग करने वाले आप्त का अभिप्राय हैं'। यह अभिप्राय उसी पुरुष का हो सकता है जिसे यह सहज ज्ञान हो कि याग स्वर्ग का साधन होता है। अैसा पुरूष कोई जीव न होगा, ईश्वर ही हो सकता है. क्योंकि याग में स्वर्गसाधनता का सहज ज्ञान जीव को नहीं हो सकता, वह ईश्वर को ही संभवित है क्योंकि वह संपूर्ण पदार्थों का साधननिरपेक्ष द्रष्टा होता है। इस प्रकार वेदस्थ विधिवाक्य से सूचित होनेवाले आप्त के अभिप्राय के आश्रय रूप में ईश्वर का अनुमान होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जैसे 'वेदस्थ विधि प्रत्यय आप्ताभिप्राय का बोधक है, क्योंकि वह विधिप्रत्यय है, जो भी विधि प्रत्यय होता है वह सब आप्ताभिप्राय का बोधक होता है। जैसे 'भृत्यः आपणम् गच्छेत्' 'शिष्यः शास्त्रम् पठेत्' 'वत्सः दुग्धं पिबेत्' इत्यादि लौकिक वाक्यों में सुनाई देनेवाला विधि प्रत्यय।

[विधिप्रत्ययार्थ इष्टसाधनता या आप्ताभिप्राय ?

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का हो सकती है-"विधिप्रत्यय चाहे लौकिकवाक्य हो चाहे वैदिकवाक्य हो, सर्वत्र उस का इष्टसाधनत्व ही अर्थ होता है न कि आप्ताभिप्राय। क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति इष्टसाधनताज्ञान से ही होती है, न कि आप्ताभिप्राय के ज्ञान से। अतः आप्ताभिप्राय को विधिप्रत्यय का अर्थ मानने पर भी यही मानना होगा कि विधि प्रत्यय से आप्ताभिप्राय का ज्ञान होता है और

आप्ताभिप्राय से इष्टसाधनता का ज्ञान होता है और उस ज्ञान से मनुष्य की प्रवृत्ति होती हैं। जैसे, गुरु के 'मोक्षकामः हरिं स्मरेत्' इस वाक्य से 'हरिस्मरणम् मोक्षकामकर्त्तव्यतया गुरोः अभिप्रेतम्' अर्थात् 'भगवान का स्मरण मुमुक्षु पुरुष के कर्तव्य रूप में गुरू को अभिप्रेत है' यह ज्ञान होने पर यह अनुमान होता है- भगवत् स्मरण मोक्ष का साधन है. क्योंकि मोक्षकाम के कर्तव्यरूप में आप्त को अभिप्रेत है। जो जिस फल का साधन नहीं होता वह उस फल को चाहने वाले पुरूष के कर्तव्यरूप में आप्ताभिप्रेत नहीं होता । जैसे द्युतक्रीडा आदि मोक्ष का साधन न होने से किसी आप्तपुरुष को मोक्षकाम के कर्तव्यरूप में अभिप्रेत नहीं होता'-इस प्रकार जब आप्ताभिप्राय के द्वारा इष्टसाधनता का बोध मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये अपेक्षित है तो विधिप्रत्यय से आप्ताभिप्राय का बोध और आप्ताभिप्राय से इष्ट साधनता का अनुमान मानने की अपेक्षा यही मानना उचित है-इष्ट साधनता ही विधिप्रत्यय का अर्थ है। विधिप्रत्यय-घटित वाक्य से इष्टसाधनता का हो सीधा बोध होता है, मध्य में आप्ताभिप्राय के बोध की कल्पना अनावश्यक है। इसप्रकार जब इष्टसाधनता ही युक्तिद्वारा विधिप्रत्यय का अर्थ सिद्ध होता है तो उक्त रीति से विधि प्रत्यय को ईश्वर का अनुमापक बताना उचित नहीं हो सकता।"-

(इष्टसाधनता पक्ष में समस्या)

किन्तु विचार करने पर यह शङ्का उचित नहीं प्रतीत होती। क्योंकि विधिप्रत्यय के अर्थ का अनुमान इष्टसाधनत्व से किया जाता है। यदि इष्टसाधनत्व ही विधिप्रत्यय का अर्थ होगा तो साध्य साधन में ऐक्य हो जाने के कारण इष्टसाधनत्व विधिप्रत्ययार्थ का अनुमापक न हो सकेगा। जैसे 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्'=अग्नि चाहनेवाले मनुष्यों को दो काष्ठों का घर्षण करना चाहिये।' इस विध्यर्थं का ज्ञान होने पर प्रश्न होता है-ऐसा क्यों ? अर्थात् 'कुतः अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात् ?' इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि दारुमथन अग्नि का साधन है'। इसप्रकार उक्त वाक्य से विध्यर्थ का ज्ञान होने में अग्निसाधनता को उसके हेतुरूप में प्रसिद्ध किया जाता है। इसलिये यह मानना आवश्यक है कि विध्यर्थ इष्टसाधनता से भिन्न है और जब आप्ताभिप्राय को विधिप्रत्यय का अर्थ माना जायगा तब 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इस वाक्य से दारु मथन अग्निकामी के कर्तव्य रूप में आप्त को अभिप्रेत है-यह ज्ञान होगा। और उस पर जब यह प्रश्न होगा कि 'दारु का मथन अग्निकामी के कर्तव्यरूप में आप्त को क्यों अभिप्रेत है' ? इस के उत्तर में यह कहना सङ्गत होगा कि-यतः दारुमथन अग्नि का साधन है इसलिये अग्निकामी के कर्त्तव्यरूप में आप्त को अभिप्रेत है।

(तरति मृत्युं० से विधिवाक्य का अनुमान)

इष्टसाधनता को विधि प्रत्यय का अर्थ मानने पर 'तरति मृत्युम् आत्मविद्' इत्यादि वाक्यों से विधिवाक्य का अनुमान न हो सकेगा क्योंकि विधिवाक्यानुमान के पूर्व ही उन स्थलों में इष्टसाधनता का बोध हो जाता है। आशय यह है कि 'आत्मज्ञो मृत्युं तरति' यह वाक्य इस अर्थ को बताता है कि 'आत्मज्ञानी मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है'। इस अर्थबोध के बाद यह जिज्ञासा होती है कि आत्मज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण होता है इस में क्या प्रमाण है? उस के उत्तर में यह कहा जाता है कि 'आत्मज्ञो मृत्युं तरति' इस वाक्य से आत्मज्ञान के मृत्युतरणरूप फल का श्रवण होने पर इस विधिवाक्य का अनुमान होता है कि 'मृत्युतरणकामः आत्मानं जानीयात्', यह विधिवाक्य ही आत्मज्ञान के मृत्युतरण

की साधनता में प्रमाण है। किन्तु यदि विधिप्रत्यय का अर्थ इष्टसाधनता को माना जाय तो 'आत्मज्ञो मृत्युं तरति' इस वाक्य से ही आत्मज्ञान में मृत्युतरण की साधनता का बोध हो जाने से उस बोध के संपादनार्थ विधिवाक्य का अनुमान निरर्थक हो जायगा। और यदि विधि प्रत्यय का अर्थ आप्ताभिप्राय माना जायगा तब 'आत्मज्ञो मृत्युं तरति' इस वाक्य से आत्मज्ञान मृत्युतरण का साधन हैं यही बोध होने के कारण आत्मज्ञान मृत्युतरण चाहने वाले के कर्तव्यरूप में आप्ताभिप्रेत है इस विध्यर्थ का ज्ञान कराने के लिये विधिवाक्य के अनुमान की सार्थकता हो सकेगी। क्योंकि यह बोध 'आत्मज्ञो मृत्युं तरति' इस वाक्य से नहीं होता।

विधिप्रत्यय से ईश्वरानुमान होने का एक और भी प्रकार है जैसे, वेदवाक्य में मध्यम पुरुषीय और उत्तम पुरुषीय विधि प्रत्यय भी उपलब्ध होते हैं। जैसे 'आत्मानम् विद्धि=आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो'। 'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय=में एक हूँ बहुत हो जाऊं और प्रकृष्ट रूप में प्रादुर्भूत होऊं।' इन वाक्यों में आये विधिप्रत्यय को उन से घटित वाक्य के वक्ता के संकल्प का बोधक मानना आवश्यक है क्योंकि मध्यम और उत्तम पुरुषीय विधिप्रत्यय वक्ता के ही संकल्प का बोधक होता है। जैसे 'इदं कार्यं कुर्याः।' इन लोकिक वाक्यों में आये विधिप्रत्यय से वक्ता के ही संकल्प का बोध होता है। इसप्रकार वैदिक वाक्यों में आये विधिप्रत्यय से जिस वक्ता के संकल्प का बोध होगा वह जीव नहीं हो सकता किन्तु ईश्वर ही हो सकता है। क्योंकि वेद का आद्यवक्ता ईश्वर ही हो सकता है जीव नहीं हो सकता।

इसी प्रकार आज्ञा अध्येषणा अनुज्ञा संप्रश्न प्रार्थना और आशंसा बोधक लिङ्प्रत्यय भी इच्छारूप अर्थ का ही बोधक होता है और यह सभी प्रकार के लिङ्वेदों में उपलब्ध होते हैं। अतः एव उन से बोधित होनेवाली इच्छा के आश्रय रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है। लिङ् के आज्ञा आदि अर्थों के निर्वचन से लिङ् की इच्छावाचकता स्पष्ट है। जैसे—

आज्ञा का अर्थ वह इच्छा है जिस का उल्लङ्घन करने पर इच्छावान् पुरुष क्रुद्ध होने का संभव हो।

अध्येषणा का अर्थ है वह इच्छा जिस से अध्येषणार्थक लिङ् का प्रयोग करने वाले पुरुष की अध्येषणीय पुरुष के प्रति कृपा का बोध हो।

अनुज्ञा का अर्थ वह इच्छा है जिस से निषेध का अभाव सूचित हो।

प्रयोजन अथवा हेतु आदि को जानने की इच्छा का नाम है प्रश्न।

किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा का नाम है प्रार्थना।

शुभ की इच्छा का नाम है आशंसा। इस प्रकार आज्ञा आदि के इस निर्वचन के अनुसार आज्ञादि बोधक लिङ् की इच्छा की बोधकता स्पष्ट है।

[निषेध की अनुपपत्ति]

इष्टसाधनत्व को विधि प्रत्यय का अर्थ मानने में एक और भी बाधा है और वह है निषेध की अनुपपत्ति। जैसे 'सविषमन्नं मा भुंक्ष्व' इस निषेध वाक्य सविष अन्न के भोजन में विध्यर्थ का निषेध करता है। यदि विध्यर्थ इष्टसाधनता' होगा तो इस वाक्य का अर्थ होगा 'सविष अन्न का भोजन इष्ट का साधन नहीं होता' जो असंगत है क्योंकि भोजनकर्ता को इष्ट होती है तृप्ति=भूख की निवृत्ति। वह सविष अन्न के भोजन से भी संपन्न होती है, इसलिये सविष अन्न के भोजन में इष्ट-

श्रुतिः=ईश्वरविषयो वेदः ततः, 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादेर्विध्येकवाक्यतया'यद् न दुःखेन संभिन्नम्'० इत्यादिवत् तस्य स्वार्थ एव प्रामाण्यात् । वाक्यात्=वैदिकप्रशंसा-निन्दावाक्यात्, तस्य तदर्थज्ञानपूर्वकत्वात् । संख्या-'स्यामभूवम्, भविष्यामि' इत्याद्युक्ता । ततोऽपि स्वतन्त्रोच्चारयितृनिष्ठाया एव तस्या अभिधानादितिरहस्यम् ।

साधनता रहने के कारण उक्त वाक्य को इष्टसाधनता के अभाव का बोधक मानना उचित नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय-'केवल इष्टसाधनत्व को विधिप्रत्यय का अर्थ मानने पर यह दोष हो सकता है, किन्तु 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टइष्टसाधनता अर्थात् बलवान अनिष्ट का साधन न होते हुए इष्ट का साधन होना' इस को विधि प्रत्यय का अर्थ मानने में उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि सविष अन्न का भोजन यद्यपि तृप्ति रूप इष्ट का साधन है किन्तु साथ ही वह मृत्यु रूप बलवान अनिष्ट का भी साधक है । इसलिये निषेध वाक्य से बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट इष्टसाधनत्व के अभाव का बोध होने में कोई बाधा नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस विधि वाक्य से श्येनयाग में विधिप्रत्ययार्थ का बोध होता है; यदि विधिप्रत्यय का अर्थ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टइष्टसाधनत्व को माना जायगा तो श्येनयाग में शत्रुवधजन्य पाप द्वारा नरकरूप बलवान अनिष्ट की साधनता होने के कारण इस में विधिप्रत्यय से विध्यर्थ का बोध न हो सकेगा । इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से यज्ञ में उस पुरुष को विध्यर्थ का बोध न हो सकेगा जो यज्ञ के अनुष्ठान में अवश्यंभावी अल्प दुःख को भी बलवान समझ कर उससे द्वेष करता है ।

इन सब बातों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विधिप्रत्यय का अर्थ आप्ताभिप्राय ही है अन्य कुछ नहीं । अतः उस अभिप्राय के आश्रय रूप में ईश्वर की सिद्धि आवश्यक है ।

(वेद गत इश्वर निरूपण से ईश्वर सिद्धि)

श्रुति का अर्थ है ईश्वरपरक वेद । इस से भी ईश्वर का अनुमान होता है । कहने का आशय यह है कि वेद में ऐसे अनेक वचन प्राप्त होते हैं जिन में ईश्वर का वर्णन होता है । ऐसे वचन यद्यपि विधिरूप नहीं होते क्योंकि उन से किसी प्रकार के विधि या निषेध का उपदेश नहीं होता । जो विद्वान जैसे मीमांसकादि विधिनिषेध बोधक वाक्य को ही प्रमाण मानते हैं उन की दृष्टि में भी ऐसे वचन जो विधि-निषेध रूप नहीं होते अपने अर्थ में प्रमाण होते हैं, क्योंकि उन वाक्यों की विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होती है । अर्थात् विधिवाक्य और विधि से भिन्न विधि के अङ्गभूत वाक्य मिलकर एक अर्थ का प्रत्यायन करते हैं । जैसे 'विष्णु उपासीत' यह विधि वाक्य और 'यज्ञो वै विष्णुः' यह विधिभिन्न वाक्य दोनों 'यज्ञस्वरूपम् विष्णुमुपासीत' इस अर्थ का बोधक होता है । यह बोध तभी हो सकता है जब 'यज्ञो वै विष्णु' इस विधिभिन्न वाक्य को भी अपने अर्थ में प्रमाण माना जाय । इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' यह विधिवाक्य और-'यन्न दुखेन संभिन्नं, न च ग्रस्तम् अनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्' ॥ यह विधिभिन्न वाक्य ये दोनों मिलकर इस अर्थ का बोधन करते हैं कि यज्ञ ऐसे स्वर्ग सुख का साधन है जो दुःख से मिश्र नहीं है, जिसे बाद में भी दुःख से ग्रस्त होने की संभावना नहीं है और जो इच्छामात्र से ही प्राप्य है । यह बोध भी तभी संभव है जब

श्रुत्वैवं सकृदेनमीश्वरपरं सांख्याऽक्षपादागमं,
लोको विस्मयमातनोति न गिरो यावत् स्मरेदार्हतीः ।
किं तावद्बदरीफलेऽपि न मुहुर्माधुर्यमुन्नीयते,
यावत्पीनरसा रसाद् रसनया द्राक्षा न साक्षात्कृता ! ॥।॥३॥

✻ इत्थमभिहिता ईश्वरकर्तृत्वपूर्वपक्षवार्ता ✻

'यन्न दुःखेन संभिन्नं०' यह विधिभिन्न वाक्य अपने अर्थ में प्रमाण है । इन उदाहरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वेद के ऐसे वचन जो विधि-निषेधरूप न होते हुये भी ईश्वर का वर्णन करते हैं वे ईश्वर की सत्ता में प्रमाण हैं । इस प्रकार श्रुति अर्थात् ईश्वर परक वेद से भी ईश्वर की सिद्धि होती है ।

(प्रशंसापरक और निंदापरक वेदवाक्यों से ईश्वरसिद्धि)

वाक्य का अर्थ है वेद में प्राप्त होने वाले प्रशंसा और निन्दा का वाक्य। उन वाक्यों से भी ईश्वर का अनुमान होता है जैसे, वैदिक प्रशंसा और निन्दा के वाक्य स्वार्थज्ञानपूर्वक है क्योंकि वे वाक्य है; जो भी वाक्य होता है वह स्वार्थज्ञानपूर्वक होता है जैसे 'घटमानय पटमानय' इत्यादि लौकिक वाक्य । कहने का आशय यह है कि किसी भी वाक्य का प्रयोग किसी विशेषअर्थ को बताने के लिये किया जाता है और वह विशेष अर्थ वही होता है जो वक्ता को ज्ञात हो और जिसे बताने में प्रयुक्त होनेवाला वाक्य समर्थ हो । लोक में सारे वाक्य इसी ढंग के होते हैं । इसलिये वेद के प्रशंसा-निन्दा वाक्य जिस की प्रशंसा या निंदा का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं-यह मानना आवश्यक है कि वक्ता को उन के गुण और दोष का ज्ञान रहता है । क्योंकि वक्ता को जिस का गुण और दोष ज्ञात न होगा वह उस की प्रशंसा या निन्दा के वाक्य का प्रयोग नहीं कर सकता । तो इस प्रकार जब यह सिद्ध है कि वैदिक प्रशंसा और निन्दावाक्य भी स्वार्थज्ञानपूर्वक होते है तो उस ज्ञान के आश्रय रूप में जीव को स्वीकार करना संभव न होने से ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है ।

(उत्तम पुरुषीय आख्यात प्रत्यय से ईश्वर सिद्धि)

संख्या का अर्थ है वेद में प्राप्त होनेवाले उत्तमपुरुषीय तिङ्-आख्यात प्रत्यय से वाच्य संख्या । आशय यह है कि उत्तम पुरुषीय आख्यात अपने स्वतंत्र उच्चारण कर्ता की संख्या का बोधक होता है । जैसे चैत्र कहता है कि 'विद्यालयं गमिष्यामि' इस वाक्य में गम् धातु के उत्तर उत्तम पुरुष का एकवचन आख्यात जो 'मि' सुनाई देता है वह अपने स्वतंत्र उच्चारणकर्ता चैत्र की एकत्वसंख्या का बोधक होता है । वेद में भी 'स्याम्-अभूवम्-भविष्यामि' इस प्रकार उत्तम पुरुषीय आख्यात के प्रयोग प्राप्त होते हैं । अतः उन आख्यात पदों से संख्या का अभिधान उपपन्न करने के लिये उन का भी कोई स्वतंत्र उच्चारणकर्ता मानना आवश्यक है जो ईश्वर से अन्य दूसरा नहीं हो सकता । इस प्रकार वेदस्थ उत्तमपुरुषीय आख्यात से वाच्य संख्या द्वारा ईश्वर का अनुमान होता है । अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है जैसे 'वेदस्थ उत्तमपुरुषीय आख्यातपद बोध्य संख्या तादृशआख्यात के स्वतंत्रोच्चारणकर्तृ पुरुष गत है, उत्तम पुरुषीय आख्यातवाच्य संख्या होने से, जैसे लौकिक वाक्यस्थ उत्तम पुरुषीय आख्यात वाच्य संख्या' ।

अथ समाधानवार्तामाह—

अन्ये त्वभिदधत्यत्र वीतरागस्य भावतः ।
इत्थं प्रयोजनाऽभावात् कर्तृत्वं युज्यते कथम् ? ॥ ४॥

अन्ये तु जैनाः, अत्र=ईश्वरविचारे, अभिदधति=परीक्षन्ते । किम् ? इत्याह वीत-रागस्य=वैराग्यवतः ईश्वरस्य पातञ्जलैरभ्युपगतस्य, इत्थं प्रेरकत्वे, प्रयोजनाऽभावात्, भावतः=इच्छातः, कर्तृत्वं कथं युज्यते ? यो हि परप्रेरको दृष्टः स स्वप्रयोजनमिच्छन्निष्टः, ततोऽत्र व्यापिकायाः फलेच्छाया अभावाद् व्याप्यस्य परप्रेरकत्वस्याऽभावः ॥४॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

नरकादिफले कांश्चित्कांश्चित्स्वर्गादिसाधने ।
कर्मणि प्रेरयत्याशु स जन्तून् केन हेतुना ? ॥ ५ ॥

ईश्वर की सिद्धि के विषय में सांख्ययोग और न्याय-वैशेषिक की उक्त युक्तियों के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए व्याख्याकार का कथन है कि मनुष्य जब तक ईश्वर के सम्बन्ध में भगवान अर्हन् के वचन को नहीं समझता तब तक वह सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के ईश्वर विषयक प्रति-पादन को सुनकर यदि विस्मित और आनन्दित होता है तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि जिस मनुष्य को रस से भरी द्राक्षा का रसास्वाद करने का अवसर जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक वह बेर जैसे निकृष्ट फल की मधुरिमा की भी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते नहीं थकता ।।३।।

(वीतराग ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता-उत्तरपक्षारम्भ)

चौथी कारिका में ईश्वर को सिद्ध करनेवाली सांख्ययोग सम्मत युक्ति का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—जैन विद्वानों का कहना है कि ईश्वर वीतराग होता है । सांख्य योगदर्शन में भी ईश्वर को वीतराग माना गया है, इसलिए वह जगत् कर्ता होना संगत नहीं हो सकता, क्योंकि कर्तृत्व साक्षात् हो या दूसरे की प्रेरणा द्वारा हो, प्रयोजन की इच्छा होने पर ही संभव होता है । अर्थात् जिसे किसी फल की इच्छा होती है वही साक्षात् या पर की प्रेरणा के द्वारा कर्ता होता है । वीतराग ईश्वर में फलेच्छारूप व्यापक धर्म नहीं है इसलिए उस का व्याप्य होने से साक्षात् या परप्रेरणामूलक कर्तृत्व भी उसमें नहीं हो सकता ।

(नरकादिफलक कृत्य में ईश्वर प्रेरणा का अनौचित्य)

पाँचवी कारिका में पूर्व कारिका में कही हुई बात को ही स्पष्ट किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—ईश्वर कुछ जीवों को ब्रह्महत्या आदि ऐसे कार्यों में प्रवृत्त करता है जिस से कर्ता को नरक की प्राप्ति होती है और कुछ जीवों को यम नियमादि कर्मों में प्रवृत्त करता है जिस से कर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति होती है । प्रश्न होता है—ईश्वर जीवों को इस प्रकार विभिन्न कर्मों में क्यों प्रवृत्त करता है, इस प्रकार जीवों को प्रवृत्त करने में उसका क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

स=ईश्वरः, कांश्चिज्जन्तून् नरकादिफले-ब्रह्महत्यादौ कर्मणि, कांश्चित् स्वर्गादिसाधने यम-नियमादौ वा, आशु=शीघ्रम् , केन हेतुना प्रेरयति? क्रीडादिप्रयोजनाभ्युपगमे रागद्वेषाभ्यां वैराग्यव्याहतिः, प्रयोजनाऽनभ्युपगमे च तन्मूलकप्रेरणाभावात् सिद्धान्तव्याघातः, इत्युभयतः-पाशा रज्जुरिति भावः ॥५॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य निराकरोति–

स्वयमेव प्रवर्तन्ते सत्त्वाश्चेच्चित्रकर्मणि ।
निरर्थकमिहेशस्य कर्तृत्वं गीयते कथम्? ॥ ६ ॥

'सत्त्वाः, चित्रकर्मणि=ब्रह्महत्या-यम-नियमादौ, स्वयमेव=तमःसत्त्वोद्रेकेण तथाविधबुद्ध्यंशव्यापारावेशेनैव, प्रवर्तन्ते=कर्तृत्वेनाऽभिमन्यन्ते, प्रयोजनज्ञानार्थं परमीश्वरापेक्षेति' चेत्? इह=कर्मणि, निरर्थकमीशस्य कर्तृत्वं कथं गीयते? प्रयोजनज्ञानं हि प्रवर्तनार्थमुपयुज्यते, प्रवृत्तिश्च यदि स्वत एवोपपन्ना, तदेश्वरसिद्धिव्यसनं गृहलब्ध एव धने विदेशगमनप्रायम् ।६॥

यदि यह कहा जाय 'विभिन्न जीवों को प्रवृत्त करना यह उस का खेल है। खेल खेलने के लिए ही वह विभिन्न कर्मों में जीवों को प्रवृत्त करता है'–तो यह ठीक नहीं, क्योंकि खेल से भी यदि मनुष्य को किसी प्रकार का सुख प्राप्त होता है तभी वह खेल भी खेलता है अन्यथा खेल से विरत हो जाता है। आशय यह है कि ईश्वर यदि किसी प्रकार के सुख की ईच्छा से खेल खेलता है तो उसे सुख और सुख के साधन के प्रति रागवान् मानना । यदि वह मनोविनोद के लिए अथवा यदि मानसिक कष्ट को दूर करने के लिए खेल खेलता है तो कष्ट और कष्ट के साधन के प्रति द्वेषवान् मानना पड़ेगा। फलतः ईश्वर को वीतराग कहना असंभव हो जायगा। और यदि ईश्वर का खेल खेलने में कोई प्रयोजन न माना जायगा तो जीवों को विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त करना यह उस का खेल नहीं घट सकता क्योंकि 'पर का प्रवर्तन भी किसी प्रयोजन से ही होता है। फलतः 'ईश्वर परका प्रेरक होकर कर्त्ता होता है' इस सिद्धान्त की हानि हो जायगी। उक्त रूप से विचार करने पर सांख्य और अन्य वादी के लिए दोनों ओर से बांधने वाली रस्सी तैयार रहती हैं, अर्थात् उसे वीतराग माना जायगा तो वह पर का प्रेरक नहीं हो सकता और यदि पर का प्रेरक होगा तो वीतराग नहीं हो सकता। अतः सांख्य और अन्य वादी को ईश्वर के सम्बन्ध में वीतरागता और पर-प्रेरकत्व इन दोनों में किसी एक का त्याग करना आवश्यक है।

(बुद्धिकर्तृत्वपक्ष में भी ईश्वरकर्तृत्व निरर्थक)

छट्ठी कारिका में ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्ययोग के एक और आशय को प्रस्तुत कर उस का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–जीव ब्रह्महत्या और यम नियमादि जैसे विभिन्न कर्मों में स्वयं हि प्रवृत्त होते हैं। आशय यह है कि सांख्यमतानुसार प्रवृत्त-निवृत्त होना पुरुष का काम नहीं है किन्तु उस की बुद्धि का काम है। बुद्धि त्रिगुणात्मिका होती है। बुद्धि के तीन गुण सत्त्व-रजस्-तमस कहे जाते हैं ।

अभिप्रायान्तरमाशङ्क्य निराकुरुते—

मूलम्—फलं ददाति चेत्सर्वं तत्तेनेह प्रचोदितम् ।
अफले पूर्वदोषः स्यात् सफले भक्तिमात्रता ॥ ७ ॥

सर्वं तत्=चित्रं कर्म, इह=जगति, तेन=ईश्वरेण, प्रचोदितम्=अधिष्ठितं सत् , फलं= सुखदुःखादिकम् , ददाति=उपधत्ते, अचेतनस्य चेतनाधिष्ठितस्यैव कार्यजनकत्वादिति चेत् ? अफले=स्वतश्चित्रफलदानाऽसमर्थे कर्मण्यभ्युपगम्यमाने, पूर्वदोषः=पूर्वोक्तः स्वर्ग-नरकादि-फलाऽनियमदोषः स्यात् । सफले=स्वतश्चित्रफलदानसमर्थकर्मणि त्वभ्युपगम्यमाने, भक्ति-मात्रता=ईश्वरे भक्तिमात्रं स्यात् , हरीतकीरेकन्यायात् । 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव जनकमि'ति नियमस्त्वतादृशस्यापि वनबीजस्याऽङ्कुरजननत्वदर्शनादसिद्धः, तस्यापि पक्षतायाम् , अन्य-त्रापि व्यभिचारिणः पक्षतायां निवेशेऽनैकान्तिकोच्छेदप्रसङ्गादिति भावः ॥७॥

जब बुद्धि के सत्त्व गुण का उत्कर्ष होता है तब उसे दया भक्ति-वैराग्यादि प्रशस्त सात्त्विक भाव जाग्रत होकर सत् कर्तव्यों को करने का संकल्प होता है और उन के अनुसार रजोगुण के सहकार से वह सत्कर्म करती है । जब बुद्धि के रजोगुण का उद्रेक होता है तब सत्त्व या तमो गुण से प्ररित हो सत् या असत् कर्मों करने का संकल्प होता है और उन के अनुसार वह सत् या असत् कर्मों को करतो है । जब बुद्धि के तमोगुण का आधिक्य होता है तब उस में प्रबल राग द्वेष ईर्ष्या निर्दयतादि तामस भावों का प्राकट्य होता है । बुद्धि के इस कर्तृत्व का पुरुष को केवल अभिमान होता है और वह इसलिए होता है कि पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् नहीं समझता । विभिन्न कर्मों में पुरुष को स्वतः कर्तृत्व का अभिमान प्रवृत्त होता है । बुद्धि के विभिन्न कर्मों में बुद्धि की प्रवृत्ति के लिए भी प्रयोजन का ज्ञान अपेक्षित होता है जो ईश्वर के संनिधान से ही संभव है अर्थात् ईश्वर बुद्धि को तद् तद् कर्मों के प्रयोजन का ज्ञान संपादित करता है और उसी से बुद्धि तत् तत् कर्मों में प्रवृत्त होती है । ईश्वर को परप्रेरक मानने में योगदर्शन का यह अभिप्राय है । किन्तु इस संबन्ध में ग्रन्थकार की यह आलोचना है—त्रिगुणात्मिका बुद्धि स्वभाव से ही प्रवृत्तिशील है । अतः उस के प्रवर्तन के लिए प्रयोजन ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है और यदि है तो वह भी बुद्धि को स्वयं ही संपन्न हो सकता है । अतः उस के लिए ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास ठीक उसी प्रकार निरर्थक है जैसे घर में ही धन की प्राप्ति संभव रहने पर धन कमाने के लिए विदेश की यात्रा निरर्थक होती है ।

(कर्म की ईश्वराधीनता का निरसन)

७ वीं कारिका में योग दर्शन के एक और अभिप्राय की चर्चा कर के उस का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

सभी कर्म ईश्वर की प्रेरणा से ही फलप्रद होता है क्योंकि अचेतन में चेतन के संयोग से ही कार्य-जनकता होती है । अतः कर्म की सफलता उपपन्न करने के लिए ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक है । इस अभिप्राय के सम्बन्ध में ग्रन्थकार की यह समीक्षा है कि यदि विभिन्न कर्म विभिन्न फलों को प्रदान करने में स्वयं समर्थ न हो तो ईश्वर का अस्तित्व मानने पर भी उन कर्मों से स्वर्ग नरकादि विभिन्न

आदिसर्गे तस्यैव स्वातन्त्र्यमित्याशङ्क्य निराकुरुते—

आदिसर्गेऽपि नो हेतुः कृतकृत्यस्य विद्यते ।
प्रतिज्ञातविरोधित्वात् स्वभावोऽप्यप्रमाणकः ॥ ८ ॥

आदिसर्गेऽपि कृतकृत्यस्य=वीतरागस्य, हेतुः=प्रयोजनम् , न विद्यते, ततः कथमादिसर्गमप्ययं कुर्यात् ? । अथेदृशः स्वभाव एवाऽस्य, यत्प्रयोजनाऽभावेऽप्यादिसर्गं स्वातन्त्र्येणैव करोति, अन्यदा त्वदृष्टाद्यपेक्षयैवेति । अत आह-'स्वभावोऽपि' प्रागुक्तः 'अप्रमाणकः,' धर्मिण एव चाऽसिद्धौ कुत्र तादृशः स्वभावः कल्पनीयः ? इति भावः ॥८।

फलों की सिद्धि न होगी । क्योंकि यदि कर्मों में स्वयं तद् तद् फलप्रदान करने का सामर्थ्य न होगा तो ईश्वर का अस्तित्व दोनों प्रकार के कर्मों के लिये समान होने से यह नियम नहीं हो सकता कि ब्रह्महत्यादि से नर्क ही हो और यमनियमादि से स्वर्ग हो । और यदि इस दोष के परिहारार्थ उन कर्मों को तद् तद् फलों का प्रदान करने में स्वयं समर्थ माना जायगा तो फिर ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता होगी ? क्योंकि कर्म तो स्वयं ही तद् तद् फलों को प्रदान कर देते हैं । अतः उस पक्ष में भी ईश्वर को कर्म का सहकारी मानना ईश्वर के प्रति भक्त की भक्ति का अज्ञानपूर्वक प्रदर्शन मात्र है । यह ठीक उसी प्रकार जैसे किसी मनुष्य को स्वयं रेच होने पर हरितकी के सेवन की प्रवृत्ति । और यह जो बात कही गई कि अचेतन चेतन के सहयोग से ही कार्य का जनक होता है वह भी सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि चेतन सहायक के बिना भी वनस्थ बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है । यदि यह कहा जाय-'वनस्थ बीज भी पक्ष कोटि में ही प्रविष्ट है अर्थात् जैसे कर्म की फलप्रदता को उपपन्न करने के लिये कर्म को सहकारी ईश्वर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वनस्थ बीज में अंकुरजनकता की उत्पत्ति के लिये भी वनस्थबीज के सहकारीरूप में ईश्वर की कल्पना की जायगी' । -किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जगत् में अनैकान्तिक दोष का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा अर्थात् कोई भी हेतु कहीं भी साध्य का व्यभिचारी न हो सकेगा क्योंकि जहां भी हेतु में साध्य का व्यभिचार प्रदर्शित होगा-उस का पक्ष में अन्तर्भाव किया जा सकता है ।।७।

(वीतराग ईश्वर को विश्वरचना में प्रयोजनाभाव)

आठवीं कारिका में ईश्वर प्रथमसृष्टि का स्वतंत्र कर्ता है इस मत का निराकरण किया गया है । ईश्वर के कर्तृत्व का समर्थन करनेवाले कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जो सृष्टि जीव के कर्मों से संपन्न होती है वह तो ईश्वर के बिना जीव के कर्मों से ही उपपन्न हो जायगी किन्तु पहली सृष्टि जिस के पूर्व जीवकर्म विद्यमान नहीं है उस की उपपत्ति ईश्वर से ही हो सकती है । किन्तु यह मानना युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता क्योंकि ईश्वर वीतराग है उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है तो वह सृष्टि को उत्पन्न ही क्यों करेगा ? अतः सृष्टि के सम्बन्ध में भी यही मानना होगा कोई सृष्टि प्रथम सृष्टि नहीं है बल्कि सृष्टि का प्रवाह अनादि है । पूर्व में ऐसा कोई काल नहीं था जिस में यह सृष्टि न रही हो । यदि ऐसा न माना जायगा तो सृष्टि का अस्तित्व रहना किसी भी प्रकार संभव न हो सकेगा ।

विश्वहेतुतया धर्मिग्राहकमानेन तादृशस्वभाव एव भगवान् साध्यते, इत्यभिप्रायादाह-

मूलम्--कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे न किञ्चिद् बाध्यते विभोः ।
विभोस्तु तत्स्वभावत्वे कृतकृत्यत्वबाधनम् ॥ ९ ॥

कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे=ईश्वरमनपेक्ष्य जगज्जननस्वभावत्वे, न किञ्चिद् विभोः=परमेश्वरस्य, बाध्यते । विभोस्तु तत्स्वभावत्वे=स्वातन्त्र्येण अन्यहेतुसापेक्षतया वा जगज्जननस्वभावत्वे, कृतकृत्यत्वबाधनम् वीतरागत्वव्याहतेः, कारणतया प्रकृतित्वप्रसङ्गाच्च ।·अथ परिणामित्वाभावाद् न प्रकृतित्वम्, प्रयोजनाभावेन जन्येच्छाया अभावेऽपि नित्येच्छासत्त्वाद् न वैराग्यव्याहतिः, जन्येच्छाया एव रागपदार्थत्वात् । ऐश्वर्यमपि न जन्यम्, किन्तु तत्तत्फलावच्छिन्नेच्छैव । सर्गादौ रजःप्रभृत्युद्रेकोऽपि तत्र तत्कार्यकारितयैव गीयत इति न कूटस्थत्वहानिरिति चेत् ?

जल्पता गिरिशसाधने गिरं न्यायदर्शननिवेशपेशलाम् ।
सांख्य ! संप्रति निजं कुलं त्वया हन्त ! हन्त ? सकलं कलङ्कितम् ॥1॥

यत एवं कार्यजनकज्ञानादिसिद्धौ तदाश्रयतया बुद्धिरेव नित्या सिध्येत्, न त्वीश्वरः, बुद्धित्वस्यैव ज्ञानाद्याश्रयतावच्छेदकत्वात् । आत्मत्वस्य तदाश्रयतावच्छेदकत्वे तु जन्यज्ञानादीनामप्यात्माश्रिततया विलीनं प्रकृत्यादिप्रक्रियया इति किमज्ञेन सह विचारप्रपञ्चेन ? ।

यदि यह कहा जाय-'नहीं, सृष्टि अपूर्व भी होती है जिसे प्रथम सृष्टि कहा जा सकता है। और उसे किसी प्रयोजन के विना भी परमेश्वर अपने स्वभाव से ही उत्पन्न करता है । किन्तु जब पहले सृष्टि हो जाती है और उस में जीव शुभाशुभ कर्म करने लगते हैं तब उस के बाद की सृष्टि उन कर्मों के अनुसार होती है। अर्थात् बाद की सृष्टि को ईश्वर कर्मानुसार संपन्न करता है'-यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध हो जाय तब उस में बिना प्रयोजन के भी निर्माण करने के स्वभावरूप धर्म की कल्पना की जा सकती है किन्तु जब तक वह स्वयं ही सिद्ध नहीं है तो उस में स्वभाव की कल्पना कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय-'प्रथम सृष्टि के कर्ता रूप में ईश्वर का अनुमान होता है और प्रथम सृष्टि का कर्तृत्व ईश्वर का उक्त स्वभाव मानने पर ही संभव है अतः आद्यसृष्टि मूलक जिस अनुमान से ईश्वररूप धर्मीकी सिद्धि होगी उसी प्रमाण से उक्त स्वभावविशिष्ट हो ईश्वर को सिद्धि होगी। अतः यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वररूपधर्मी को पहले सिद्ध किया जाय और बाद में उस में उक्त स्वभावरूप धर्म की कल्पना की जाय।'-किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि आद्य सृष्टि में ही कोई प्रमाण नहीं है।

(निष्प्रयोजन चेष्टा से वीतरागता की हानि)

९ वीं कारिका में इस अभिप्राय की चर्चा और उसकी आलोचना की गई है-विश्व के कर्ता रूप में जिस अनुमानप्रमाण से ईश्वररूप धर्मी की सिद्धि होगी उस प्रमाण से प्रयोजन विना

भी कार्य करने का उस का स्वभाव भी सिद्ध होगा। 'कारिका का अर्थ इस प्रकार है-कर्म ईश्वर की अपेक्षा न कर के स्वयं ही जगत् का कारण होता है-कर्म का ऐसा स्वभाव मानने पर ईश्वर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। किन्तु ईश्वर स्वतंत्ररूप से अथवा किसी अन्य हेतु के सहयोग से जगत् का निर्माण करता है-ईश्वर का ऐसा स्वभाव मानने पर उस की कृतकृत्यता अर्थात् पूर्णता की बाधा होती है। क्योंकि उसे कर्ता मानने पर उस के वीतरागत्वकी हानि होती है और उसे जगत् का कारण मानने पर उस में प्रकृतिरूपता की आपत्ति होती है। क्योंकि सांख्ययोग-दर्शन में प्रकृति को ही जगत् का कारण माना गया है। इस आपत्ति को इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि ईश्वर जब प्रकृतिरूप होगा तो उसे सविकार होना पडेगा।

इस सन्दर्भ में सांख्ययोग की ओर से यह कहा जा सकता है कि ईश्वर को जगत का कर्ता मानने में उपर्युक्त दोषों में कोई भी दोष नहीं हो सकता। जैसे. ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर भी उस में प्रकृतिरूपता की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि परिणामी कारण को ही प्रकृति कहा जाता है। ईश्वर जगत् का परिणामी कारण न होने से प्रकृतिरूप नहीं है। ईश्वर को जगत्कर्ता मानने पर उस की वीतरागता का विघटन नहीं हो सकता, क्योंकि जन्य इच्छा को ही राग कहा जाता है। और ईश्वर को कोई प्रयोजन न होने से उस में जन्य इच्छा नहीं हो सकती। नित्य इच्छा होने पर भी उस की वीतरागता सुरक्षित रह सकती है. क्योंकि जन्य इच्छा के अभाव को ही वीतरागता कहा जाता है। उस का ऐश्वर्य भी जन्य नहीं हो सकता क्योंकि वह तद् तद् फलविषयक नित्य इच्छारूप ही है। सृष्टि के आरंभ में रजोगुण का उत्कर्ष होता है-इस कथन से ईश्वर में सगुणता की भी आशंसा नहीं की जा सकती क्योंकि समयानुसार उत्कृष्ट और अपकृष्ट होना यह गुणों का अपना ही स्वभाव है। ईश्वर की इच्छा गुणों के यथा समय होने वाले उत्कर्ष और अपकर्ष को विषय करती है। इसी से ईश्वर गुणों में वैषम्य का उत्पादक' कहा जाता है। अतः ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर उस की कूटस्थता अर्थात् निर्विकारता की हानि नहीं हो सकती'-किन्तु व्याख्याकार का कहना है कि यह कथन ठीक नहीं है। इस कथन पर उन्होंने यह कहते हुए सांख्य की भर्त्सना की है कि ईश्वर को सिद्ध करने के लिये जो बात अभी कही गई है वह न्यायदर्शन की मान्यता पर आधारित होने से समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु उसे अपनी मान्यता के रूप में यदि सांख्यवादी स्वीकार करते हैं तो इस से उन की पुरी परम्परा ही कलङ्कित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि—

(सांख्यमत में ज्ञानादि का आश्रय ईश्वर नहीं हो सकता)

उक्त रीति से ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास सार्थक भी नहीं हो सकता क्योंकि उक्त रीति से कार्य सामान्य के कारण रूप से ज्ञान इच्छा और प्रयत्न की सिद्धि होती है। ईश्वर को उक्त ज्ञान आदि के आश्रयरूप में अङ्गीकार करना होता है जो सांख्य की दृष्टि से उचित नहीं है। क्योंकि उनके मत में ज्ञान आदि का आश्रय बुद्धि ही होती है ईश्वर नहीं होता। उस मत में बुद्धित्व ही ज्ञान आदि की आश्रयता का नियामक होता है। और यदि आत्मत्व को ज्ञान आदि की आश्रयता का नियामक माना जायगा तो जैसे कार्य सामान्य का कारणभूत नित्य ज्ञान आदि आत्माश्रित होगा इसी प्रकार जन्यज्ञान आदि भी आत्माश्रित ही होगा। इस प्रकार न्यायदर्शन के समान जीव और ईश्वर की पटाद्यर्थ प्रवृत्ति के प्रति पटादि के उपादान का तद् तद् पुरुषीय प्रत्यक्ष कारण है। फलतः तद् तद् कार्यार्थी की प्रवृत्ति और तद् तद् कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष इन्हीं के बीच कार्यकारणभाव आवश्यक

नैयायिकोक्तरीत्यापि नेश्वरसिद्धिः। तथाहि–कार्येण तत्साधने आद्यानुमाने नाऽनुकूलस्तर्कः, तत्तत्पुरुषीयपटाद्यर्थिप्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्पुरुषीयपटादिमत्त्वप्रकारकोपादानप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वावश्यकत्वात्, प्रत्यक्षत्वेन कार्यसामान्यहेतुत्वे मानाभावात्, चिकीर्षाया अपि प्रवृत्तावेव हेतुत्वात्, कृतेरपि विलक्षणकृतित्वेनैव घटत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नहेतुत्वात्।

मान्यता सांख्य शास्त्र में भी आ जायगी । फलतः त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् का मूल कारण है और उस से उत्पन्न बुद्धि ही ज्ञानादि गुणों का आश्रय और कर्ता है–यह सब सांख्य दर्शन की मान्यता समाप्त हो जायगी । तो इस प्रकार जो सांख्यशास्त्र की मान्यता का अनभिज्ञ होते हुए सांख्य की ओर से विचार करने को उद्यत होता है उसके साथ विचार करना अनुचित है। इसलिये इस चर्चा को इतने में ही समाप्त कर देना ठीक है, क्योंकि इतने से ही ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्ययोग द्वारा प्रदर्शित युक्तियां निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

(कार्यसामान्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष कारणता की आलोचना)

नैयायिकों ने ईश्वर को सिद्ध करने की जो रीत बताई है उस से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती–जैसे उन्हों ने कार्य द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने के लिये सर्व प्रथम इस अनुमान का प्रयोग किया है 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्'=संपूर्ण कार्य कर्तृसापेक्ष है क्योंकि कार्य है।' किन्तु यह अनुमान समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि-जो भी कार्य होता है वह सभी कर्तृसापेक्ष होता है इस नियम का निश्चायक कोई तर्क नहीं है। कहने का आशय यह है कि कार्यसामान्य के प्रति सामान्यरूप से उपादान विषयक प्रत्यक्ष कारण है इस कार्यकारण भाव पर ही उक्त अनुमान निर्भर है किन्तु इस कार्य-कारण भाव में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि इस कार्यकारणभाव को मानने पर भी यह प्रश्न होता है कि पट-उपादान के प्रत्यक्ष से घटार्थीकी और घटोपादान के प्रत्यक्ष से पटार्थी की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? क्योंकि जब सामान्यरूप से उपादान का प्रत्यक्ष सामान्यरूप से कार्य मात्र का कारण है तो किसी भी उपादान के प्रत्यक्ष से किसी भी कार्य की उत्पत्ति होना युक्तिसङ्गत है। अतः इस प्रश्न का समाधान करने के लिये इस प्रकार का विशेष कार्यकारणभाव मानना होगा कि तत् तत् पुरुष की पटाद्यर्थ प्रवृत्ति के प्रति पटादि के उपादान का तद् तद् पुरुषीय प्रत्यक्ष कारण है। फलतः तत् तत् कार्यार्थी की प्रवृत्ति और तद् तद् कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष इन्हीं के बीच कार्यकारणभाव आवश्यक है। इसी से उपादान प्रत्यक्ष के अभाव में कार्योत्पत्ति की आपत्ति का परिहार हो जायगा अतः 'कार्य सामान्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष कारण है' इस सामान्य कार्यकारणभाव की कोई आवश्यकता न रहेगी। तो जब इस प्रकार–कार्य सामान्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष या उस प्रत्यक्ष का आश्रयभूत कर्ता कारण है यह कार्यकारणभाव ही असिद्ध है तो कार्य सामान्य से कर्तृ सामान्य का अनुमान कैसे हो सकेगा ?

(कृति और कार्य का भी सामान्यतः कार्य-कारण भाव नहीं है)

जिस प्रकार उपादान का प्रत्यक्ष उपर्युक्त रीति से प्रवृत्ति का ही कारण है उसी प्रकार चिकीर्षा भी प्रवृत्ति का ही कारण है, कार्य सामान्य का कारण नहीं है। और कृतित्व रूप से कृति भी कार्यत्व रूप से कार्य सामान्य का कारण नहीं है किन्तु घटपटादि तद् तद् कार्य के प्रति कुलाल तन्तुवाय

न च प्रवृत्ताविव घटादावपि ज्ञानेच्छयोरन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वसिद्धेः तत्र घटत्व-पटत्वादीनामानन्त्यात् कार्यत्वमेव साधारण्यात् कार्यतावच्छेदकम् , शरीरलाघवमपेक्ष्य संग्राहकलाघवस्य न्याय्यत्वात् , कृतेस्तु 'यद्विशेषयोः' ०इति न्यायात् सामान्यतोऽपि हेतुत्वमिति वाच्यम्,

आदि की कृति विलक्षण कृतित्व रूप से ही कारण है। कहने का आशय यह है कि कार्य सामान्य के प्रति कृति सामान्य को कारण मानने में घट के लिये होनेवाली कृति से पट की और पट के लिये होनेवाली कृति से घट की उत्पत्ति होने की आपत्ति हो सकती है। अतः जिन कृतियों से घट उत्पन्न होता है उन में विलक्षण जाति और जिन कृतियों से पट उत्पन्न होता है उस में दूसरी विलक्षण जाति मानकर-घट पट आदि कार्यों के प्रति भिन्न भिन्न विजातीय कृतियां कारण है-यह कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक है । और इस कार्यकारणभाव को मान लेने पर कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य को कारण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती । इसलिये कार्यसामान्य से उपादान-प्रत्यक्ष या चिकीर्षा अथवा कृति का अनुमान नहीं हो सकता। और इसीलिये कार्य सामान्य के कारणभूत उपादानप्रत्यक्ष, चिकीर्षा और कृति के आश्रयरूप में जगत् कर्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

[व्यापकरूप से कारणता की सिद्धि का प्रयास-पूर्वपक्ष]

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि—

जैसे उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा रहने पर प्रवृत्ति होती है और उस के न रहने पर प्रवृत्ति नहीं होती है-इस अन्वय व्यतिरेक से उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा को प्रवृत्ति का कारण माना जाता है उसी प्रकार उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा के अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान घटादि में भी है, इसलिये घटपटादि के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा को कारण मानना आवश्यक है। तो इस प्रकार जब प्रवृत्ति के समान अन्य कार्यों के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा की कारणता सिद्ध होती है तब घटत्व पटत्व आदि अनन्त धर्मावच्छिन्न के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा को कारण मानने की अपेक्षा कार्यत्व रूप सामान्य धर्मावच्छिन्न के प्रति उन्हें कारण मानना उचित है ।

यदि यह कहा जाय कि-'घटत्व पटत्वादि की अपेक्षा प्रागभावप्रतियोगित्वरूप कार्यत्व का शरीर गुरु है अतः उस की अपेक्षा लघुशरीरी घटत्व पटत्वादि को ही उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा का कार्यतावच्छेदक होना उचित है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्व पटत्वादि धर्म संपूर्ण कार्यों का सङ्ग्राहक नहीं है और कार्यत्व संपूर्ण कार्यों का संग्राहक है। इसलिये उसी को उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा का कार्यतावच्छेदक मानना न्यायसङ्गत है क्योंकि उसे कार्यतावच्छेदक मानने पर कार्य सामान्य के प्रति उपादान प्रत्यक्षादि में एक एक कारणता की ही सिद्धि होगी और घटत्व पटत्व आदि धर्मों को कारणतावच्छेदक मानने पर तद् तद् धर्मावच्छिन्न के प्रति विजातीय उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा में अनन्त कारणता माननी पडेगी । तो इस प्रकार जब कार्यसामान्य के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा की कारणता सिद्ध हो जाती है तो कार्यसामान्य से कार्य सामान्य के उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा का अनुमान होने में और उस के आश्रय रूप में ईश्वर का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं हो सकती । इसी प्रकार घटपटादि कार्यों के प्रति पृथक् रूप से विजातीय कृतियों को कारण मानने पर भी-कार्य सामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है-यह सामान्य कार्यकारण भाव

कार्यत्वस्य कालिकेन घटत्व-पटत्वादिमत्त्वरूपस्य नानात्वात्, ध्वंसव्यावृत्त्यर्थं देयस्य सत्त्वस्य विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणाऽतिगुरुत्वाच्च । न च द्रव्यजन्यतावच्छेदकतया सिद्धं जन्यसत्त्वम् अवच्छिन्नसमवेतत्वं वा तज्जन्यतावच्छेदकम्, तथापि प्रत्येकं विनिगमना-विरहात्, 'यद्विशेषयोः'० इति न्याये मानाभावात् । किञ्च, एवं प्रायोगिकत्वमेव शैलादि-व्यावृत्तं देवकुलाद्यनुवृत्तं सकलजनव्यवहारसिद्धं प्रयत्नजन्यतावच्छेदकमस्तु, व्याप्यधर्मत्वात्, इदमेवाऽभिप्रेत्य हेतुविशेषविकल्पने कार्यसमत्वं सम्मतिटीकाकृता निरस्तम् ।

भी सिद्ध होगा क्योंकि-'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि' यह सर्वमान्य नियम है । इस का आशय यह है कि जिन पदार्थों में विशेषरूप से कार्यकारणभाव होता है उन पदार्थों में सामान्यरूप से भी कार्यकारणभाव होता है । जैसे एक घट को उत्पन्न करनेवाले कपाल से अन्य घट की उत्पत्ति का वारण करने के लिये तद् तद् घट के प्रति तद् तद् कपाल को कारण मानने पर-घट सामान्य प्रति कपालसामान्य कारण है-यह भी कार्यकारणभाव माना जाता है, उसी प्रकार कार्य-विशेष और कृतिविशेष में कार्यकारणभाव मानने पर कार्यसामान्य और कृतिसामान्य में भी कार्य-कारणभाव मानना न्यायसङ्गत है ।

यदि यह कहा जाय कि-'विशेष कार्यकारणभाव से ही कार्य सिद्ध हो जाने से सामान्यरूप से कार्यकारणभाव की कल्पना कहीं भी मान्य नहीं है । अतः 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामा-न्ययोरपि' यह नियम निर्युक्तिक है।-' तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि जहां कोई कपाल नहीं है वहां यदि यह प्रश्न हो कि ऐसे स्थल में घट की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? तो इस का उत्तर यह नहीं दिया जा सकता कि तद् तद् कपाल का अभाव होने से घट की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि तत्कपाल के अभाव में भी अन्य कपाल से घट की उत्पत्ति होती है । अतः तद् तद् कपाल का अभाव तद् तद् घट की ही अनुत्पत्ति का नियामक नहीं हो सकता है । अतः घटसामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक कपाल-सामान्य के अभाव को ही मानना होगा और यह तभी संभव है जब घट और कपाल में सामान्यरूप से भी कार्यकारणभाव हो । उसी प्रकार जहां कोई कृति नहीं है वहां कार्यसामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक कृतिसामान्य का अभाव है-इस बातको उपपत्ति के लिये कार्यसामान्य के प्रति कृति-सामान्य को भी कारण मानना आवश्यक हैं । तो इस प्रकार जब कार्य सामान्य के प्रति कृतिसामान्य की कारणता युक्तिसिद्ध है तब उसके बलसे 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्' यह अनुमान निर्बाध रूप से संपन्न हो सकता है" ।-

(व्यापक रूप से कारणता की सिद्धि का असम्भव-उत्तरपक्ष)

किन्तु यह कथन विचार करने पर समीचीन नहीं प्रतीत होता है क्योंकि कार्यत्व भी जो संपूर्ण कार्योंका संग्राहक है एकधर्म रूप न होकर कालिक सम्बन्ध से घटत्व पटत्वादि रूप है । आशय यह है कि कार्यत्व को सकल कार्यों में एक अनुगतधर्म के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब संपूर्ण कार्यों का अनुगम करने का कोई मार्ग न रहे किन्तु ऐसे मार्ग का अभाव नहीं है, क्योंकि कालिक सम्बन्ध से घटत्व सभी कार्यों में रहने से समस्त कार्यों का अनुगमक हो सकता है, अतः कालिकसम्बन्ध से घटत्व-पटत्वादि से भिन्न कार्यत्व नामक एक अतिरिक्त धर्म की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है ।

(सामान्यकार्यकारणभावकल्पना में गौरव)

फलतः 'कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है' इस नियम का पर्यवसान 'कालिक सम्बन्धसे घटत्वादिमत् के प्रति कृतिसामान्य कारण हैं'-इस कार्यकारणभाव में होगा। और यह कार्यकारणभाव घटत्वपटत्वादि कार्यतावच्छेदक के भेद से अनन्त होगा। अतः-'घटपटादि तद् तद् कार्यों के प्रति पृथक् रूप से विजातीय कृति कारण है'-इस कार्यकारणभाव से अतिरिक्त उक्त रूप से 'कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है' इस कार्यकारणभाव की कल्पना गौरवग्रस्त है। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण भाव में गौरव का अन्य हेतु भी है जैसे कालिक सम्बन्ध से घटत्व पटत्वादि धर्म भावभूत वस्तु में रहता है इसी प्रकार ध्वंस में भी रहता है और ध्वंस के प्रति उपादान प्रत्यक्षादि कारण नहीं होते क्योंकि उसका कोई उपादान ही नहीं होता। अतः ध्वंसरूप कार्य के प्रति उपादानप्रत्यक्षादि कारणों का व्यभिचार वारण करने के लिये ध्वंस को उन के कार्यवर्ग से व्यावृत्त करने के लिये कार्यतावच्छेदककोटि में सत्त्व-भावत्व का निवेश करना होगा। फलतः भावत्व और घटत्व आदि के विशेषणविशेष्यभाव में कोई विनिगमना न होने से 'घटत्वादि-विशिष्टभावं प्रति उपादानप्रत्यक्षादिकं कारणं' एवं 'भावत्वविशिष्टघटादिकं प्रति उपादानप्रत्य-क्षादिकं कारणं' इस प्रकार से गुरुतर कार्यकारणभाव की आपत्ति होगी।

(जन्यत्व अथवा अवच्छिन्नत्व का निवेश व्यर्थ है)

यदि यह कहा जाय कि-'भावकार्य की उत्पत्ति द्रव्य में ही होती है गुणादि में नहीं होती इसलिए जन्यभाव के प्रति द्रव्य कारण है यह कार्यकारणभाव मानना आवश्यक होता है। इसके अनुसार जन्यसत्त्व द्रव्य का कार्यतावच्छेदक होता है। जन्यसत्त्व का अर्थ है जन्यत्वविशिष्टसत्त्व। इस में जन्यत्व का निवेश नित्य भावपदार्थों की व्यावृत्ति के लिए किया जाता है और सत्त्व का निवेश ध्वंस की व्यावृत्ति के लिए किया जाता है। नित्य भावपदार्थों की व्यावृत्ति के लिए जन्यत्व के बदले अवच्छिन्नत्व का भी निवेश किया जा सकता हैं। अवच्छिन्नत्व का अर्थ है कालावच्छिन्नत्व अर्थात् किञ्चित्कालवृत्तित्व। इस प्रकार द्रव्य का जन्यतावच्छेदक जन्यसत्त्व या किञ्चिद्कालवृत्ति समवेतत्व होता है। उसी को उपादान प्रत्यक्ष चिकीर्षा और कृति का कार्यतावच्छेदक मान कर जन्यभाव सामान्यके प्रति उपादान प्रत्यक्ष आदि को कारण माना जा सकता हैं'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जन्यत्व के संबन्ध में यह बात पूर्ववत् कही जा सकती है कि जन्यत्व अतिरिक्त धर्म न होकर विनिगमना विरह से कालिकसंबंधेन घटत्व-पटत्व आदिरूप ही है। इसीप्रकार अवच्छिन्नत्व के संबंध में भी कहा जा सकता है कि अवच्छिन्नत्व विनिगमनाविरह से तद् तद् घटादिरूप जो तत् तत् काल, तन्निरूपितवृत्तित्व रूप है इसलिए पूर्वोक्त दोष से निस्तार अशक्य है॥

(सामान्याभाव विशेषाभावकूट से अन्य नहीं है)

इस सन्दर्भ में 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि' इस न्याय से कार्यसामान्य और कृतिसामान्य में कार्यकारणभाव सिद्ध करने का जो प्रयास किया गया हैं वह भी सफल नहीं हो सकता क्योंकि उस न्याय में कोई प्रमाण नहीं है। उस न्याय के समर्थन में जो यह बात कही गई है कि 'जिस स्थान में कोई कपाल नहीं हैं उस स्थान में कपालसामान्याभाव को घट सामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक सिद्ध करने के लिए एवं जब कोई कृति नहीं है उस समय कृतिसामान्याभाव को कार्यसामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक सिद्ध करने के लिए 'घट सामान्य के प्रति कपालसामान्य

यत्तु घटत्वाद्यवच्छिन्ने कृतित्वेन हेतुत्वेऽपि खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वादीश्वरसिद्धिः, इति दीधितिकृतोक्तम्, तत्तुच्छम्, अस्माभिस्तत्र घटे खण्डत्वपर्यायस्यैवाभ्युपगमात्। युक्तं चैतद्, प्रत्यभिज्ञोपपत्तेः। तत्र सादृश्यादिदोषेण भ्रमकल्पने गौरवात्।

और कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है'-यह कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है'-वह ठीक नहीं है क्योंकि विशेषाभावकूट से ही सामान्याभाव की प्रतीति आदि उपपन्न हो जाने से विशेषाभावकूट से भिन्न सामान्याभाव की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं हैं। अतः जहाँ कोई कपाल नहीं है वहाँ घट सामान्य की अनुत्पत्ति का प्रयोजक तत्तत्कपालाभावसमुदाय ही है। एवं जहाँ कोई कृति नहीं है तब उस समय कार्यसामान्य की अनुत्पत्ति का प्रयोजक तत् तत् कृति का अभावसमुदाय ही है यही मानना युक्ति संगत हैं। अतः 'यद्विशेषयोः' ० न्याय में कोई युक्ति न होने से कार्यकारण के बीच सामान्य कार्य-कारणभाव नहीं सिद्ध हो सकता। अतः कार्यसामान्य से कर्तृसामान्य के अनुमान करने का प्रयास असंभव है।

इस से अतिरिक्त व्याख्याकार का कहना है कि प्रयत्न से प्रायोगिक कार्यों की ही उत्पत्ति होती हैं। प्रायोगिक उसे कहते है जो प्रयोग अर्थात् मनुष्य की चेष्टा से साध्य है। इसलिए प्रायोगिकत्व ही कार्यत्व का व्याप्य होने से प्रयत्न का जन्यतावच्छेदक है। और वह शैल आदि कर्तृहीन कार्यों से व्यावृत्त है और देवकुलादि कर्तृ सापेक्ष कार्यों में अनुगत हैं। और उस के अस्तित्व में 'गृहादिकार्यम् प्रायोगिकम्' और 'शैलादिकार्यम् न प्रायोगिकम्' यह सार्वजनिक व्यवहार ही प्रमाण है। इसी अभिप्राय से सम्मतिग्रन्थ के टीकाकार ने हेतुसंबन्धी विकल्प प्रस्तुत होने पर नैयायिक द्वारा उद्भावित कार्यसमत्व का निराकरण किया है। इस विषय की स्पष्टता के लिए सम्मतिटीका द्रष्टव्य हैं।

(खण्डघट का ईश्वर कर्त्ता है-दीधितिकार की युक्ति)

तत्त्वचिंतामणि ग्रन्थ के उपर दीधिति नाम की व्याख्या करने वाले रघुनाथ शिरोमणि ने ईश्वर की सिद्धि के संबन्ध में यह कहा हैं कि-कार्य सामान्य के प्रति कृतिसामान्य की कारणता न मानने पर भी घट आदि के प्रति कुलाल आदि की कृति कारण है' इस कार्यकारणभाव के बल पर भी ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। उदाहरण के रूप में उन्होंने खंडघट को प्रस्तुत किया हैं। उन का आशय यह है कि घटमें से कुछ अंश निकल जाने पर पूर्ववर्ती पूर्ण घट का नाश होकर नये अपूर्व घट की उत्पत्ति होती है उसे खंडघट कहा जाता है। जब यह कार्यकारणभाव है कि घट सामान्य के प्रति कुलालकृति कारण है तो इस खंडघट के भी घट सामान्य के अंतर्गत होने से इसके लिए भी कुलालकृति का होना आवश्यक है। किन्तु वह कुलालकृति आधुनिक कुलाल की कृति नहीं हो सकती। क्योंकि उस खंडघट का निर्माण करने के लिए कोई आधुनिक कुलाल उपस्थित नहीं होता। अतः यह मानना होगा-यह खंडघट जिस कुलाल की कृति से उत्पन्न होता है वह कुलाल ईश्वर है। यही कारण है-वेदों में 'नमः कुलालेभ्यः' कहकर कुलाल के रूप में ईश्वर को वंदना की गई है।

(खडघट याने पूर्णतापर्याय की निवृत्ति]

व्याख्याकारने दीधितिकार के इस प्रयास को यह कहकर तुच्छ बताया है कि घट का कोई अंश निकल जाने पर पूर्वघट का नाश होकर किसी नये खडघट की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु पूर्व घट में ही

अत एव पाकेनापि नान्यघटोत्पत्तिः, विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिदविनाशेऽप्युत्पत्तिसंभवात्, इति व्यक्तं सम्मतिटीकायाम्। परेषामपि स्वप्रयोज्य-विजातीयसंयोगसंबन्धेन तत्काले (कुलालकृतेः) सत्त्वाच्च। न च वैशेषिकनये श्यामघटा-दिनाशोत्तरं रक्तघटाद्युत्पत्तिकाले प्राक्तनपरमाणुद्वयसंयोगद्वयणुकादेर्नाशाद् नैवं संभवतीति

पूर्णत्वपर्याय की निवृत्ति होकर खंडत्व पर्याय की उत्पत्ति होती है। तो जब कोई नया घट उत्पन्न ही नहीं होता तब उस के कर्ता रूप में किसी पुरुषविशेष की कल्पना कैसे की जाये?

व्याख्याकार ने अपने इस कथन के समर्थन में प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। उन का आशय यह है कि किसी घट में से कुछ अंश निकल जाने के बाद भी 'स एव अयं घटः' =यह वही घट है' इसप्रकार वर्तमान घट में पूर्वघट के तादात्म्य का दर्शन होता है।

यदि पूर्व घट का नाश होकर नये घट की उत्पत्ति मानी जायेगी तो इस तादात्म्य दर्शनरूप प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि- यह प्रत्यभिज्ञान यथार्थ नहीं है किन्तु भ्रमरूप है। अतः इस से पूर्णघट और खंडघट की एकता नहीं सिद्ध हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा को भ्रम मानने पर उस के कारणरूप में सादृश्य आदि दोष की कल्पना करनी होगी। और जहाँ भी प्रत्यभिज्ञा होती है वहां सर्वत्र उसे भ्रम मानकर प्रत्यभिज्ञात पदार्थको पूर्व पदार्थ से भिन्न मानने की स्थिति उत्पन्न होने से अनेक पदार्थों की कल्पना का गौरव भी हो सकता है। यदि यह कहा जाय—'कि-खण्डघट में पूर्वघट के तादात्म्य का दर्शन भ्रम है. जो दोनों में भेदबुद्धि न होने पर सादृश्य के कारण होता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस कल्पना में पूर्वघट का नाश और नवीन घट की उत्पत्ति तथा इन दोनों में तादात्म्यदर्शन के लिए सादृश्य में दोषत्व की कल्पना होने से अतीव गौरव है।

(पाकक्रिया से अन्यघट उत्पत्ति प्रक्रिया को समालोचना)

इसीलिए सम्मति टीका में भी यह बात स्पष्ट की गई है कि पाक से श्यामघट का नाश होने पर अन्य घट को उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु विशिष्ट सामग्री के प्रभाव से पूर्ववर्ण से विलक्षण वर्णशाली उसी घटद्रव्य की उत्पत्ति होती है उस के पूर्ववर्ण की निवृत्ति होने परभी उसका नाश नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण में पूर्व पर्यायके रूप में नष्ट होते हुए और उत्तर पर्यायके रूप में उत्पन्न होते हुए भी अपने मूलद्रव्य के रूप में स्थिर रहती है।

वैशेषिक आदि के मत में यद्यपि पाकस्थल में पूर्वघट का नाश होकर नवीन घट की उत्पत्ति होती है, तथापि उस घटके कारणरूप में ईश्वरीयकृति की कल्पना आवश्यक नहीं है क्योंकि कृति घटके प्रति साक्षात् कारण न होकर स्वप्रयोज्य विजातीय संयोग सबंध से ही कारण होती है। और उक्त सयोगसम्बन्ध से पाकस्थल में भी कुलाल की पूर्वकृति होने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि उस समय जिस कपालद्वय संयोग से घटकी उत्पत्ति होती है उसे भी कुलाल की पूर्वकृति का प्रयोज्य माना जा सकता है, क्योंकि कुलाल की पूर्वकृति से उसी प्रकार का संयोग होकर यदि पूर्वघट न होता तो उसके पाक और पाक से नये घट की उत्पति की स्थिति ही न होती। अतः यह कहा जाना सर्वथा सङ्गत है कि नया घट जिस कपालद्वय संयोग से उत्पन्न होता है वह भी परंपरा से पूर्वघट के उत्पादक कुलाल की पूर्वकृति का प्रयोज्य है।

वाच्यम् ; पूर्वसंयोगादिध्वंसपूर्वद्व्यणुकादिध्वंसानामुत्तरसंयोगद्व्यणुकादावन्ततः कालोपाधितयापि जनकत्वात्, तत्कालेऽपि कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन सत्त्वात्; अन्यथा घटत्वावच्छिन्ने दण्डादिहेतुत्वमपि दुर्वचं स्यात् । 'दण्डादिजन्यतावच्छेदकं विलक्षणघटत्वादिकमेवे' ति चेत् ? कृतिजन्यतावच्छेदकमपि तदेवेष्यताम् । 'कृतेर्लाघवाद् विशेष्यतयैव हेतुत्वात् यत्र दण्डस्य स्वप्रयोज्यकपालद्वयसंयोगेन सत्त्वम्, न तु विशेष्यतया कुलालकृतिः, तत्रैव खण्डघटे तत्सिद्धिरिति चेत् ? न, कृतेरपि स्वप्रयोज्यसंबन्धेनैव हेतुत्वात्, विजातीयसंयोगत्वेन संबन्धत्वे गौरवात्, घटत्वावच्छिन्ने विजातीयकृतित्वेनैव हेतुत्वाच्चेति दिक् ।

[वैशेषिकमतानुसारी पाकप्रक्रिया की आलोचना]

यदि यह कहा जाय कि—'वैशेषिक मत में पाक से श्यामघट का नाश होने के बाद जब रक्तघट की उत्पत्ति होती है तो उसके पूर्व श्यामघट का द्व्यणुक पर्यन्त नाश हो जाता है । केवल विभक्त परमाणु रह जाते हैं और फिर परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक त्र्यणुक आदि की उत्पत्ति होकर कपालद्वय के नये संयोग से नये घट की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार नये घट की उत्पत्ति के समय कुलाल की पूर्वकृति से होनेवाला संपूर्ण संयोग आदि का नाश हो जाने से उक्त कृति के स्वप्रयोज्य विजातीयसंयोग सम्बन्ध से अस्तित्व की कल्पना असंभव है'—तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि पाक स्थल में नये घट की उत्पत्ति के लिये जिन द्व्यणुक से लेकर कपाल पर्यन्त नये द्रव्यों की आवश्यकता होती है उनके प्रति पर्ववर्ती परमाणुसंयोगादि और द्व्यणुकादि का नाश कारण होता है । क्योंकि किसी भी द्रव्य में किसी कार्यद्रव्य के रहते नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती एवं दो द्रव्यों में पूर्वोत्पन्न संयोग के रहते उन द्रव्यों में नये संयोग की उत्पत्ति नहीं होती अतः उत्तर द्रव्य के प्रति पूर्व द्रव्य का नाश और उत्तर संयोग के प्रति पूर्व संयोग के नाश को कारण मानना आवश्यक होता है और इसके अतिरिक्त कालोपाधिरूप में भी पूर्व संयोग और पूर्व द्व्यणुकादि का नाश, उत्तर संयोग और उत्तर द्व्यणुकादि के नाश का कारण होता है । अतः पाक स्थल में नवीन घट की उत्पत्ति के समय कुलाल की पूर्वकृति के स्वप्रयोज्य विजातीय संयोग सम्बन्ध से रहने में कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि नवीन घटके लिये अपेक्षित परमाण संयोग और द्व्यणुकादि पूर्व संयोग और पूर्व द्व्यणकादि के नाश से जन्य है और उक्त नाश अपने प्रतियोगी से जन्य है और प्रतियोगी कुलाल की कृति से जन्य है । अतः कुलाल कृति से जन्य होनेवालों की परम्परा में ही नवीन घट के उत्पादक कपालद्वय संयोग के होने से उसे कुलाल की पूर्व कृति से प्रयोज्य मानना सर्वथा सङ्गत है ।

इस प्रसङ्ग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि परमाणुओं का संयोग और द्व्यणुकादि की उत्पत्ति कुलाल कृति से नहीं होती । कुलाल कृति से तो कपाल और कपालद्वय का संयोग ही उत्पन्न होता है, अतः नवीन घट के उत्पादक नवीन कपालद्वय संयोग को कुलाल कृति से प्रयोज्य इसलिये मानना चाहिये कि वह कुलाल कृति से उत्पादित पूर्व कपाल और पूर्वकपालद्वय संयोग के नाश से उत्पन्न है । व्याख्याकार का कहना है कि पाक स्थल में नवीन घट की उत्पत्ति के समय स्वप्रयोज्य विजातीय संयोग संबंध से कुलाल की पूर्वकृति का अस्तित्व मानना आवश्यक है । यदि ऐसा न माना जायगा तो घट सामान्य के प्रति दण्ड आदि की कारणता का समर्थन न हो सकेगा । क्योंकि पाक से नवीन घट की उत्पत्ति के समय दण्ड आदि भी नहीं रहते । अतः उस घट के लिये यदि ईश्वरीय कृति

क्रिञ्च, उपादानप्रत्यक्षस्य लौकिकस्य हेतुत्वात् कथमीश्वरे तत्सिद्धिः ? अपि च, प्रणिधानाद्यर्थं मनोवहनाड्यादौ प्रवृत्तिस्वीकाराद् यद्धर्मावच्छिन्ने यदर्थिप्रवृत्तिः तद्धर्मावच्छिन्ने

की कल्पना आवश्यक है तो उसी प्रकार ईश्वरीय दण्डादि की भी कल्पना करने की आवश्यकता पड सकती है जबकि यह बात ईश्वर कर्तृत्ववादी को भी मान्य नहीं है। अतः पाकस्थल में नवीन घट के उत्पादक नवीन कपालद्वय संयोग को पूर्वदण्डप्रयोज्य मानकर स्वप्रयोज्यविजातीय संयोग सम्बन्ध से दण्डादि का अस्तित्व मानकर उस घट में दण्डादि जन्यता की उपपत्ति जिस प्रकार की जायगी उसी प्रकार कुलाल की पूर्वकृति जन्यता की भी उपपत्ति की जा सकती है। अतः पाकस्थलीय घट की उत्पत्ति के अनुरोध से ईश्वरीय कृति की कल्पना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि—'दण्डादि को घट सामान्य के प्रति कारण न मानकर विलक्षण घट के प्रति कारण माना जायगा अतः पाक स्थलीय घट के लिये दण्डादि की आवश्यकता नहीं होगी।'— तो यह बात कृति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अर्थात् घट सामान्य के प्रति कृति को कारण न मानकर विलक्षण घट के ही प्रति कृति को कारण माना जा सकता है। अतः पाकस्थलीय घट के लिये कृति की भी कल्पना अनावश्यक हो सकती है।

यदि यह कहा जाय कि—'कृति को स्वप्रयोज्य विजातीय संयोग सम्बन्ध से घट का कारण मानने में गौरव है। अतः लाघव के लिये समवाय सम्बन्ध से घट के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से ही कृति को कारण मानना उचित है। ऐसी स्थिति में जिस खण्ड घट की उत्पत्ति के पूर्व दण्ड स्वप्रयोज्य कपालद्वय संयोग सम्बन्ध से है किन्तु कुलालकृति विशेष्यता सम्बन्ध से नहीं है—उस खण्डघट के लिये ईश्वरीय कृति की कल्पना आवश्यक है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कृति भी स्वप्रयोज्य सम्बन्ध से ही घट के प्रति कारण है न कि स्वप्रयोज्यविजातोयसंयोगसम्बन्ध से क्योंकि विजातीयसंयोगत्व रूप से स्वप्रयोज्य को कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानने में गौरव है। और स्वप्रयोज्यसम्बन्ध से कारण मानने में विशेष्यता सम्बन्ध से कृति को कारण मानने की अपेक्षा कोई गौरव नहीं है। क्योंकि विशेष्यता सम्बन्ध से कारण मानने में कारणतावच्छेदक सम्बन्धतावच्छेदकविशेष्यतात्व होगा और स्वप्रयोज्य सम्बन्ध से कारण मानने पर कारणतावच्छेदक सम्बन्धतावच्छेदक-प्रयोज्यत्व होगा। और प्रयोज्यत्व और विशेष्यतात्व में कोई लाघव-गौरव नहीं है क्योंकि दोनों ही स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप है। उसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि कृति को घट सामान्य के प्रति कारण न मानकर विजातीय घट के प्रति कारण मानना उचित है। जैसा कि अभी दण्डादि को विजातीय घट के प्रति कारण बताया गया है। तो इस प्रकार जब घट सामान्य के प्रति कृति कारण ही नहीं है तो कृति के बिना भी पाकस्थलीय घट की या खण्डघट की उत्पत्ति हो सकती है। अतः उसके अनुरोध से ईश्वरीय कृति की कल्पना नहीं की जा सकती।

[ईश्वर में लौकिक प्रत्यक्षज्ञान का अभाव]

इस प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है कि उपादान कारण का लौकिक प्रत्यक्ष ही कार्य का हेतु होता है। क्योंकि उपादान के अलौकिक प्रत्यक्ष के आधार पर अन्य देशस्थ या अन्य कालस्थ उपादान में कोई भी कर्त्ता कार्य को उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करता और उपादान का लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय के लौकिक संनिकर्ष से ही संपन्न होता है। अतः ईश्वर में द्वयणकादि के उपादान पर-

तत्प्रकारकज्ञानमात्रस्य हेतुत्वात् कथमुपादानप्रत्यक्षमीश्वरस्य ? तस्यानुमितित्वे जन्यानुमितित्वं व्याप्तिज्ञानजन्यतावच्छेदकमिति गौरवोद्भावनं तु प्रत्यक्षत्वे जन्यप्रत्यक्षत्वस्येन्द्रियादिजन्यतावच्छेदकत्वकल्पनागौरवं नातिशेते । अपि च, तदुपादानप्रत्यक्षं निराश्रयमेवाऽस्तु, दृष्टविपरीतकल्पनभिया तु नित्यज्ञानादिकमपि कथं कल्पनीयम् ? अभिहितश्चायमर्थो 'बुद्धिश्चेश्वरस्य यदि नित्याव्यापिकैवाऽभ्युपगम्यते, तदा सैवाऽचेतनपदार्थाधिष्ठात्री भविष्यति, इति किमपरतदाधारेश्वरपरिकल्पनया ?'' इत्यादिना ग्रन्थेन सम्मतिटीकायामपि ।

माणु आदि का लौकिक प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर इन्द्रियादि से रहित होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि जिस कार्य की इच्छा से जिस कारण में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है उस कारण में उस कार्य का ज्ञान सामान्यरूप से हेतु होता है न कि उस कारण में उस कार्य का प्रत्यक्षज्ञान । क्योंकि यदि कारण में कार्य के प्रत्यक्षज्ञान को ही हेतु माना जायगा तो मन का प्रणिधान=मन की एकाग्रता करने के लिये मनुष्य की मनोवहनाडी में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि मनोवहनाडी का उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । तो कार्यकारणभाव की इस स्थिति में ईश्वर में द्वयणुकादि के उपादान का प्रत्यक्ष न सिद्ध होकर केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि ईश्वर में द्वयणुकादि के उपादान कारण का ज्ञान रहता है। अतः ईश्वर सर्वद्रष्टा न सिद्ध होकर सर्वज्ञाता ही सिद्ध हो सकता है।

सच बात तो यह है कि कार्य के प्रति उपादान कारण के ज्ञानसामान्य को कारण मानने पर द्वयणुकादि के उपादान कारण के ज्ञाता रूपमें भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि एक ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समान अन्य पूर्वोत्पन्न ब्रह्माण्ड में विद्यमान योगी को किसी नवीन उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान परमाणुओं का योगजन्य ज्ञान हो सकता है और उसी ज्ञान से नये ब्रह्माण्ड में द्वयणुकादि की उत्पत्ति हो सकती है । अतः ब्रह्माण्ड ईश्वरकर्तृक न होकर योगिकर्तृक हो सकता है । इसलिये विश्वकर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि की आशा दुराशा मात्र है । यदि यह कहा जाय कि—संपूर्ण ब्रह्माण्ड का एक साथ खण्ड प्रलय होता है और खण्ड प्रलय की अवधि पूरी हो जाने पर नये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । अतः खण्ड प्रलयकाल में कोई योगी नहीं रहता इसलिये नये ब्रह्माण्ड में द्वयणुकादि की उत्पत्ति परमाणुओं के योगिज्ञान द्वारा समर्थित नहीं हो सकती। अतः द्वयणुकादि के उपादानभूत परमाणुओं का ज्ञान सृष्टि के आरम्भ समय में ईश्वर में ही मानना आवश्यक है और उसे प्रत्यक्ष रूप ही होना उचित है । क्योंकि अनुमिति रूप मानने पर अनुमितित्व को व्याप्तिज्ञान का जन्यतावच्छेदक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह व्याप्ति ज्ञान से अजन्य ईश्वरीय अनुमिति में रहने के कारण व्याप्तिज्ञानजन्यता का अतिप्रसक्त धर्म है । अतः जन्यानुमितित्व को व्याप्तिज्ञान का जन्यतावच्छेदक मानना पडेगा और उसमें गौरव होगा ।"– तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक मानने पर भी, ईश्वरीयनित्यप्रत्यक्ष में इन्द्रियजन्यता नहीं है अतः इन्द्रिय जन्यता के अतिप्रसक्त होने से प्रत्यक्षत्व को इन्द्रियजन्यता का अवच्छेदक न माना जा सकेगा किन्तु जन्यप्रत्यक्षत्व को ही इन्द्रिय का जन्यतावच्छेदक मानना होगा । अतः ईश्वरीयज्ञान की प्रत्यक्षरूपता का समर्थन उक्तरीति से नहीं किया जा सकता ।

किञ्च, एवं नानात्मस्वेव व्यासज्यवृत्ति तत्कल्प्यताम् , स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसंबन्धेन तेषु तत्कल्पनापेक्षया समवायेन तत्कल्पनाया एव तव न्याय्यत्वात् । न चैवं घटादिभ्रमोच्छेदापत्तिः, बाधबुद्धिसत्त्वादिति वाच्यम् , बाधबुद्धिप्रतिबन्धकतायां चैत्रीयत्वस्यावश्यं निवेश्यत्वात् , तच्च समवेतत्वसंबन्धेन चैत्रवत्त्वं, पर्याप्तत्वेन वा, इति न किञ्चिद् वैषम्यम् ।

अपि च, 'देवतासंनिधानेन' इति पक्षेण प्रतिष्ठादिना स्वाभेद-स्वीयत्वादिज्ञानं तदाहितसंस्काररूपं ब्रह्मादौ स्वीकृतम् , न च ब्रह्मादीनामीश्वरभेदः, भगवद्गीताविरोधात् । एवं

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि 'कार्यं प्रत्यक्षादिजन्यं, कार्यत्वात्' इस अनुमान से द्वयणुकादि कार्यों के कारणभूत प्रत्यक्षादि सिद्ध होने पर भी उसके आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि द्वयणुकादि के उपादानभूत परमाणुओं के प्रत्यक्षादि को निराश्रय माना जा सकता है । यदि यह कहा जाय कि– प्रत्यक्षादि किसी आश्रय में ही रहता है । अतः परमाणु के प्रत्यक्षादि में निराश्रयत्व की कल्पना दृष्टविरुद्ध होने के कारण नहीं की जा सकती'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तब तो जीव में अनित्य ही ज्ञान आदि सिद्ध होने के कारण ईश्वर के ज्ञान आदि में नित्यत्व की भी कल्पना दृष्टविरोध के कारण नहीं की जा सकेगी । इस बात को सम्मति टीका में यह कहते हुए स्पष्ट किया गया है कि यदि ईश्वर की बुद्धि नित्य और व्यापक है तो ईश्वर के विना भी बुद्धि को अचेतन पदार्थों की अधिष्ठात्री मान लेना चाहिए । उसके आधारभूत ईश्वर की कल्पना निरर्थक है ।

इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि–द्वयणुकादि के उपादान कारणभूत परमाणुओं का ज्ञान ईश्वररूप किसी एक अतिरिक्त आत्मामें न रह कर संपूर्ण आत्माओं में ही व्यासज्यवृत्ति–पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है क्योंकि उस ज्ञान को अन्य आत्माओं का अधिष्ठाता बनाने के लिये उनके साथ उस ज्ञान का स्वाश्रय-संयुक्त-संयोग सम्बन्ध मानना होगा जैसे स्व का अर्थ है ज्ञान, उसका आश्रय है ईश्वर, उससे संयुक्त है मूर्तद्रव्य और उसका संयोग है जीवात्मा में तो इस स्थिति में यही उचित प्रतीत होता है कि उस ज्ञान को स्वाश्रय संयुक्त संयोग सम्बन्ध से जीवात्माओं में न मानकर समवायसम्बन्ध से ही माना जाय । यदि यह कहा जाय कि-'उस ज्ञान को समस्त जीवों में मानने पर किसी को घटादि का भ्रम न हो सकेगा, क्योंकि जिस देश में घटादि का भ्रम होता है उस देश में प्रत्येक मनुष्य को घटाऽभाव की बुद्धि विद्यमान है जिससे घटादि के भ्रम का प्रतिबन्ध हो जाना अनिवार्य है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एक पुरुष की बाधबुद्धि से अन्य पुरुष की विशिष्ट बुद्धि के प्रतिबन्धापत्ति के निवारणार्थ 'चैत्रादि तत्तपुरुषीय विशिष्टबुद्धि में चैत्रादि तत्तपुरुषीय बाधबुद्धि को प्रतिबन्धक' मानना आवश्यक होता है । जिस में तत्तत्पुरुषीयत्व का अर्थ तत्तत्पुरुषसमवेतत्व न कर तत्तत्पुरुष पर्याप्तत्व कर देने से जगत के कारणीभूत सर्वविषयक ज्ञान को सर्वात्मगत मानने पर होने वाली घटादि भ्रम के उच्छेद की आपत्ति का परिहार सुकर हो जाता है क्योंकि सर्वविषयकज्ञान किसी एक आत्मा में पर्याप्त न होकर सभी आत्मा में पर्याप्त होता हैं । अतः तत्तत्पुरुष पर्याप्तबाधबुद्धि को प्रतिबन्धक मानने पर सर्वज्ञानात्मक बाधबुद्धि से विशिष्टबुद्धि का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता ।

वैषयिकसुख दुःखादिश्रवणाद् धर्मा-ऽधर्मावपि तत्राऽङ्गीकर्तव्यौ । न च विरोधः, ब्रह्मादिशरीराव-च्छेदेनाऽनित्यज्ञानादिमत्त्वेऽप्यनवच्छिन्नज्ञानाऽविरोधात् । अत एवाऽन्ये तु 'स तपोऽतप्यत' इति श्रुतेः अणिमादिप्रतिपादकश्रुतेश्च धर्माऽधर्मावनित्यज्ञानादिकमपीश्वरे स्वीकुर्वन्ति, इति शशधरेऽभिहितम् । एतन्मते च बाधादिप्रतिबन्धकतायामवच्छिन्नसमवेतत्वेन चैत्रवत्त्वादिलक्षण-चैत्रीयत्वादेरवश्यं निवेश्यत्वाद् नातिरिक्तनित्यज्ञानाश्रयसिद्धिः ।

[ईश्वर में जन्यज्ञान की आपत्ति]

इस प्रसङ्ग में इस विषय पर ध्यान देना भी आवश्यक है कि न्यायशास्त्र में ब्रह्मा आदि देवताओं की प्रतिमाओं में शास्त्रोक्त प्रतिष्ठाविधि से देवताओं का सन्निधान माना गया है । देवताओं के सन्नि-धान का अर्थ है प्रतिमा में देवता की अभेदबुद्धि या आत्मीयत्व बुद्धि । इसी को प्रतिमा का प्रतिष्ठाजन्य संस्कार कहा जाता है । इस प्रकार जब ब्रह्मादि देवताओं में अपनी अभिन्नता याआत्मीयता का ज्ञान उत्पन्न होता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर में जन्यज्ञान नहीं होता किन्तु नित्यज्ञान ही होता है ! यदि यह कहा जाय कि 'ब्रह्मादि देवता ईश्वर से भिन्न है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपने को ही जगत् का स्रष्टा-पालक और संहर्ता बताया है और अपने ही को ईश्वर कहा है । इसलिये ब्रह्मादि को ईश्वर से भिन्न मानना भगवद्गीता के विरोध के कारण उचित नहीं है । उसी प्रकार पुराणों में यह भी सुनने को मीलता है- ब्रह्मादि देवताओं को अनायास उपलब्ध होने वाले विषयों से सुख और राक्षसों के अत्याचार से दुःख भी होता है । अतः ब्रह्मादि में सुख और दुःख के कारणभूत धर्माऽधर्म की भी सत्ता माननी होगी और ब्रह्मादि के ईश्वर से भिन्न न होने के कारण ईश्वर में भी धर्माऽधर्म की सत्ता अनिवार्य होगी ।

इस प्रसङ्ग में यह भी कहा जा सकता है कि-सृष्टि के आरम्भ में द्व्यणुकादि की उत्पत्ति के हेतु के उपादान कारण परमाणु का ज्ञान ईश्वर को मानना आवश्यक होता है और उस समय कोई शरीर न होने से उस ज्ञान को शरीरादि से अनवच्छिन्न नित्य ही मानना पडेगा । तो फिर उसमें अनित्य ज्ञानादि की सत्ता मानना विरोधग्रस्त है'- किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मादि के शरीर द्वारा अनित्य ज्ञानादि की सत्ता और किसी सशरीर आदि को द्वार बनाये बिना ही नित्यज्ञान की सत्ता मानने में कोई विरोध नहीं है । इसीलिये 'शशधर' नामक पंडितने स्वग्रन्थ में यह कहा है कि अन्य विद्वान 'स तपोऽतप्यत' इस श्रुति के अनुसार और ईश्वर में अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों का प्रति-पादन करने वाली श्रुति के अनुसार ईश्वर में धर्माधर्म और अनित्यज्ञानादि का अस्तित्व मानते हैं । इस मत में विशिष्टबुद्धि के प्रति बाधबुद्धि को शरीरावच्छिन्न समवेतत्वरूप से या पर्याप्तत्वसम्बन्धेन चैत्र-निष्ठत्व रूप से प्रतिबन्धक मानकर भ्रम की अनुपपत्ति का परिहार किया जा सकता है क्योंकि सर्व-विषयक नित्यज्ञानात्मक बाधबुद्धि शरीरावच्छेदेन समवेत नहीं होती और न पर्याप्तत्व सम्बन्ध से चैत्रादि एक व्यक्ति में ही विद्यमान होती है । अतः उससे भ्रमोत्पत्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता ।" इस प्रकार समस्त जीवों में द्व्यणुकादि के उपादान कारणों के नित्यज्ञान को व्यासज्यवृत्ति मान लेने से संपूर्ण आवश्यक उपपत्तियां हो जाने के कारण नित्यज्ञान के ईश्वररूप अतिरिक्त आश्रय की सिद्धि नहीं हो सकती ।

किञ्च, प्रवृत्तिविशेषे इच्छान्वय-व्यतिरेकवत्, प्रवृत्तिविशेषे द्वेषाऽन्वय-व्यतिरेकावपि दृष्टौ, दुःखद्वेषेण तत्साधनद्वेषे तन्नाशानुकूलप्रवृत्तेः कण्टकादौ दर्शनात् । न च जिहासयैव द्वेषान्यथासिद्धिः, 'तद्धेतोः'० इति न्यायात् ; अन्यथा द्वेषपदार्थ एव न स्यात् , 'द्वेष्मि' इत्यनुभवे क्वचिदनिष्टसाधनताज्ञानस्य, क्वचिच्चाऽनिष्टत्वज्ञानस्यैव द्वेषपदेन तथाभिलापात् । एवं च कार्यसामान्ये द्वेषस्याऽपि हेतुत्वसिद्धौ नित्यद्वेषोऽपीश्वरे सिद्ध्येत् । 'द्वेषवतः संसारित्वप्रसङ्ग' इति चेत् ? चिकीर्षावतोऽपि किं न सः ? 'द्वेष-चिकीर्षयोस्तत्र समानविषयत्वे करणा-ऽकरणप्रसङ्गः, भिन्नविषयत्वे च तत्कार्यं न कुर्यादेव, इति बाधकाद् द्वेषकल्पना त्यज्यत' इति चेत् ? एवमुत्तरकालोपस्थितबाधकेन तद्बाधोपगमे, नित्यज्ञानादिकल्पनागौरवादिबाधकेन क्लृप्तोऽपीश्वरस्त्यज्यताम् ।

[प्रवृत्ति से ईश्वर में द्वेष का अतिप्रसंग]

इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि जैसे प्रवृत्तिविशेष में इच्छा का अन्वयव्यतिरेक होता है अर्थात् जिस विषय की इच्छा होती है उस विषय में प्रवृत्ति होती है और जिस विषय में इच्छा नहीं होती उस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती, उसीप्रकार प्रवृत्तिविशेष में द्वेष का भी अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है। जैसे दुख के प्रति द्वेष होने के कारण दुःख साधन कण्टकादि के प्रति द्वेष होने से उन का नाश करने के लिये कण्टकादि में प्रवृत्ति होती है, और जिस विषय में द्वेष नहीं होता उस विषय के नाश के लिये उस में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे पुत्रकलत्रादि। फलतः ईश्वर में जगत् निर्माण की प्रवृत्ति मानने पर जैसे उस में नित्य इच्छा मानी जाती है उसीप्रकार जगत् निर्माण के विरोधी वस्तु के नाश के लिये उस के पर द्वेष मानना भी आवश्यक होगा। इस प्रकार ईश्वर का द्वेषी होना अनिवार्य हो जायगा जो न्यायशास्त्र की दृष्टि से मान्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि- "दुःखसाधनों के नाशार्थ जो प्रवृत्ति होती है वह उन के प्रति द्वेष के कारण नहीं होती अपितु उन के परित्याग की इच्छा से होती है। क्योंकि जिस वस्तु के प्रति द्वेष होता है उस वस्तु के त्यागकी भी इच्छा अवश्य होती है अतः एव त्याग की इच्छा से द्वेष अन्यथासिद्ध हो जाता है। अतः अनिष्ट साधनों के नाशार्थ होनेवाली प्रवृत्ति से द्वेष का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस को उपपत्ति जिहासा अर्थात् त्याग की इच्छा से ही सम्पन्न हो जाती है-" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'तद्धेतोरेवास्तु किं तेन ?' इस न्याय से नाशार्थ प्रवृत्ति के प्रति द्वेषजन्य जिहासा को हेतु मानने के बजाय सीधे द्वेष को हो हेतु मानने में औचित्य है। और यदि जिहासा से द्वेष को अन्यथासिद्ध माना जायगा तो द्वेष पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि दुःख स्वरूपतः अर्थात् बिना द्वेष्य हुए और उस का साधन अनिष्ट का साधन होने से सीधे ही, जिहासित हो जायगा। जिहासा के पूर्व दुःख या दुःख के साधन प्रति द्वेष मानने की कोई आवश्यकता सिद्ध न होगी।

यदि यह कहा जाय कि 'द्वेष्मि-मुझे इस विषय के प्रति द्वेष है-यह अनुभव ही द्वेष के अस्तित्व में प्रमाण होगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दुःख के साधन कण्टकादि में अनिष्ट साधनता

एतेन—"पुरेषु पुरेशानामिव जगदीशज्ञानेच्छादित एव तत्तत्कार्याणां स्वल्पतमा-ऽधम-देश-कालादिनियमः, वदन्ति हि पामरा अपि—'ईश्वरेच्छैव नियामिका' इति । न चैवं तत्त-

के ज्ञान को तथा दुःख में अनिष्टत्व ज्ञान को ही द्वेष पद के व्यवहार का विषय मानकर उन ज्ञानों द्वारा ही 'द्वेष्मि' इस अनुभव की उपपत्ति की जा सकती है। इस उपर्युक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि जैसे घटपटादि कतिपय कार्यों में ज्ञान-इच्छा आदि का अन्वय-व्यतिरेक देखकर कार्य सामान्य के प्रति ज्ञान-इच्छा आदि को कारण माना जाता है और उस के आधार पर कार्य सामान्य में ज्ञानादि जन्यत्व का अनुमान करके कार्य सामान्य के कारणीभूत ज्ञानादि को ईश्वरनिष्ठ माना जाता है। उसीप्रकार दुःखसाधनीभूत- कण्टकादि के नाशरूप कार्य में कण्टकादि के प्रति द्वेष का अन्वय-व्यतिरेक देखकर कार्यसामान्य के प्रति द्वेष को भी कारण माना जा सकता है और उस के आधार पर कार्य सामान्य में द्वेषजन्यत्व का अनुमान कर कार्य सामान्य के कारण भूत द्वेष को भी ईश्वरनिष्ठ मानना अनिवार्य हो सकता है। फलतः ईश्वर में नित्यज्ञानादि के समान नित्य द्वेष की भी सिद्धि का परिहार नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि–'ईश्वर में द्वेष मानने पर वह ईश्वर ही नहीं हो सकेगा अपितु संसारी हो जायगा'-तो यह आपत्ति तो ईश्वर में चिकीर्षा मानने पर भी अपरिहार्य है। क्योंकि चिकीर्षा भी संसारी में ही देखी जाती है। यदि यह कहा जाय कि—द्वेष और चिकीर्षा को समानविषयक मानने पर एक ही समय एक ही कार्य के करने और न करने दोनों को ही आपत्ति होगी। अर्थात् चिकीर्षा से उस कार्य का उत्पादन और द्वेष से उसी कार्य का अनुत्पादन भी प्रसक्त होगा। जो अत्यन्त विरुद्ध है और यदि द्वेष और चिकीर्षा को भिन्नविषयक माना जायगा तो जो द्वेष का विषय होगा वह चिकीर्षा का विषय न होने से ईश्वर द्वारा उत्पाद्य न हो सकेगा। फलतः ईश्वर में सर्वकार्यकर्तृत्व के सिद्धान्त की हानि होगी। अतः ईश्वर में द्वेष की कल्पना नहीं का जा सकती'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर में द्वेष कल्पना का जो बाधक प्रस्तुत किया गया है वह ईश्वर में द्वेष की सिद्धि हो जाने पर उपस्थित होता है अतः उसे द्वेष कल्पना का बाधक नहीं माना जा सकता। और यदि किसी वस्तु की सिद्धि के बाद उपस्थित होने वाले बाधक से भी उस वस्तु की सिद्धि का बाध माना जायगा तो ईश्वर की सिद्धि का भी प्रतिबन्ध उस बाधक से हो सकता है जो ईश्वर मानने के फलस्वरूप उपस्थित होता है जैसे, ज्ञान इच्छा और प्रयत्न में नित्यत्व अर्थात् संपूर्णकाल के साथ सम्बन्ध की कल्पना एवं ईश्वर में संपूर्णकाल के सम्बन्ध की कल्पना और नित्य ज्ञान आदि में संपूर्ण वस्तुओं के विषयत्व की कल्पना एवं घटाभाव पटाभावादि अनन्त अभावों के सम्बन्धों की कल्पना से होनेवाला गौरव; तब कल्पित ईश्वर को भी छोड देना होगा।

[ईश्वर की इच्छा से देश-काल नियम को उपपत्ति का प्रयास]

इस सन्दर्भ में कतिपय ईश्वर कर्तृत्ववादियों की ओर से यह कहा जाता है कि-'जिस प्रकार नगरों में नगराधीश की ज्ञान-इच्छा के अनुसार ही अल्प अथवा अधिक देश-काल और परिमाण में भिन्न भिन्न कार्यों के उत्पादन का नियन्त्रण होता है उसी प्रकार यह मानना भी आवश्यक है कि जगत् का कोई अधीश्वर है और उसके ज्ञान-इच्छादि से ही जगत में विभिन्न कार्यों के उत्पादन का नियन्त्रण होता है। यह मान्यता इतनी दृढमूल हैं कि अशिक्षित भी ऐसा कहा करते हैं कि 'संसार में

देश-कालनियततत्तत्कार्योत्पत्तिज्ञानादित एव तत्तत्कार्यनिर्वाहे गतं दण्डादिकारणत्वेनेति वाच्यम्, तदनुमतत्वेनैव दण्डादीनां घटादिहेतुत्वात् । न हि 'दण्डादिरेव घटादेरनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ती न वेमादिः' 'कपालादि समवायि, न तन्त्वादिकम्' इत्यत्राऽन्यद् नियामकं पश्याम इति तदनुमत्यादिकमेव तथा, तदनुमत्यादिकं न साक्षात्, किन्तु तत्तत्कारणद्वारा तत्तत्संपादकम् । न हि राजाज्ञादितोऽपि विनांशुकं तन्त्वादि, विना तन्त्वादिकं पटादि''—इति पामराशयानुसरणसंक्रान्तपामरभावानां मतमपास्तम्. राजाज्ञादितुल्यतयेश्वरेच्छाया अहेतुत्वात् सामग्रीसिद्धस्य नियतदेश-कालत्वस्य तज्जन्यताघटकतया तदनियम्यत्वात्, अन्यथा तत्काला-

जो कुछ होता है वह सब ईश्वर की ही इच्छा से होता है।' यदि यह कहा जाय कि–तद् तद् देश और तद् तद् कार्य की उत्पत्ति नियत है और इस नियतत्व के ज्ञान आदि से ही तद् तद् देश और तद् तद् काल में तद् तद् कार्य की उत्पत्ति का नियन्त्रण होता है—ऐसा मानने पर घटपटादि कार्यों के प्रति दण्ड-वेमादि की कारणता का ही लोप हो जायगा'-तो यह ठीक नहीं हैं क्योंकि दण्ड-वेमादि घटपटादि कार्यों के प्रति जो कारण होते है वह भी ईश्वर की अनुमति से ही होते है। यदि ऐसा न माना जायगा तो 'दण्डादि ही घटादि का अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती होता है और वेमादि नहीं होता, एवं कपालादि ही घटादि का समवाय सम्बन्ध से आश्रय होता है तन्तु आदि नहीं होता' इसका ईश्वर को छोडकर दूसरा कोई नियामक नहीं हो सकता। और यह भी ज्ञातव्य है कि ईश्वर की अनुमति भी तत्तत्कार्यों का साक्षात् उत्पादक न होकर तत्तत्कारणों द्वारा ही उत्पादक होती है। यह मानना लोकस्थिति के अनुकूल भी है क्योंकि राजा की आज्ञाआदि से भी तन्तु आदि का निर्माण अंशुकादि के बिना और पटादि का निर्माण तन्तु आदि के बिना नहीं होता। अतः जैसे किसी भी राज्य में विभिन्न कार्यों का उत्पादन राजा की आज्ञा अनुसार होने पर भी उस कार्य के लोकसिद्ध कारणों के माध्यम से ही होता है उसी प्रकार जगत् में भी जगत् के राजा ईश्वर की इच्छा से भी तत्तत्कार्यों का उत्पादन तत्तत्कार्यों के लोक सिद्ध कारणों द्वारा ही होना उचित है, क्योंकि परमेश्वर की वैसी ही अनुमति है।

इस सम्बन्ध में व्याख्याकार श्रीमद्यशोविजयजी महाराज का कहना है कि यह मत पामरों के अभिप्रायानुसार प्रवृत्त होने के कारण संक्रान्त पामरभाव वाले व्यक्तियों के लिये ही मान्य हो सकता है, बुद्धिमान मनुष्य इस मत को नहीं स्वीकार कर सकता, क्योंकि राजा की आज्ञादि के समान ईश्वर की इच्छा को कारण मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्योंकि इस मत में तत्तद्देश और तत्तत्काल में तत्तत्कार्य के नियतत्व को ही-जो तद् तद् कार्य की उत्पादक सामग्री से संपन्न होता है–तद् तद् देश और तद् तद् काल में तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियामक कहा गया है। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं होता। क्योंकि उक्त नियतत्व तत्तत्कार्यगतजन्यता का घटक होता है अत एव उससे तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियमन नहीं हो सकता, क्योंकि तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियमन उसीसे संभव है जो तत्तत्कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उपस्थित हो सके, किन्तु जो तत्तत्कार्यगत जन्यता का घटक है वह तो तत्तत्कार्य के साथ ही उत्पन्न हो सकता है न कि तत्तत्कार्योत्पत्ति के पूर्व। अतः उसे तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियामक मानना संभव नहीं हो सकता।

वच्छिन्नद्धटावच्छिन्नविशेष्यतयोपादाननिष्ठतयोपादानप्रत्यक्षादित्रयहेतुताकल्पने गौरवात् , समवेतत्वसंबन्धेनेश्वरीयत्वेन तत्त्रयानुगमेऽप्यसंसार्यात्मत्वलक्षणेश्वरत्वनिवेशे गौरवात् प्रत्येकमादाय विनिगमनाविरहाच्च तत्कालावच्छिन्नत्वसंबन्धेन नियतेरेव हेतुत्वकल्पनौचित्यात् , इतरकारणवैयर्थ्यापत्तेश्च । तदनुमतदण्डत्वादिनाऽहेतुत्वात् , दण्डादीनां हेतुत्वनियमस्य च स्वभावत एव संभवात् न तदर्थमपीश्वरानुसरणम् , अन्यथा तज्ज्ञानादेस्तत्तत्कारणानुमतित्वेऽपि नियामकान्तरं गवेषणीयम् । 'धर्मिग्राहकमानेन तत् स्वतोनियतमेवेति' चेत् ? इदमपि तत एव किं न तथा ? व्यवस्थितश्चायमर्थो 'न चाचेतनानामपि स्वहेतुसंनिधिसमासादितोत्पत्तीनां चेतनाधिष्ठातृव्यतिरेकेणापि देश-काला ऽकारणनियमोऽनुपपन्नः, तन्नियमस्य स्वहेतुबलायातत्वात्' इत्यादिना ग्रन्थेन सम्मतिटीकायामपि ।

तत्तद्देश और तत्तत्काल में तत्तत्कार्य के नियतत्व को तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियामक न मानने में यह भी एक युक्ति है कि-यदि तत्तद्देश और तत्तत्काल में तत्तत्कार्य के नियतत्व को ही कारण मान लिया जायगा तो तत्तत्काल में और तत्तद्देश में तत्तत्कार्य के प्रति तत्तत्कालीन तत्तत्कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष और तत्तत्कार्य की चिकीर्षा तथा तत्तत्कार्य के लिये तत्तत्काय के उपादान में होनेवाले प्रयत्न को तत्तत्कार्य के प्रति कारण मानना गौरव के कारण त्याज्य हो जायगा। यदि तीनों को ईश्वर में समवेत होने के कारण समवेतत्व सम्बन्ध द्वारा ईश्वरीयत्व रूप से तीनों का अनुगम कर तीनों में एक कारणता मानी जायगी तो भी कारणतावच्छेदक के शरीर में असंसारी आत्मत्व लक्षण ईश्वरीयत्व का निवेश करने में गौरव होगा। और यदि ईश्वरीयत्वरूप से अनुगम न कर आत्मसमवेतत्वरूप से अनुगम किया जायगा तो तत्तद् आत्मा को लेकर विनिगमनाविरह होने से तत्तदात्मसमवेतत्व रूप से ज्ञान-इच्छा प्रयत्न में अनन्तकारणता की आपत्ति होगी। और उसके वारण के लिये तत्कालावच्छिन्नत्व संबन्ध से उक्त नियति को कारण मानने पर घटपटादि के अन्य कारणों का वैयर्थ्य भी होगा।

इस प्रसङ्ग में जो यह बात कही गई कि- घटपटादि कार्य के प्रति दण्ड वेमादि को कारण मानने के लिये ईश्वर की अनुमति आवश्यक हैं अन्यथा वेमा घट का और दण्ड पट का कारण होने लगेगा'-यह ठीक नहीं हैं। क्योंकि दण्ड वेमादि में घटपटादि की कारणता का नियम स्वाभाविक है। अर्थात् दण्ड-घट का ही कारण हो पट का न हो और वेमा पट ही का कारण हो घट का न हो यह बात दण्ड और वेमा के स्वभाव पर ही निर्भर हैं। उस के लिये ईश्वरानुमति की कल्पना अनावश्यक हैं। और यदि तत्तद्कार्य की कारणता को ईश्वरानुमति के आधीन माना जायगा तो यह प्रश्न हो सकता है कि दण्ड में ही घट की कारणता ईश्वरानुमत क्यों हैं ? वेमा में घट की कारणता ईश्वरानुमत क्यों नहीं है ? अत. तत्तद् वस्तु में तत्तद्काय-कारणता को ईश्वर नुमति का भी कोई दूसरा नियामक अपेक्षणीय होगा। और इस प्रकार नियामकों की कल्पना में अनवस्था की प्रसक्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि -दण्ड में ही घट की कारणता ईश्वरानुमत हैं यह बात ईश्वर साधक प्रमाणों से ही सिद्ध है अन्यथा यदि ईश्वरानुमतत्व को भी अन्य नियामक की अपेक्षा होगी तो उसकी सिद्धि ही न हो सकेगी'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी कहा जा सकता है कि दण्डादि में घटादि की कारणता भी स्वतः ही नियत है। उस के लिये ईश्वरानुमति जैसे अन्य नियामक की आवश्यकता नहीं

किञ्च, एतादृशनियामकत्वं भवस्थ-सिद्धादिज्ञान एव, इति किं शिपिविष्टकल्पनाकष्टेन ? तदिदमुक्तं हेमसूरिभिः—

"सर्वभावेषु कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं यदि संमतम् ।
मतं नः, सन्ति सर्वज्ञा मुक्ताः कायभृतोऽपि हि" ।। [वी०स्तो०७-७] ।। इति ।

युक्तं चैतत्, "जं जहा भगवया दिट्ठं तं तहा विपरिणामइ" * इति भगवद्वचनस्यापीत्थमेव व्यवस्थितत्वात् । एवं च—

"समालोच्य क्षुद्रेष्वपि भवननाथस्य भवने, नियोगाद् भूतानां मितसमय-देशस्थिति-लयम् ।
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि मीमांसनजुषां,व्यवस्थातःकार्ये जगति जगदीशाऽपरिचयः ।।१।।"

हैं। अन्यथा नियामक के नियामक का प्रश्न उठाने पर अनवस्था होने के कारण दण्डादि में घटादि की कारणता ही नहीं सिद्ध होगी।

सम्मति टीका में इस विषय को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति उन के हेतुओं के सन्निधान से ही सपन्न होती है । उनमे 'उनके देश, काल और आकार का नियमन चेतनरूप अधिष्ठाता के विना नहीं हो सकता'यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि कार्यो के देश. काल और आकार का नियमन उन के हेतुओं के ही सामर्थ्य से हो जाता है अर्थात् जो हेतु जिस कार्य का उत्पादक होता है वह उसे नियत आकार में ही उत्पन्न करने के सामर्थ्य से स्वभावतः सपन्न होता है ।

[भवस्थित केवली के ज्ञान से नियमन का सम्भव]

इस सन्दर्भ में एक दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि तत्तत् देश और तत्तत् काल में तत्तत् कार्य की उत्पत्ति का नियमन तथा दण्डादि में घटादि की ही कारणता का नियमन भवस्थसिद्ध के ज्ञान से भी सभव हो सकता है. अतः उस के लिये महेश्वर की कष्टमय कल्पना आनावश्यक है। इस बात को श्रीहेमचन्द्रसूरिमहाराज ने यह कहकर समर्थन दिया है कि-यदि सपूर्ण भावों के प्रति कर्तृत्व ज्ञातृत्वस्वरूप स्वीकार्य हो तब आर्हतोंके मत में जो अनेक शरीरधारी सर्वज्ञजीवन्मुक्त माने गये हैं उन्हीं में सपूर्ण भावों का ज्ञातृत्व हैं ही तो उन्हीं में सर्वभावकर्तृत्व मान लेना आवश्यक है । किसी नये सर्वज्ञ की कल्पना निरर्थक है—यही युक्तिसङ्गत भी है. क्योंकि 'भगवान ने जिस वस्तु को जिस रूप में देखा है वह वस्तु उसी रूप में निष्पन्न होती हैं' भगवान के इस वचन की भी व्यवस्था इसीप्रकार हो सकती है।

इस प्रसङ्ग में नैयायिक–मीमांसकों की ओर से कोई इस आशय का पद्य पढे कि-"सामान्य जनों को भी जब इस बात की जानकारी होती है कि किसी गृहपति के गृह में नियत देश और नियत-काल में ही भूतों की उत्पत्ति आदि की जो व्यवस्था देखी जाती है वह अकारण नहीं होती किन्तु गृहपति की इच्छा से ही होती है, तब वेदवचनों की निरंतर मीमांसा करनेवाले विद्वानों को यह कैसा भ्रम है कि व्यवस्था को देखते हुए भी वे अपने को जगदीश के सम्बन्ध में परिचयशून्य बताते हैं ? और जगदीश का अस्तित्व बिना माने ही कार्यों की व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रगट करता है।"—

* यद् यथा भगवता दृष्टं तत् तथा विपरिणमते ।

इति पद्येऽपि प्रतिपद्यमेवं मदीयम्—

पिनष्टीयं पिष्टं भवनियमसिद्धिव्यवसितिः स्वभावाद् भूतानां मितसमयदेशस्थितिरिति ।
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि तर्कव्यसनिनां वृथा यद्व्यापारो जगति जगदीशस्य कथितः ॥२॥

इति दिग् । अत एवाऽग्रिमाण्यप्यनुमानान्यपास्तानि ।

किञ्च, द्वितीयानुमाने 'स्वोपादान'-इत्यत्र स्वपदस्य द्व्यणुकादिपरत्वे साध्याऽप्रसिद्धिः, घटादिपरत्वे पटादौ संदिग्धानैकान्तिकत्वम् , स्वोपादानगोचरत्वादिनाऽपाततोऽपि हेतुत्वाभावतोऽप्रयोजकत्वं च । तृतीये ज्ञानेच्छापदोपादानप्रयासः। चतुर्थे सर्गाऽसिद्ध्या परं प्रति पक्षाऽसिद्धिः।

तो इस पद्यके विरोध में नैयायिक के प्रति व्याख्याकार पू०यशोविजयजी महाराज इस आशय का अपना पद्य प्रस्तुत करना चाहते हैं कि– नियत देश और नियतकाल में भूतों के जन्मादि की व्यवस्था स्वाभा वक है । अत: जगत् में होनेवाली कार्यों की उत्पत्ति आदि के नियमों की उपपत्ति के लिये ईश्वर को सिद्ध करने का व्यवसाय पिष्टपेषण मात्र है । अत: निरन्तर तर्कों का ही व्यसन करनेवाले नैयायिकों को यह एक कसा भ्रम है कि वे स्वभाव सिद्ध व्यवस्था के लिये जगदीश के व्यर्थ व्यापार का समर्थन करते हैं !'

[ईश्वर साधक शेषानुमानों की दुर्बलता]

'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्' ईश्वर सिद्धि के इस प्रथम अनुमान में जिस प्रकार के दोष बताये गये हैं उसी प्रकार के दोषों के कारण अग्रिम अनुमानों भी निरस्त हो जाते हैं । अग्रिम अनुमानों में दूसरे नये दोष भी है । जसे स्वोपादानगोचर एव स्वजनकादृष्ट के अजनककृति से अजन्य समवेत जन्य में-स्वोपादान गोचर एव स्वजनकादृष्ट के अजनक अपरोक्ष ज्ञान-चिकीर्षाजन्यत्व का अनुमान दूसरा ईश्वरानुमान है । इस अनुमान में यदि साध्य के शरीर में स्वपद से द्व्यणुकादि का ग्रहण किया जायगा तो द्व्यणुकादि के उपादान का अपरोक्ष ज्ञानादि सिद्ध न होने से साध्याऽप्रसिद्धि दोष होगा। यदि स्व-पद से घटादिका ग्रहण किया जायगा तो पटादि में कार्यत्व हेतु सन्दिग्ध अनैकान्तिक होगा, क्योंकि पटादि में घटादि के उपादान को विषय करने वाले अपरोक्ष आदि ज्ञान की जन्यता सन्दिग्ध है इस अनुमान में अप्रयोजकत्व दोष भी है, क्योंकि घटादि कार्यों के प्रति कपालादि के अपरोक्षज्ञान को कपालादिगोचरत्व रूप से ही कारणता होती है स्वोपादानगोचरत्व रूप से नहीं। अतः स्वोपादान-गोचरत्व रूप से कारणता न होने से अप्रयोजकत्व दोष का होना अपरिहार्य है, क्योंकि यह शङ्का निर्विवाद रूप से की जा सकती है कि 'जिन कार्यो में प्रस्तुत साध्य का अनुमान करना हैं वे कार्य होते हुए भी स्वोपादान गोचरत्वरूप से अपरोक्षज्ञानादि से जन्य-उसी प्रकार नहीं हो सकते जिस प्रकार घटादि ही स्वोपादान गोचरत्वरूप से अपरोक्ष ज्ञानादि से जन्य नहीं होते'-और इस शङ्का का कोई परिहार नहीं है ।

ईश्वर का तीसरा अनुमान यह है कि द्रव्य विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा और कृति से युक्त है, क्यों कि उन में समवाय सम्बन्ध से कार्य होता है। जैसे कपाल में समवाय सम्बन्ध से घटरूप कार्य के होने से वह विशेष्यता सम्बन्ध से कुलाल के ज्ञान, इच्छा और कृति से युक्त होता है। इस अनुमान में साध्य बोधक विभाग में ज्ञान और इच्छा पद का उपादान निरर्थक है क्योंकि विशेष्यता

पञ्चमे तु क्षित्यादावकर्तृकत्वस्यैव व्यवहाराद् बाधः । 'विशेषान्वय-व्यतिरेकाभ्यां कर्तृत्वेन कार्यसामान्य एव हेतुत्वग्रहान्न बाध' इति चेत् ? तर्हि शरीरचेष्टयोरप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यसामान्यहेतुत्वात् तयोरपि नित्ययोगीश्वरे प्रसक्तिः । अथ 'नित्यशरीरमिष्यत एव भगवतः । तत्र 'परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसंयोगाधीनचेष्टावन्त ईश्वरस्य शरीराणि'

सम्बन्ध से केवल कृति का अनुमान करने पर भी उसके आश्रयरूप में ईश्वर की अभिमत सिद्धि हो सकती हैं क्योंकि ईश्वर में संपूर्ण कार्यों के उपादान को विषय करने वाली कृति के सिद्ध हो जाने पर उसके द्वारा ज्ञान और इच्छा का पृथक् अनुमान हो जाने से सपूर्ण कार्य के कर्ता ईश्वर में सपूर्ण कार्यों के उपादान का ज्ञान और उनके उपादानों में चिकीर्षारूप इच्छा की सिद्धि होकर ईश्वर में सर्वज्ञतादि की सिद्धि हो सकती है। (४) सर्ग के आरम्भ काल में विद्यमान द्रव्य विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञानवान है क्योंकि उसमें समवायसम्बन्ध से काय होता है' यह पक्षतावच्छेदक सर्ग के आरम्भकाल में द्रव्य में ज्ञानरूप साध्य के साधन द्वारा ईश्वर का साधक चौथा अनुमान है। इस अनुमान में मीमांसकादि की दृष्टि से पक्षाऽसिद्धि दोष है। क्योंकि उनके मत में सर्ग का आरम्भकाल असिद्ध है।

[पंचम अनुमान में बाध दोष]

'क्षित्यादि कार्य सकर्तृक हैं क्योंकि वह कार्य है' यह अनुमान प्रकृत विचार के प्रयोजक विवाद के विषयत्व रूप से क्षित्यादि को पक्ष रूप में विषय कर सकर्तृकत्व के साधन द्वारा ईश्वर का साधक पांचवा अनुमान है। इस अनुमान में बाध दोष है क्योंकि क्षित्यादि में लोकव्यवहार से अकर्तृत्व ही सिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि-'घटादि विशेष कार्य और कुलालादिविशेष कर्ता के अन्वय-व्यतिरेक से घटादि विशेष कार्य के प्रति कुलालादि विशेष कर्ता कारण है, केवल इतना ही सिद्ध न होकर 'सामान्य रूप से कार्यमात्र के प्रति सामान्य रूप से कर्ता कारण होता है' यह भी सिद्ध होता है। अतः इस कार्यकारणभाव के विरोधी क्षित्यादि में अकर्तृकत्व के व्यवहार को यथार्थ नहीं माना जाता। इसलिये इस अनुमान में बाध दोष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर घटादि कार्य और कुलाल का शरीर एवं कुलाल की चेष्टा आदि के अन्वय-व्यतिरेक से कार्य सामान्य के प्रति सामान्य रूप से शरीर और चेष्टा की भी कारणता सिद्ध होती है और इस कार्यकारणभाव के आधार पर ईश्वर में नित्य शरीर और नित्य चेष्टा की भी प्रसक्ति हो सकती है।

इस सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि-भगवान को नित्य शरीर होना इष्ट ही है। इसी लिये कुछ लोगों की यह मान्यता है कि परमाणु ही ईश्वर के शरीर हैं क्योंकि उनमें ईश्वर के प्रयत्न से चेष्टा उत्पन्न होती है और यह नियम है कि जिस पुरुष के प्रयत्न से जिसमें चेष्टा उत्पन्न होती है वह उस पुरुष का शरीर होता है। यह ज्ञातव्य है कि प्रयत्न समवाय सम्बन्ध से पुरुष में रहता है न कि शरीर में। अतः वह समवाय सम्बन्ध से शरीर में चेष्टा का उत्पादक न होकर स्वाश्रय संयोग सम्बन्ध से चेष्टा का उत्पादक होता है। स्वका अर्थ है प्रयत्न-उसका आश्रय होता है आत्मा और उसका संयोग होता है शरीर में, अतः उस संयोग के द्वारा प्रयत्न को उस शरीर में चेष्टा को उत्पन्न करने में कोई बाधा नहीं होती। दूसरे विद्वानों का कहना है-केवल वायु के परमाणु ही ईश्वर के शरीर है क्योंकि उनमें ईश्वर प्रयत्न से क्रिया चेष्टा का उदय सदैव होता रहता है। अत एव उन्हें

इत्येके। 'वायुपरमाणव एव नित्यक्रियावन्तस्तथा, अत एव तेषां सदागतित्वम्' इत्यन्ये। "आकाशशरीरं ब्रह्म" इति श्रुतेः 'आकाशस्तच्छरीरम्' इत्यपरे। चेष्टाया नित्यत्वे तु मानाभावः, नित्यज्ञानसिद्धौ तु श्रुतिरपि पक्षपातिनी "नित्यं विज्ञानं०" इत्यादिकाः, अत एव ज्ञानत्वावच्छेदेनाऽऽत्म-मनोयोगजन्यत्वं न बाधकमि'ति चेत्? न, ईश्वरसंबन्धस्य सर्वत्राऽविशेषेण 'इदमेवेश्वरशरीरम्' इति नियमाऽयोगात्, चेष्टाया अपि ज्ञानवदेकस्या नित्यायाश्च स्वीकारौचित्यात्, उक्तश्रुतेस्त्वदभिमतेश्वरज्ञानाऽपक्षपातित्वाच्च, अन्यथाऽऽनन्दोऽपि तत्र सिध्येत ज्ञाना-ऽऽनन्द-भेदश्चेति दिग्।

आयोजनादपि नेश्वरसिद्धिः, ईश्वराधिष्ठानस्य सर्वदा सत्त्वेऽप्यदृष्टविलम्बादेवाऽऽद्याणुक्रियाविलम्बात् तत्र तद्धेतुत्वावश्यकत्वात्। दृष्टकारणसत्त्व एवादृष्टविलम्बेन कार्याविलम्बात्,

---

सदागतिशील भी कहा जाता है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'आकाश शरीरं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार आकाश ही ईश्वर का शरीर है और वह नित्य है। इस प्रकार विद्वानों की दृष्टि में ईश्वर का नित्य शरीर संयुक्त होना युक्तिसङ्गत ही है। हां, उसमें नित्य चेष्टा का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता है क्योंकि चेष्टा की नित्यता में कोई प्रमाण नहीं है। चेष्टा के समान ज्ञान में अनित्यता की सिद्धि नहीं बता जा सकती क्योंकि ज्ञान की नित्यता 'नित्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। इन श्रुतियों के कारण ही संपूर्ण ज्ञान में आत्म मनोयोग की जन्यता को बाधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि संपूर्ण ज्ञान को आत्ममनोयोगजन्य मानने में ये श्रुतियां ही बाधक है' तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर के विभु होने से उसका सम्बन्ध सभी द्रव्यों में समान रूप से विद्यमान है अतः यह कहना—परमाणु ही अथवा वायु परमाणु ही या आकाश ही ईश्वर का शरीर है–ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार ज्ञान के समान एक नित्य चेष्टा की कल्पना भी उचित हो सकती है। क्योंकि जैसे जीवों में ज्ञान क अनित्य होने पर भी ईश्वर में लाघव की दृष्टि से एक नित्यज्ञान की कल्पना होती हैं उसी प्रकार जीवों के अनित्य शरीर में अनित्य चेष्टा होने पर भी ईश्वर के नित्य शरीर में एक नित्य चेष्टा मानने में कोइ बाधा नहीं हो सकती। चेष्टा और ज्ञान की असमानता बताते हुए ज्ञान की नित्यता में जो श्रुति प्रमाण रूपमे प्रसिद्ध की गइ है उस से ईश्वर में नैयायिक के मतानुसार ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि वह श्रुति ईश्वर में ज्ञान के अभेद का प्रतिपादन करती है न कि ज्ञान की आश्रयता का। यदि उससे ईश्वर में ज्ञान की सिद्धि होगी तो उसी से ईश्वर में आनन्द की भी सिद्धि हो सकती हैं जो नयायिकों को मान्य नहीं है। एवं उस श्रुति में ज्ञान और आनन्द शब्द का पृथक् उपादान होने से ज्ञान और आनन्द का भेद भी सिद्ध होगा। जब कि ईश्वर में ज्ञान से भिन्न आनन्द की सत्ता नैयायिकों को मान्य नहीं है।

(अदृष्ट से ही आद्यपरमाणुक्रिया की उपपत्ति)

(६) आयोजन='प्रथम द्वयणुक के आरम्भक संयोग को उत्पन्न करनेवाले परमाणुकर्म' से भी ईश्वर कि सिद्धि नहीं हो उसकती, क्योंकि वत कर्म में प्रयत्नजन्यत्व का अनुमान कर उस प्रयत्न के आश्रयरूप में ही ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। किन्तु उक्त कर्म से ईश्वरप्रयत्नजन्यत्व मानना संभव नहीं

अदृष्टस्य दृष्टाऽघातकत्वात्, चेष्टात्वस्याऽनुगतत्वेनोपाधित्वाच्च। तदवच्छिन्न एव हि जीवन-यत्नव्यावृत्तेन प्रवृत्तित्वेन गमनत्वादिव्याप्यत्वे तु विलक्षणयत्नत्वेनैव हेतुत्वात् क्रियासामान्ये यत्नत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्, 'यद्विशेषयोः०' इत्यादिन्याये मानाभावात्।

है क्योंकि उक्त कर्म की उत्पत्ति नियत समय में ही होती है। यदि ईश्वर प्रयत्न से उसकी उत्पत्ति मानी जाय तो उस में प्रयत्नवान् ईश्वर का सदैव सयोग होने से नियतकाल में ही उस की उत्पत्ति न होकर पूर्वकाल में भी उस की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। अत: अदृष्ट के विलम्ब से ही परमाणुगत आद्य कर्म की उत्पत्ति में विलम्ब मानना होगा। और वह तभी हो सकता है कि जब अदृष्ट को उस कर्म का कारण माना जाय। और जब अदृष्ट उस कर्म का कारण होगा तो उसीसे उसकी उत्पत्ति सभव हो जाने के कारण उसके प्रति ईश्वर का प्रयत्न कारण न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि—"अदृष्ट के विलम्ब से कार्य का विलम्ब अप्रमाणिक है क्योंकि कार्य के दृष्टकारणों के उपस्थित होने पर अदृष्ट के विलम्ब से कभी भी कार्य में विलम्ब नहीं देखा जाता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस कार्य के जो जो दृष्ट कारण प्रमाणसिद्ध होते हैं उन सभी कारणों के रहने पर ही अदृष्ट के विलम्ब से कार्य में विलम्ब होना अप्रमाणिक है क्योंकि यदि उस दशा में भी अदृष्ट के विलम्ब से कार्य में विलम्ब होगा तो उस कार्य के प्रति अदृष्ट मात्र को कारण मान लेने से दृष्ट कारणों का विघात हो जायगा। जब कि अदृष्ट से दृष्ट कारणों का विघात किसी को भी मान्य नहीं है। अत: जिस कार्य का कोई ऐसा दृष्टकारण सिद्ध नहीं है कि जिसके विलम्ब से उस कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब हो सके तब भी उस कार्य की उत्पत्ति में भी यदि विलम्ब होता है तो उसे अदृष्ट के विलम्ब से ही उपपन्न करना होगा। परमाणु के आद्य कर्म का कोई ऐसा दृष्टकारण सिद्ध नहीं है कि जिस के विलम्ब से उस की उत्पत्ति में विलम्ब माना जाय। अत: अदृष्ट के विलम्ब से ही उस की उत्पत्ति में विलम्ब मानना होगा, इस प्रकार नियत समयमें कार्योन्मुख होने वाले अदृष्ट से ही नियतकाल में परमाणु के आद्य कर्म की उत्पत्ति का संभव होने से उसके कारणरूपमें ईश्वरप्रयत्न की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस के अतिरिक्त प्रस्तुत अनुमान में चेष्टात्व उपाधि भी है क्योंकि यत्नजन्य सभी कर्मों में चेष्टात्वरूप एक अनुगत धर्म रहता है और कर्मत्वरूप साधन के आश्रयभूत द्वयणुकारम्भक परमाणु के आद्यकर्म में नहीं रहता है अत: वह कर्मत्वरूप साधन से अवच्छिन्न(=विशिष्ट)प्रयत्नजन्यत्वरूप साध्य का व्यापक और कर्मत्वरूप साधन का अव्यापक उपाधि है।

प्रस्तुत अनुमान इसलिए भी नहीं हो सकता कि वह क्रियासामान्य और प्रयत्नसामान्य के जिस कार्यकारणभाव को अधीन है उस कार्यकारणभाव में कोई प्रमाण नहीं है. क्योंकि क्रिया को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, जैसे जीवनयोनियत्न=जीवनादृष्टकारणक प्रयत्न' से होने वाली प्राण अपानादि की क्रियाएँ और अन्य प्रयत्नों से होनेवाली चेष्टात्मकक्रियाएँ उन में प्रथमवर्ग की क्रिया के प्रति जीवन-योनि यत्न ही कारण है और द्वितीयवर्ग की क्रिया-चेष्टा के प्रति प्रवृत्ति कारण है। द्वितीयवर्ग की क्रिया को कारणता का अवच्छेदकभूत प्रवृत्तित्व जीवनयोनि से भिन्न सभी यत्नों का धर्म है। अत एव प्रवृत्ति को द्वितीयवर्ग की समस्तक्रियाओं का कारण मानने पर पलायन आदि क्रियाओं में उस का व्यभिचार नहीं हो सकता क्योंकि पलायनादि क्रियाएँ जिस प्रयत्न से होती है वह भी प्रवृत्ति नामक प्रयत्न के अन्तर्गत आ जाता है। यदि द्वितीय वर्ग की क्रियाओं को गमनादि

धृतेरपि नेश्वरसिद्धिः, गुरुत्ववत्पतनाभावमात्रस्य गुरुत्वेतरहेत्वभावप्रयुक्तस्याऽऽम्रफलादावेव व्यभिचारित्वात् । प्रतिबन्धकाभावेतरसामग्रीकालीनत्वविशेषणेऽपि वेगवदिषुपत-

अनेक व्याप्य क्रियाओं के रूप में वर्गीकृत किया जाय तो गमनादि रूप तत्तत् क्रियाओं के प्रति विजातीविजातीय रूप से जीवन योनिभिन्न प्रयत्न कारण होगा, अतः क्रिया सामान्य के प्रति प्रयत्नसामान्य को कारणता नहीं सिद्ध होगी। 'जिन कार्यकारणों में विशेष रूप से कार्यकारणभाव होता है-उन में सामान्यरूप से भी कार्यकारणभाव होता है' इस न्याय में कोई प्रमाण नहीं होने से इस न्याय के बल से भी क्रिया और प्रयत्न में सामान्यरूप से कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता है, अतः उसके आधार पर प्रस्तुत अनुमान का समर्थन अशक्य है ।

(धृति हेतु ईश्वरसिद्धि में अनैकान्तिक)

(६) धृति से भी ईश्वर की अनुमानिक सिद्धि नहीं हो सकती. क्योंकि धृति का अर्थ है गुरुत्व के आश्रयभूत द्रव्य के पतन का अभाव, और उस से ईश्वरानुमान तभी हो सकता है जब इस प्रकार की व्याप्ति बने कि 'गुरु द्रव्य के पतन का जो ही अभाव होता है वह गुरुत्व से इतर, पतन कारण के अभाव से प्रयुक्त होता है'। किन्तु यह व्याप्ति नहीं बन सकती। क्योंकि वृक्ष की शाखा में लगे हुए आम्रफल में व्यभिचार है। आशय यह है कि आम्रफल गुरुद्रव्य है। किन्तु जब वह शाखाग्र में लगा हुआ होता है तब उस में पतन का अभाव होता है पर उसमें गुरुत्व से इतर पतन के किसी हेतु का अभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"शाखाग्र वृन्त के साथ आम्रफल का संयोग ही आम्रफल के पतन का प्रतिबन्धक है–इसलिये गुरुत्व से इतर पतन का कारण हुआ 'वृन्त के साथ आम्रफल के संयोग का अभाव और उसका अभाव हुआ वृन्त के साथ आम्रफल का संयोग, आम्रफल का पतनाभाव' उस संयोग से प्रयुक्त है अतः आम्रफल में उक्त व्याप्ति का व्यभिचार बताना असङ्गत है-" तो यह कथन ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वृन्तके साथ आम्रफल के संयोग को आम्रफल के पतन का प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह यदि प्रतिबन्धक होगा तो उस का अभाव होने पर ही आम्रफल का पतन होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। अपितु आम्रफल में पतनाख्य कर्म पहले उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उस कर्म से वृन्त के साथ आम्रफल का विभाग होकर वृन्त के साथ आम्रफल के सयोग का ध्वसात्मक अभाव निष्पन्न होता है। सारांश, न्यायमतप्रक्रियानुसार पतनकर्म पहले हुआ, व संयोगाभाव बाद मे हुआ । तो पतन में संयोगाभाव कारण कहां बना ?

यदि यह कहा जाय कि–'आम्रफल में जो पतनकर्म होगा वह वेगवान् वायु अथवा वेगवान् दण्डादिके अभिघात से उत्पन्न होगा। जिस समय यह अभिघात उपस्थित नहीं है उस समय में आम्रफल का पतनाभाव गुरुत्व से इतर पतन के कारणभूत उस अभिघात के अभाव से ही प्रयुक्त होगा। अतः आम्रफल के पतनाभाव में गुरुत्वेतर पतनकारण के अभाव का प्रयुक्तत्व होने के कारण आम्रफल में व्यभिचार का प्रदर्शन फिर भी असङ्गत है'–तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त अभिघात पतन का कारण नहीं, किन्तु सामान्य कर्म का कारण है, क्योंकि वेगवान वायु या दण्डादि के अभिघात से भूतल में एक स्थान में स्थित गुरुद्रव्य का स्थानान्तर में अपसर्पण भी होता है, जिसे पतन नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त अभिघात से आम्रफल में जो सामान्य कर्म उत्पन्न होता है वह आम्रफल

नाभावे तथात्वात् । वेगाऽप्रयुक्तत्वस्यापि विशेषणत्वे मन्त्रविशेषप्रयुक्तगोलकपतनाभावे तथात्वात् । अदृष्टप्रयुक्तत्वस्यापि विशेषणत्वे च स्वरूपासिद्धिः, ब्रह्माण्डधृतेरप्यदृष्टप्रयुक्तत्वात् । तदुक्तम्—[योगशास्त्रे ४–९८]

के गुरुत्व से भी जन्य होने के कारण पतनरूप हो जाता है । इसलिये वृन्तसंयुक्तआम्रफल के पतनाभाव में गुरुत्वेतरपतनहेत्वभावप्रयुक्तत्व न होने से आम्रफल में व्यभिचार का प्रदर्शन न्यायसङ्गत है । फलतः उक्त व्याप्ति न बन सकने के कारण धृति से ईश्वरानुमान अशक्य है । उक्तव्यभिचार का वारण करने के लिये यदि गुरुत्ववत् पतनाभावरूप धृति में प्रतिबन्धकाभाव से इतर जो पतन की सामग्री, तत्कालीनत्व विशेषण देकर इस प्रकार व्याप्ति बनायी जाय कि "गुरुत्ववत्पतनाभावरूप जो धृति पतनप्रतिबन्धकाभाव से भिन्न पतनसामग्री की समकालीन होती है वह गुरुत्वेतर पतन कारण के अभाव से प्रयुक्त होती है'–तो यद्यपि व्यभिचार नहीं होगा. क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव से इतर पतन की सामग्री पतनप्रतिबन्धककालीन सामग्री ही होगी। अतः तत्कालीन धृति में गुरुत्वेतर प्रतिबन्धकाभावरूप पतन कारण के प्रतिबन्धकरूप अभाव से प्रयुक्त होने के नाते व्यभिचार नहीं हो सकता। तथापि उक्त विशेषण विशिष्ट धृति में भी गुरुत्वेतरपतनहेत्वभावप्रयुक्तत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि वेगवान् बाण की पतनाभावरूप धृति तादृश सामग्रीकालीन धृति है । किन्तु उस में गुरुत्वेतर पतनकारणाभावप्रयुक्तत्व नहीं है । अतः उस धृति में उक्त व्याप्ति का व्यभिचार हो जायगा ।

यदि यह कहा जाय कि-वेगवान् बाण के पतन का कारण वेगरूप प्रतिबन्धक का अभाव है । अतः वेगवान् बाण का पतनाभाव प्रतिबन्धकाभावेतरसामग्रीकालीन न होकर प्रतिबन्धककालीन ही सामग्री है । अतः प्रतिबन्धकाभावेतरसामग्रीकालीनत्वविशिष्ट धृतित्व उस में नहीं है अतः उस में व्यभिचार का प्रदर्शन असगत है '–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि बाणगत वेग भी बाण के पतन का प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता । क्योंकि बाण का पतन होने पर ही बाण के वेग को निवृत्ति होती है । यदि वेगको बाण के पतन का प्रतिबन्धक माना जायगा तो बाण का पतन कभी ही न हो सकेगा । यदि इस व्यभिचार का वारण करने के लिये वेगाऽप्रयुक्तत्व को भी धृति का विशेषण बनाकर इस प्रकार व्याप्ति बनायी जाय कि–'प्रतिबन्धकाभावेतरपतनसामग्रीकालीन एवं वेगाप्रयुक्तगुरुत्ववत्पतनाभाव रूप धृति गुरुत्वेतर पतन कारणाभाव प्रयुक्त होती है'–तो यह भी ठीक नहीं है । क्यों कि मन्त्रवेत्ता व्यक्ति मन्त्रविशेष से किसी गोलकद्रव्य को आकाश में स्थिर कर देते हैं । मन्त्रविशेष के प्रभाव से उस का पतन नहीं होने पाता । अतः उस गोलकद्रव्य के पतनाभाव में उक्त व्याप्ति का व्यभिचार हो जायगा, क्योंकि गोलकद्रव्य का उक्त पतनाभाव प्रतिबन्धकाभावेतरपतनसामग्रीकालीन है और वेगाऽप्रयुक्त भी है, किन्तु गुरुत्वेतर पतनकारण के अभाव से प्रयुक्त नहीं है । मन्त्रविशेष को गोलक द्रव्य के पतन का प्रतिबन्धक मानकर उस के पतनाभाव में उक्त सामग्रीकालीनत्वरूप विशेषण का अभाव बता कर उस में व्यभिचार का वारण नहीं किया जा सकता । क्योंकि मन्त्रविशेष का पाठ बन्ध कर देने पर भी गोलकद्रव्य पर्याप्त समय तक आकाश में स्थिर रहता है । अतः मन्त्रविशेष को उस के पतन का प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता । यदि इस व्यभिचार का वारण करने के लिये धृति में अदृष्टाप्रयुक्तत्व भी विशेषण देकर इस प्रकार व्याप्ति बनायी जाय कि 'प्रतिबन्धकाभावेतर पतनसामग्रीकालीनवेगाऽप्रयुक्त एवं अदृष्टाप्रयुक्त गुरुत्ववत् पतनाभावरूप धृति गुरुत्वेतरपतनकारणाभावप्रयुक्त होती है' । तो इस व्याप्ति के संभव होने पर भी इसके द्वारा ब्रह्माण्ड की धृति में गुरुत्वेतर-

"निरालम्बा निराधारा विश्वाधारा वसुन्धरा। यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यद् न कारणम् ॥"

युक्तं चैतत्, ईश्वरप्रयत्नस्य व्यापकत्वेन समरेऽपि शरपाताऽनापत्तेः। पतनाभावावच्छिन्नेश्वरप्रयत्नस्य तथात्वे तादृशज्ञानेच्छाभ्यां विनिगमनाविरहात् क्लृप्तजातीयस्याऽदृष्टस्यैव ब्रह्माण्डधारकत्वकल्पनौचित्यात्। न चात्माऽविभुत्ववादिनः संबन्धानुपपत्तिः, असंबद्धस्यापि तत्कार्यजननशक्तस्य तत्कार्यकारित्वात्, अयस्कान्तस्याऽसंबद्धस्यापि लोहाऽऽकर्षकत्वदर्शनादिति, अन्यत्र विस्तरः। प्रयत्नस्य तु विलक्षणप्रयत्नत्वेन पतनप्रतिबन्धकसंयोगविशेष एव हेतुत्वम्।

पतनकारणाभावप्रयुक्तत्व का अनुमान करके भी ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि ब्रह्माण्ड की धृति में भी अदृष्टप्रयुक्तत्व होने से उस में अदृष्टाऽप्रयुक्तत्व विशेषणविशिष्ट उक्त धृतित्वरूपहेतु स्वरूपाऽसिद्ध हो जाता है।

इसीलिये श्रीहेमचन्द्रसूरिने कहा है कि- विश्व की आधारभूत पृथ्वी विना किसी आलम्बन और आधार किसी एक निश्चित स्थान में स्थिर रहती है, वहां से उसका पतन नहीं होता उस में धर्म से अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है'। इस प्रकार ब्रह्माण्ड धृति के धर्म रूप अदृष्ट से प्रयुक्त होने के कारण उसमें अदृष्टाऽप्रयुक्तत्वविशिष्ट उक्त धृतित्वरूप हेतु की स्वरूपाऽसिद्धि निर्विवाद है। यही युक्तिसङ्गत भी है, क्योंकि यदि ईश्वर प्रयत्न को ब्रह्माण्ड पतन का प्रतिबन्धक माना जायगा तो व्यापक होने के कारण वह सङ्ग्रामभूमि में भी रहेगा। अतः उस भूमि में सैनिकों द्वारा प्रक्षिप्त बाणों का पतन भी न हो सकेगा क्योंकि ईश्वर का जो प्रयत्न ब्रह्माण्ड के पतन को रोक सकता है वह सामान्य बाण के पतन को क्यों न रोक सकेगा ? यदि यह कहा जाय कि-'प्रतियोगिव्यधिकरण पतनाभाव विशिष्ट ईश्वर प्रयत्न ही पतन का प्रतिबन्धक है। अतः ईश्वरप्रयत्न से बाण के पतन का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। क्योंकि बाण में प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभाव नहीं रहता। ब्रह्माण्ड का कभी भी पतन न होने से उस में प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभाव रहता है। अतः एव ब्रह्माण्ड में प्रतियोगीव्यधिकरणपतनाभाव विशिष्ट ईश्वर प्रयत्न के रहने से वह ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक हो सकता है'–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभावविशिष्ट प्रयत्न ही ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक हो उस में कोई विनिगमना न होने से प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभावविशिष्ट ज्ञान और इच्छा को भी प्रतिबन्धक मानना आवश्यक होगा। इसलिये ज्ञान, इच्छा प्रयत्न ये तीन को ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा अदृष्ट को ही ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक मानना उचित है, क्योंकि अदृष्ट में जीवित शरीर के पतन की प्रतिबन्धकता सिद्ध है। अतः एव अदृष्ट में पतनप्रतिबन्धकतात्व की कल्पना अपूर्व नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-'अदृष्ट ब्रह्माण्ड का धारक नहीं हो सकता क्योंकि अदृष्ट जीवात्मा में रहता है। अतः जिस मत में जीवात्मा विभु नहीं होता उस मत में जीवात्मा में रहनेवाले अदृष्ट का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड के साथ नहीं हो सकता और जब ब्रह्माण्ड से अदृष्ट का सम्बन्ध नहीं बन सकता तब उसे ब्रह्माण्ड का धारक कैसे माना जा सकता ?'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उस कार्य के उत्पत्ति देश से असम्बद्ध होने पर भी

ब्रह्माण्डनाशकतयापि नेश्वरसिद्धिः, प्रलयाऽनभ्युपगमात्, अहोरात्रस्याऽहोरात्रपूर्वकत्वव्याप्यत्वात्। न च वर्षादिनत्वेनाऽव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वकत्ववदत्राऽव्यवहितसंसारपूर्वकत्वमुपाधिः, राशिविशेषे वर्षादिनस्य हेतुत्वेन तत्रानुकूलतर्केणोपाधेः साध्यव्यापकत्वग्रहेऽप्यनुकूलतर्काभावेन प्रकृत उपाधेरसमर्थत्वात्, कालत्वस्य भोग्यव्याप्यत्वाच्च। कर्मणां विषमविपाकतया युगपद् निरोधाऽसंभवात्, सुषुप्तौ कतिपयाऽदृष्टनिरोधस्य दर्शनावरणरूपाऽदृष्टसामर्थ्यादेवोपपत्तेर्बलवताऽदृष्टान्तरप्रतिरोधदर्शनात्, प्रलये तु कथं तादृशादृष्टं विनाऽदृष्टनिरोधः स्यात्? अन्यथा त्वनायाससिद्धो मोक्षः इति किं ब्रह्मचर्यादिक्लेशानुभवेन? इत्यन्यत्र विस्तरः।

उस कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे लोहखण्ड से असम्बद्ध भी अयस्कान्तमणि (लोहचुम्बक) लोहखण्ड में आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः कार्य के उत्पत्ति देश से सम्बद्ध ही कारण कार्य का उत्पादक होता है इस नियम के सार्वत्रिक न होने के कारण ब्रह्माण्ड से असम्बद्ध भी जीव का अदृष्ट ब्रह्माण्ड का धारक हो सकता है। इस विषय का विस्तृत विचार ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य है।

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रयत्न कहीं भी स्वयं पतन का प्रतिबन्धक नहीं बनता। किन्तु विलक्षण प्रयत्न के रूप में पतन के प्रतिबन्धक संयोग विशेष को ही उत्पन्न करता है। पतन का प्रतिबन्ध तो उस संयोग से ही होता है। जैसे आकाश में उडते हुए पक्षी के शरीर के पतन का प्रतिबन्ध पक्षी शरीर के साथ पक्षीकी आत्मा के संयोग से होता है और वह संयोग पक्षी के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। सभी प्रयत्न पतन के प्रतिबन्धक संयोग को नहीं उत्पन्न करते किन्तु विलक्षण प्रयत्न हो उत्पन्न करता है। अन्यथा जोवित प्राणी का वृक्ष भवन पर्वत आदि से कभी भी पतन न होता। ईश्वर का प्रयत्न एक ही होता है। अतः उस में वैजात्य की कल्पना नहीं हो सकती। अत एव उस से पतन के प्रतिबन्धक संयोग की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती। इसलिये ईश्वरप्रयत्न को ब्रह्माण्ड का धारक मानना न्यायसङ्गत नहीं हो सकता।

[प्रलय के अस्वीकार से इश्वरसिद्धि निरसन]

ब्रह्माण्ड-नाशक के रूप में भी ईश्वर की आनुमानिक सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्माण्ड का नाश प्रलय की मान्यता पर निर्भर है और प्रलय अप्रामाणिक होने से असिद्ध है। अतः आश्रयासिद्धि दोष के कारण ब्रह्माण्डनाश को पक्ष बनाकर कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि–"ब्रह्माण्ड का नाश अनुमान से सिद्ध है। जैसे 'ब्रह्माण्डं नश्वरम् (=नाशप्रतियोगी) जन्यभावत्वात् घटादिवत्।' यह अनुमान ब्रह्माण्डनाश में प्रमाण है। अतः ब्रह्माण्डनाशपक्षक अनुमान में आश्रयाऽसिद्धि नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्माण्ड में नाशप्रतियोगीत्व के उक्त अनुमान का बाधक अनुमान विद्यमान है जैसे. विवादास्पद अहोरात्र अव्यवहित अहोरात्र पूर्वक है। क्योंकि जो भी अहोरात्र होता है वह सब अहोरात्रपूर्वक होता है। यदि ब्रह्माण्ड का नाश माना जायगा तो अग्रिम ब्रह्माण्डमें होनेवाले प्रथम अहोरात्र में अव्यवहित अहोरात्र पूर्वकत्व न होने से सभी अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक होते है इस व्याप्ति का भङ्ग हो जायगा। अतः किसी भी अहोरात्र को प्रथम

अहोरात्र नहीं माना जा सकता। और यह तभी हो सकता है जब अहारात्र की परंपरा अविच्छिन्न बनी रहे और वह तभी बनी रहती है जब ब्रह्माण्ड का नाश न हो। अतः इस अनुमान से ब्रह्माण्ड के नाश का अनुमान वाधित हो जाता है। इसलिए आश्रयाऽसिद्धि के कारण ब्रह्माण्डनाशपक्षक अनुमान का होना सर्वथा असंभव है।

[अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व उपाधि की शंका]

यदि यह कहा जाय कि—जैसे वर्षादिनत्व हेतु से प्रथम कहे जाने वाले वर्षादिन में अव्यवहित वर्षादिन पूर्वकत्व का साधन करने पर 'राशिविशेष में रविपूर्वकत्व'रूप उपाधि होने से वर्षादिनत्व में अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व की व्याप्ति नहीं होती। उसी प्रकार अहोरात्रत्व हेतु से प्रथम कहे जाने वाले अहोरात्र में अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व का साधन करने पर भी अव्यवहितसंसारपूर्वकत्वरूप उपाधि होने से अहोरात्रत्व में अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व की व्याप्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि राशिविशेष (संभवतः सिंहराशि) से सूर्य के सम्बन्ध के साथ वर्षादिन का आरम्भ होता है। अत एव प्रथम वर्षादिन के पूर्व रवि राशिविशेष से सम्बद्ध नहीं होता। अतः राशिविशेषावच्छिन्न रविपूर्वकत्व आद्यवर्षादिन में वर्षादिनत्वरूप साधन का अव्यापक होता है और द्वितीय-तृतीयादि वर्षादिन में अव्यवहित वर्षादिनपूर्वकत्व तथा राशिविशेषावच्छिन्नपूर्वकत्व दोनों के रहने से राशिविशेषावच्छिन्नपूर्वकत्व अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वरूप साध्य का व्यापक होता है। इसलिए वर्षादिनत्व में अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व की व्याप्ति नहीं होती क्योंकि वर्षादिनत्व अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व के व्यापक राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वकत्व का व्यभिचारी होने से अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व का भी व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि व्यापक का व्यभिचार व्याप्य व्यभिचार से नियत होता है। इसी प्रकार जिन अहोरात्रों में अव्यवहित अहोरात्र पूर्वकत्व सर्वसम्मत है उनमें अव्यवहितसंसार पूर्वकत्व है क्योंकि उन अहोरात्रों के पूर्व अहोरात्र विद्यमान है और अहोरात्र संसार रहने पर ही होता है। अतः उन अहोरात्रों में अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व का होना अनिवार्य है अतः अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व रूप साध्य का व्यापक होता है। अहोरात्रत्वरूप साधन अभिनव ब्रह्माण्ड के आद्य अहोरात्र में भी है किन्तु उसके पूर्व संसार न होने से उसमें अव्यवहित संसारपूर्वकत्व नहीं है, अत एव अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व अहोरात्रत्वरूप साधन का अव्यापक है। इसलिए अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व के व्यापक अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व का व्यभिचारी हो जाने के कारण अहोरात्रत्वरूप साधन अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्वरूप साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। अतः अहोरात्रत्वहेतु से समस्तअहोरात्र में अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व का अनुमान करके प्रलय का खण्डन नहीं किया जा सकता।

[उपाधि की शंका तर्कशून्य है]

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, राशि विशेष वर्षादिन का कारण होता है। अतः एव राशिविशेष के साथ सूर्य का सम्बन्ध और वर्षादिन की एक साथ प्रवृत्ति होती है। इसलिये अग्रिम वर्षादिन राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वक हो जाता है। यदि किसी अव्यवहितवर्षादिनपूर्वक वर्षादिन को राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वक न माना जायगा तो उस वर्षा दिन के अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्षादिन राशिविशेष से अवच्छिन्न नहीं है यह मानना होगा और यह तब होगा जब उस वर्षादिन के पूर्व राशिविशेष का प्रवेश न हो। और ऐसा मानने पर वर्षादिन के प्रति राशिविशेष की कारणता का सङ्ग

हो जायगा। अतः अव्यवहित वर्षादिनपूर्वक सभी वर्षादिन को राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वक मानना पड़ेगा। अत एव राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वकत्व में अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वरूप साध्य की व्यापकता का ज्ञान हो सकने से राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वकत्व उपाधि हो सकता है। किन्तु अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व में अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व की व्यापकता का ग्राहक कोई तर्क नहीं है। अर्थात् किसी अहोरात्र के पूर्व में अहोरात्र माना जाय और संसार न माना जाय तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अतः अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व के बिना भी हो सकता है इसलिये अव्यवहित संसारपूर्वकत्व में अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व की व्यापकता का ज्ञान न हो सकने से अव्यवहितसंसारपूवकत्व उपाधि नहीं हो सकता। अतः अहोरात्रत्व में अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व का व्याप्तिज्ञान होने में कोई बाधा न होने से अहोरात्रत्व हेतु से समस्त अहोरात्र में अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व का साधन कर प्रलय का खण्डन किया जा सकता है।

प्रलय का खण्डन एक और भी अनुमान से हो सकता है। वह है-संपूर्ण काल में भोग्य पदार्थों के अस्तित्व का अनुमान। जैसे कालः भोग्यवान् कालत्वात्' अर्थात् संपूर्णकाल भोग्यपदार्थ का आश्रय है, क्योंकि वह काल है, जो भी काल होता है वह भोग्यपदार्थ का आश्रय होता है जैसे सृष्टिकाल'। इस अनुमान का फल यह होगा कि भोग्यपदार्थ से शून्य कोई काल नहीं माना जा सकता। प्रलयकाल भोग्यपदार्थ से शून्य माना ज.ता है, अतः उक्तानुमान के कारण उसका अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता।

[एकसाथ समस्त कर्म का वृत्तिनिरोध अशक्य]

प्रलय की सिद्धि में और भी एक बाधा है और वह यह है कि कर्म की फलप्रदवृत्तियों का एक काल में सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रलय तभी हो सकता है जब समस्त जीवों के समस्त कर्मों की फलोन्मुख वृत्तियों का किसी एक काल में संपूर्ण निरोध हो जाय, क्योंकि जब समस्त जीवों के सभो कर्म अपना फल देने के प्रति उदासीन हो जायेंगे तो किसी भी जन्य द्रव्य की कोई आवश्यकता न रह जायगी। क्योंकि जन्य द्रव्य कर्मों का प.ल प्रदान करने में कर्मों के द्वार होते है और जब कर्मों को फल देना ही नहीं है उस समय द्वारभूत पदार्थों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः संपूर्ण जन्यद्रव्यों का अभाव हो जाने से वह काल प्रलयकाल हो जाता है, जिस काल में कोई जन्यद्रव्य न रहे उसी काल को प्रलयकाल कहा जाता है। किन्तु समस्त जीवों के समस्त कर्मों का संपूर्ण वृत्तिनिरोध एककाल में नहीं हो सकता, क्योंकि जीव के कर्म विषमविपाकी होने से अर्थात् परस्परविरोधी फलों के जनक होने से नियत समय में ही फलप्रद न होकर भिन्न भिन्न समयों में किसी न किसी फल के जनक होते है।

यदि यह कहा जाय कि-'जैसे सुषुप्ति के समय सहस्रों प्राणियों के कर्मों का वृत्तिनिरोध एक साथ हो जाता है-इसी प्रकार कोई ऐसा भी काल हो सकता है जिसमें समस्त जीवों के समस्त कर्मों का संपूर्ण वृत्ति-निरोध हो जाय और ऐसा जो काल होगा उसी को प्रलयकाल कहा जायेगा- तो यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि सुषुप्ति में जो सहस्रों प्राणियों के कर्म का एक साथ संपूर्ण वृत्तिनिरोध होता है वह दर्शनावरण रूप अदृष्ट के कारण होता है अर्थात् जिन प्राणियों का दर्शनावरणरूप अदृष्ट जब जाग्रत होता हैं तब अन्य कर्मों की वृत्तियों का प्रतिरोध हो जाता है क्योंकि वह अन्य कर्मों से बलवान होता है और बलवान अदृष्ट से दुर्बल अदृष्ट के वृत्ति का प्रतिरोध युक्तिसंगत है किन्तु ऐसा कोई अदृष्ट प्रमाणिक नहीं हैं जिससे समस्त जीवों के समस्त कर्मों का वृत्तिरोध हो सके अतः प्रलय की कल्पना न्यायसंगत नहीं हो सकती और यदि समस्त जीवों के समस्त कर्मों का वृत्तिरोध अकारण ही

एतेन 'आद्यव्यवहारादीश्वरसिद्धिः, प्रतिसर्गं मन्वादीनां बहूनां व्यवहारप्रवर्तकानां कल्पने गौरवादेकस्यैव भगवतः सिद्धेः' इत्यपास्तम्, सर्गादेरेवाऽसिद्धेः, इदानीमिव सर्वदा पूर्वपूर्वव्यवहारेणैवोत्तरोत्तरव्यवहारोपपत्तेः। यदि तु सर्गादिरुपेयते, तदा तदानीं प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धयोरभावात् कथं व्यवहारः ?

मान लिया जायगा तो जीवमात्र को अनायास ही मोक्ष मील जायगा। फिर ब्रह्मचर्यादि पालन का कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पडेगी। फलतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यादि का उपदेश शास्त्रों में किया गया है वह निरर्थक हो जायगा।

इस विषय का विस्तृत विचार ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य है।

[सर्गादि की असिद्धि से आद्य व्यवहारादिकथन की व्यर्थता]

घटपटादि अर्थों मे घटपट आदि शब्दों के प्रयोगरूप व्यवहार के प्रथमप्रवर्त्तक रूप में भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि 'भिन्नभिन्न सृष्टि में मनुआदि अनेक पुरुषों को व्यवहार का प्रवर्तक मानने में गौरव होगा और सभी सृष्टि में एकमात्र ईश्वर को ही प्रवर्त्तक मानने में लाघव होगा' इस प्रकार ईश्वर की कल्पना का आपाततः औचित्य प्रतीत होने पर भी वास्तव दृष्टि से उक्तरीति से ईश्वर की कल्पना उचित नहीं हो सकती, क्योंकि सृष्टि का आरम्भ ही किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। अपितु यही कल्पना उचित प्रतीत होती है कि जैसे इस समय के व्यवहार अपने पूर्व व्यवहारों से ही सम्पन्न होते है उसी प्रकार संपूर्ण समय के व्यवहार अपने पूर्व व्यवहारों से ही सम्पन्न होते हैं। और ऐसा मानने पर कोई आद्य व्यवहार सिद्ध न होने से व्यवहार के आद्य प्रवर्त्तक की कल्पना की संभावना ही समाप्त हो जायगी।

[सर्ग के प्रारम्भ में व्यवहार की असिद्धि]

इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि यदि सृष्टि का आरम्भ माना जायेगा तो उस समय प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्ध के न होने से व्यवहार कैसे प्रवर्तित हो सकेगा ? कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टिकाल में व्यवहार का प्रवर्तन प्रयोज्य और प्रयोजकवयस्थ पुरुषों द्वारा होता है, जैसे–जब कोई वयस्थ व्यक्ति किसी बालक को व्यवहार की शिक्षा देना चाहता हैं तब वह उस बालक को पास में बिठाकर अपने किसी कनिष्ठ वयस्थ व्यक्ति को आदेश देता है कि 'घडा ले आओ या घडा ले जाओ'। कनिष्ठ वयस्थ व्यक्ति जिसे प्रयोज्य वृद्ध कहा जाता है, उस आदेश वाक्य को सुनकर घट को ले आता है या ले जाता है। पास में बैठा हुआ बालक प्रयोज्यवृद्ध के घट आनयन को देखकर उसके कारणरूप में प्रयोज्यवृद्ध के घटानयन में कर्त्तव्यता के ज्ञान का अनुमान करता है और फिर उस वाक्य में उस ज्ञान की कारणता का अनुमान करता है। उस के बाद ज्येष्ठ वयस्थ व्यक्ति जिसे प्रयोजकवृद्ध कहा जाता हैं यह आदेश देता है कि 'घट नय. पटमानय' और प्रयोज्य वृद्ध घट को हठा कर पट का आनयन करता है तब बालक यह अनुमान करता है कि 'घटमानय' इस वाक्य के भीतर जो घट शब्द है वही घट ज्ञान का जनक है क्योंकि 'आनय' शब्द के साथ जब घट शब्द था तब प्रयोज्य वृद्ध को घटानयन में कर्तव्यता का ज्ञान हुआ और जब 'आनय' शब्द के साथ घट शब्द नहीं था किन्तु पट शब्द था तब घटानयन में कर्तव्यता का ज्ञान नहीं हुआ। इस प्रकार वह घटशब्द के आवाप अर्थात् आनय शब्द के साथ उस का प्रयोग और घटशब्द के उद्वाप अर्थात् आनय शब्द के साथ उस

अथ "यथा मायाची सूत्रसंचाराधिष्ठितदारुपुत्रकं 'घटमानय' इत्यादि नियोज्य घटाऽऽनयनं संपाद्य बालकस्य व्युत्पत्तौ प्रयोजकः, तथेश्वरोऽपि प्रयोज्य-प्रयोजकवृद्धीभूय व्यवहारं कृत्वाऽऽद्यव्युत्पत्तिं कारयति। न चाऽत्र चेष्टया प्रवृत्तिम्, तया ज्ञानम्, तज्ज्ञाने उपस्थितवाक्यहेतुत्वम्, तज्ज्ञानविषयपदार्थे चाऽऽवापोद्वापाभ्यां तत्तत्पदज्ञानहेतुत्वमनुमाय तत्तत्पदे तत्तदर्थज्ञानानुकूलत्वेन तत्तदर्थसंबन्धवत्त्वमनुमेयम्, एवं चाऽयं संबन्धग्रहो भ्रमः स्यात्, जनकज्ञानस्य भ्रमत्वात् इति वाच्यम्, तत्त्वेऽपि विषयाऽबाधेन प्रमात्वात्, चरम-परामर्शस्य प्रमात्वसंभवाच्च। एवमीश्वर एव कुलालादिशरीरं परिगृह्य घटादिसंप्रदायप्रवर्तकः। अत एव श्रुतिः '(नमः) कुलालेभ्यो; नमः कर्मारेभ्यः' इत्यादीति।" चेत् ?

के अप्रयोग से बालक यह अनुमान करता है कि घट शब्द घट का बोधक है और उस के बाद 'घट शब्द से ही घट का बोध होता है, पट शब्द से क्यों नहीं होता' ? ऐसा विचार करते हुए यह अनुमान करता हैं कि घटशब्द घटरूप अर्थ से सम्बद्ध है और पटशब्द घटरूप अर्थ से सम्बद्ध नहीं है। इस निश्चय के अनन्तर बालक कालान्तर में स्वयं घट का बोध कराने के लिये स्वयं घट शब्द का व्यवहार करने लगता है और अन्य द्वारा घट शब्द का व्यवहार होने पर स्वयं घट का ज्ञान प्राप्त करने लगता है। इस प्रकार प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्धों के द्वारा व्यवहार का प्रवर्तन होता हैं किन्तु यदि सृष्टि का आरम्भ माना जायेगा तो उस समय प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्ध न होने से शब्द व्यवहार का प्रवर्तन नहीं हो सकेगा।

[मायाजालिक के समान ईश्वर को शिक्षा-पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय-कि जैसे मायावी पुरुष जब अकेला होता है उसके साथ कोई कनिष्ठ वयस्थ व्यक्ति नहीं होता और वह कोई किसी बालक को व्यवहार सिखाना चाहता है तब वह कनिष्ठवयस्थ के स्थान में एक लकडी का मनुष्य बना लेता है और उसको सूत से इस प्रकार बांध लेता है कि वह उस सूत्र के द्वारा गतिशील हो सके और तब वह 'घटमानय' इस शब्द का प्रयोग करके सूत्र के संचालन से उस काष्ठ निर्मित्त पुरुष के द्वारा घटानयन का संपादन कर बालक को घट शब्द के व्यवहार की शिक्षा देता है। तो जैसे मायावी काष्ठ से बने हुए मनुष्य को प्रयोज्य वृद्ध के स्थान में रखकर व्यवहार की शिक्षा देता हैं, उसी प्रकार ईश्वर प्रयोज्य और प्रयोजकशरीरों की रचना कर प्रयोजक शरीर के द्वारा 'घटमानय' इस शब्द का प्रयोग कर और प्रयोज्य शरीर द्वारा घटानयन का संपादन कर सृष्टि के आरंभ काल के मनुष्य को व्यवहार की शिक्षा दे सकता है।

इस सन्दर्भ में यह शङ्का हो कि-'उक्त क्रम से व्यवहारशिक्षा की जो पद्धति है उस के अनुसार चेष्टा से प्रवृत्ति का और प्रवृत्ति से कर्तव्यताज्ञान का और ज्ञान के प्रति उपस्थित वाक्य में कारणता का और उस ज्ञान के विषयभूत तत्तद् पदार्थज्ञान के प्रति आवाप और उद्वाप अर्थात् क्रिया-पद के साथ तत्तद् पद का प्रयोग और अप्रयोग से तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है।

किन्तु इस स्थिति में सृष्टि के आरम्भ में प्रयोज्य और प्रयोजक शरीर का निर्माण कर उसके द्वारा ईश्वर को व्यवहार का प्रवर्तक मानने पर तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध का उक्तानुमान भ्रम होगा।

न, अदृष्टाऽभावेन प्रयोज्यादिशरीरपरिग्रहस्यैव भगवतोऽयुक्तत्वाद् , अन्यादृष्टेनाऽन्यस्य शरीरपरिग्रहे चैत्राऽदृष्टाऽऽकृष्टं शरीरं मैत्रोऽपि परिगृह्णीयात् । 'प्राण्यदृष्टेन घटादिवत् तत्तच्छरीरोत्पत्तिः, तत्परिग्रहस्तु भगवतस्तदावेश एवेति न दोष' इति चेत् ? न, घटादावतथात्वेऽपि तदीयेशशरीरे तदीयाऽदृष्टत्वेनैव हेतुत्वात् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

क्योंकि उस अनुमान के कारणवश में प्रविष्ट होने वाली प्रवृत्ति से ज्ञान का अनुमान और उस ज्ञान के प्रति उपस्थित वाक्य में कारणता का अनुमान आदि भ्रम है; क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में प्रयोज्य प्रयोजक शरीर का प्रयत्न और ज्ञान नित्य होता है। अतः उन में कारण की अपेक्षा न होने से उनके कारणानुमान का भ्रम होना अनिवार्य है। और जब कारणभूत ज्ञान भ्रम है तब उसके कार्यभूत उक्तानुमान भ्रम होना स्वाभाविक है और जब तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध का अनुमान भ्रम ह गा तब उससे तत्तद् पद में तत्तद पदार्थ के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि भ्रम विषय का व्यभिचारी होता है। अतः भ्रम से पदार्थ की सिद्धि नहीं होती।'-तो इसके उत्तर में,

यदि कहा जाए कि-यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि किसी ज्ञान का भ्रमात्मक होना उसके कारण गत दोष पर ही निर्भर नहीं है किन्तु ज्ञान जिस विषय को ग्रहण करता है उस विषय के ब ध पर निर्भर है इसीलिये बह्नि म धूमव्याप्ति का भ्रम होने पर वह्नि से यदि महानस में धूम की अनुमिति होती है तो वह अपने कारण उक्त व्याप्तिज्ञान के भ्रमरूप होने पर भी स्वयं भ्रमरूप नहीं होती क्योंकि महानस में धूम का बाध नहीं होता है, अतः सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के प्रयोज्य-प्रयोजक शरीर द्वारा उस काल के मनुष्य को जो तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध की अनुमिति होगी वह भी भ्रम नहीं हो सकती क्योंकि तत्तद् पदमें तत्तद् पदार्थ का सम्बन्ध होने के कारण उस का बाध नहीं है। और दूसरी बात यह है कि अनुमिति का अन्तिम कारण तो पक्षमें साध्य व्याप्य हेतु का परामर्श होता है जिसे चरम परामर्श कहा जाता है। प्रकृतस्थल में वह परामर्श तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ सम्बन्ध व्याप्यस्वरूप से तत्तद्पदार्थज्ञानानुकूलत्वरूपहेतु का निश्चयरूप है और वह निश्चय सर्वांश में प्रमात्मक ही है अतः उक्तानुमिति का जो प्रधान एवं अन्तिम कारण है उसके भ्रमरूप न होने से कारण दोष द्वारा ही तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ सम्बन्ध की अनुमिति को भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकता। अतः उस अनुमिति से तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती, इसी प्रकार ईश्वर कुलालादि शरीर को धारणकर घटपटादि का प्रथम निर्माण कर के घटपटादि के निर्माण की परंपरारूप संप्रदाय का प्रवर्त्तक होता है। इसीलिये श्रुति में कुलाल शब्द से उस का अभिवादन किया है तो जैसे 'नमः कुलालेभ्यः नमः कर्मारेभ्यः' इत्यादि।

[ईश्वर के शरीर ग्रहण का असंभव-उत्तरपक्ष]

सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा व्यवहार प्रवर्तित किये जाने का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर में अदृष्ट नहीं होता। अत एव उसके द्वारा प्रयोज्य और प्रयोजक के शरीर का ग्रहण भी युक्ति सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि शरीर का ग्रहण अपने ही अदृष्ट से होता है। यदि अन्य के अदृष्ट से भी शरीर ग्रहण की स्वीकृति की जायगी तो चैत्र के अदृष्ट से निर्मित होने वाला शरीर मैत्र द्वारा भी गृहीत हो सकेगा और उस शरीर से मैत्र को भी सुखदुखादि भोग की प्रसक्ति होगी। जब कि यह बात कथमपि मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा मानने पर तो मुक्त को भी शरीर ग्रहण का प्रसङ्ग हो सकता है।

किञ्च, कोऽयमावेशः ? तदवच्छिन्नप्रयत्न एवेति चेत् ? न, तदजन्यस्य प्रयत्नस्य तदनवच्छिन्नत्वात् । अथत्रं भूताऽऽवेशानुपपत्तिः, तत्र हि भूतात्मन्येव चैत्राद्यवच्छेदेन प्रवृत्तिरङ्गीक्रियते, अन्यथा मृतशरीरे तदावेशानापत्तेरिति चेत् ? इयमपि तवैवानुपपत्तिः,

यदि यह कहा जाय कि-'शरीरग्रहण का अर्थ है शरीर के साथ भोग प्रयोजक सम्बन्ध की प्राप्ति । किन्तु इस प्रकार का शरीरग्रहण ईश्वर में नहीं होता । अपितु जैसे प्राणियों के अदृष्ट से घटपटादि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्राणियों के अदृष्ट से ही सृष्टि के आरम्भ में तत्तत् सम्प्रदाय के प्रवर्तनार्थ विभिन्न शरीरों की भी उत्पत्ति होती है जिनके साथ ईश्वर का भोगप्रयोजक सम्बन्ध नहीं होता अपितु उन में ईश्वर का आवेश होता है और उस आवेश से ही उन शरीरों में चेष्टा होकर उनके द्वारा तत्तत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन होता है । अतः सष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले शरीरों का ईश्वर द्वारा इस प्रकार का ग्रहण संभव होने से उक्तदोष की प्रस क्त नहीं हो सकतो'- तो यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि घटादि पदार्थों और शरीरों में वैषम्य होता है । घटादि पदार्थ किसी भी व्यक्ति के भोग के आयतन नहीं होते किन्तु भोग के दूरस्थ साधन होते है । अतः उन की उत्पत्ति प्राणियों के अदृष्ट से हो सकती है, उस की उत्पत्ति में किसी प्राणीविशेष के ही अदृष्ट॰ को अपेक्षा नहीं होती, जब कि शरीर भोग का आयतन होता है इसीलिये भिन्न भिन्न प्राणी को पृथक् पृथक् शरीर की आवश्यकता होती है । जो शरीर जिस प्राणि विशेष के अदृष्ट से उत्पन्न होता हैं उस शरीर से उसी प्राणी को भोग होता है, इसीलिये कोई भी शरीर किसी प्राणि विशेष के भोग का आयतन होने के लिये ही उत्पन्न होता है और इसीलिये तत्पुरुषीय शरीर में तत्पुरुषीय अदृष्ट को कारण माना जाता है । ऐसा न मानने पर शरीर सभी प्राणियों के भोग का आयतन हो सकने के कारण अव्यवस्था हो सकती है, अतः यह कल्पना उचित नहीं हैं कि-'सृष्टि के आरम्भ में तत्तद् सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के लिये प्राणियों के अदृष्ट से कुछ शरीरों की उत्पत्ति होती है जो भोग का आयतन नहीं होते किन्तु तत्तत् सम्प्रदाय के प्रवर्तन में ईश्वर के सहायकमात्र होते है । और ईश्वर उन शरीरों में आविष्ट होकर उनके द्वारा तत्तद् सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है ।'

['आवेश' पदार्थ की समीक्षा)

इस सन्दर्भ में यह भी विचारणोय है कि सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों में अदृष्ट से उत्पन्न होनेवाले कतिपय शरीरों में ईश्वर का जो आवेश होता है उस का क्या अर्थ है ! यदि कहा जाय कि तत्तद् शरीर में आविष्ट होने का अर्थ है तत्तद् शरीरावच्छेदेन प्रयत्नशील होना' तो इस प्रकार का आवेश ईश्वर में नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर का प्रयत्न उन शरीरों से जन्य न होने के कारण उन शरीरों से अवच्छेद्य नहीं हो सकता । क्योंकि यह नियम है कि जो प्रयत्न जिस शरीर से उत्पन्न होता है वह प्रयत्न उसी से अवच्छेद्य होता है । और कोई भी प्रयत्न उसी शरीर से उत्पन्न होता है जो शरीर उस प्रयत्न के आश्रयभूत आत्मा के अदृष्ट से उत्पन्न होता है । इसीलिये शरीरावच्छेदेन मैत्र-प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं होती ।

यदि यह शङ्का की जाय कि "इसप्रकार ईश्वरावेश की अनुत्पत्ति बताने पर प्राणियों के विभिन्न शरीरों में भूतावेश (पिशाचावेश) की भी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि वे शरीर भूतात्मा के अदृष्ट से नहीं उत्पन्न होते किन्तु चैत्रादि अन्य प्राणियों के अदृष्ट से ही उत्पन्न होते है । अतः उक्त

अस्माकं तु तत्र संकोच-विकासस्वभावभूतात्मप्रदेशानुप्रवेशादुपपत्तेः। तत्र त्ववच्छेदकतया चैत्रप्रयत्नं प्रति चैत्रशरीरत्वेनाऽवश्यं हेतुता वक्तव्या, अन्यथा मैत्रशरीरावच्छेदेन चैत्रप्रवृ-त्त्यापत्तेः, पाण्यादिचालकप्रयत्नसत्त्व एव पुनस्तदापत्तिवारणायाऽवच्छेदकतया तत्प्रयत्ने

व्यवस्था के अनुसार उन शरीरों द्वारा भूतात्मा में प्रवृत्ति न हो सकेगी। जब कि उन शरीरों द्वारा भूतात्मा में प्रवृत्ति तो होती है और इस प्रवृत्ति का होना ही उन शरीरों में भूतात्मा का आवेश कहा जाता है। यदि यह कहा जाय कि- 'चैत्रादि के शरीर में भूतावेश का यह अर्थ नहीं है कि चैत्रादि शरीरावच्छेदेन भूतात्मा में प्रवृत्ति होती है किन्तु चैत्रात्मा के साथ भूतात्मा का एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है। जिस के कारण उन शरीरों के अधिष्ठाता प्राणियों के प्रयत्न से ही उन में असाधारण प्रकार की चेष्टाएँ होने लगती हैं" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मृतशरीर में भूतावेश की उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि मृतशरीर के साथ उस व्यक्ति का सम्बन्ध टूट जाता है जिस व्यक्ति के अदृष्ट से यह शरीर पूर्व में उत्पन्न था। अतः भूतावेश से उस शरीर में होनेवाली चेष्टाएँ उस शरीर के अधिष्ठाता जीव के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं मानी जा सकती। अतः उन्हें भूतात्मा से ही उत्पन्न मानना होगा और यह तब ही हो सकता है जब मृतशरीरावच्छेदेन भूतात्मा में प्रयत्न की उत्पत्ति मानी जाय। अतः इस व्यवस्था का त्याग करना होगा कि जो शरीर जिस के अदृष्ट से उत्पन्न होता है उसी शरीर से उस में प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। इसीलिये सृष्टि के आरम्भ में जो शरीर उत्पन्न होते हैं वे यद्यपि भगवान के नहीं उत्पन्न होते तब भी भगवान में तत्तद् शरीरद्वारा प्रयत्न का उदय हो सकता हैं, जिस से उन शरीरों में चेष्टा की उत्पत्ति हो कर उन के द्वारा व्यवहार का प्रवर्तन हो सकता है और यदि ईश्वर में प्रयत्न की उत्पत्ति कथमपि अभीष्ट न हो तो ईश्वर का नित्य प्रयत्न ही तत्तद् शरीर से अवच्छेद्य हो सकता है। वह अवच्छेद्यत्व जन्यत्वरूप न होकर स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप हो सकता है। जैसे नित्य आकाशमें घटावच्छेद्यत्व होता है"

[आत्मा के संकोच-विकास से भूतावेश]

तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चैत्रशरीरावच्छेदेन मैत्रप्रयत्न की उत्पत्ति के परिहारार्थ यह नियम मानना अनिवार्य है कि जो शरीर जिस प्राणी के अदृष्ट से उत्पन्न होता है तत्शरीरावच्छेदेनैव उस प्राणी में प्रयत्न की उत्पत्ति होती हैं। इस नियम के मानने पर जो भूतावेश की अनुपपत्ति प्रदर्शित की गई है वह नैयायिक के ही मत में प्रसक्त होती हैं, आर्हत मत में वह अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आर्हतमत में आत्मा प्रदेशवान होता है और उस के प्रदेश सङ्कोच-विकासशाली होते है। इसलिये चैत्रादि के शरीरमें भी भूतात्मा के प्रवेश का उसीप्रकार अनुप्रवेश हो सकता है जैसे चैत्रादि के शरीर में चैत्रादि के आत्मप्रवेश का अनुप्रवेश होता है। भूतात्मा के प्रदेश का चैत्रादि के शरीर में यह अनुप्रवेश ही भूतावेश कहा जाता है। और इस अनुप्रवेश के कारण चैत्रादिशरीरावच्छेदेन भूतात्मा में प्रवृत्ति हो सकती है क्योंकि जिस शरीर में जिस आत्मा का प्रदेश अनुप्रविष्ट होता है तत्शरीरावच्छेदेन उस आत्मा में प्रयत्न होने का नियम है। भूतात्मा के प्रदेश का यह अनुप्रवेश तत्तत् शरीर में अपने अदृष्ट से प्रविष्ट होनेवाले आत्माओं के अदृष्ट से होता। है। अतः यह भूतावेश उन आत्माओं के लिये दुःखप्रद होता है। चैत्र के शरीर में मैत्रात्मा के प्रदेश का अनुप्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि तदनुकूल कोई अदृष्ट नहीं होता। अतः चैत्रशरीरावच्छेदेन मैत्रात्मा में प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु नैयायिकमत में मैत्र-

तया तद्भावस्य हेतोरापादकस्य सत्त्वात् तत्तच्छरीरत्वेन तत्तत्प्रवृत्त्यादिहेतुत्वे गौरवात् , कायव्यूहस्थलेऽपि योगजाऽदृष्टोपगृहीतत्वसंबन्धेन तदात्मत्वस्य सर्वशरीरानुगतत्वात् ।

शरीरावच्छेदेन चैत्रप्रवृत्ति की उत्पत्ति के निवारणार्थ अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्र प्रयत्न के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से चैत्र शरीर को कारण मानना पडता है। इसलिये चैत्रादि का शरीर चैत्रादि की ही प्रवृत्ति का कारण हो सकता है भूतात्मा की प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता। अतः न्याय मत में चैत्रादि के शरीर में भूतावेश की अनुपपति हो सकती है।

[नैयायिक मान्य कार्य-कारणभाव में गौरव]

यदि यह कहा जाय कि-'अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्र-प्रयत्न के प्रति चैत्रशरीर तादात्म्य सम्बन्ध से कारण है यह कार्य-कारणभाव नैयायिक को भी मान्य नहीं है । क्योंकि इसके मानने पर भी यह आपत्ति हो सकती है कि हस्त में गति उत्पन्न करनेवाले प्रयत्न की अवच्छेदकतासम्बन्ध से चरण में भी उत्पत्ति होनी चाहिये। क्योंकि चरण में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उस प्रयत्न का अभाव है और अवच्छेदकता सम्बन्धेन तत्प्रयत्न का अभाव तत्प्रयत्न का कारण होता है । अतः इस आपत्ति के वारणार्थ जो जो प्रवृत्ति जिस जिस शरीर या जिस जिस शरीरावयव द्वारा उत्पन्न होती है उस उस प्रवृत्ति के प्रति तत्तद् शरीर या तत्तद् शरीरावयव कारण होता है । और इस कार्यकारणभाव को मान लेने पर मैत्रशरीरावच्छेदेन चैत्रप्रवृत्ति की आपत्ति का भी वारण हो जाता है। अतः अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्र प्रयत्न के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्रशरीर कारण है यह कार्यकारणभाव अनावश्यक हो जाता है। इसीलिये चैत्रशरीरावच्छेदेन भूतात्मा में प्रवृत्तिरूप भूतावेश और सृष्टि के आरम्भ में प्रयोज्य-प्रयोजक आदि शरीरावच्छेदेन प्रयत्नशालितारूप ईश्वरावेश की अनुत्पत्ति नहीं हो सकती'- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हस्त में गतिजनक प्रयत्न की चरण में उत्पत्ति की आपत्ति का वारण करने के लिये जिस कार्यकारणभाव की कल्पना की गई है उस में प्रवृत्ति एवं शरीर तथा शरीरावयव के भेद से महान गौरव है। अतः उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

चरण में हस्तक्रियाजनक प्रयत्न की उत्पत्ति की आपत्ति का वारण करने के लिये यह कार्यकारणभाव मानना उचित है कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से प्रयत्न के प्रति गतिप्रकारकइच्छा विशेष्यतासम्बन्ध से कारण है। हस्त में गति का जनक प्रयत्न 'हस्तश्चलतु' इस इच्छा से उत्पन्न होता है। यह इच्छा विशेष्यता सम्बन्ध से हस्त में रहती है। अत एव इस इच्छा से उत्पन्न होनेवाला प्रयत्न अवच्छेदकता सम्बन्ध से हस्त में ही उत्पन्न हो सकता है न कि चरण में । अथवा यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रयत्न अवच्छेदकतासम्बन्धेन किसी भी शरीरावयव में नहीं उत्पन्न हो सकता किन्तु अवच्छेदकता सम्बन्धेन शरीर में ही उत्पन्न होता है। और उस प्रयत्न से हस्त चरणादि में जो सदा प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु व्यवस्थित रूप में कभी हस्त में कभी चरण में होती है उसका नियामक प्रयत्न को उत्पन्न करनेवाली 'हस्तश्चलतु, चरणश्चलतु' इत्यादि इच्छा है । इसका आशय यह है कि समवाय सम्बन्ध से चलनादिरूप चेष्टा के प्रति प्रयत्न 'स्वजनक चलनादि प्रकारक इच्छा विशेष्यत्व सम्बन्ध' से कारण है। अतः जब 'पाणिश्चलतु' इस इच्छा से शरीरावच्छेदेन प्रयत्न उत्पन्न होगा तब वह प्रयत्न उक्त सम्बन्ध से पाणि में रहने के कारण पाणि में चलन क्रिया को उत्पन्न करेगा । और जब 'चरणश्चलतु' इस इच्छा से शरीरावच्छेदेन प्रयत्न उत्पन्न होगा तब वह प्रयत्न उक्त सम्बन्ध से चरण में रहने के कारण चरण में चलन क्रिया को उत्पन्न करेगा।

अपि च, यथाकथञ्चिद् भूतावेशन्यायेन तच्छरीरपरिग्रहे जगदप्यावेशेनैव प्रवर्तयेत्

[योगी जनों द्वारा कायव्यूह की उपपत्ति]

अब इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि 'यदि तत्तत् पुरुषीय प्रयत्न के प्रति तत्तत् पुरुषीय शरीर कारण है तब जब कोई योगी विभिन्न शरीरों से भोक्तव्य कर्मों को एक साथ ही भोग द्वारा समाप्त कर देने के लिये विभिन्न शरीरों की रचना करता है तो उस योगी में विभिन्न शरीरावच्छेदेन प्रयत्न कैसे उत्पन्न होगा ? क्योंकि उस योगी को प्रारब्ध कर्म से जो शरीर प्राप्त रहता है वही उसका शरीर होता है। अत एव उसी शरीर के द्वारा उस से प्रयत्न होना उचित है'-किन्तु यह प्रश्न उचित नहीं है क्योंकि जैसे उस का मातापितृजशरीर उस के अदृष्ट से उसे उपलब्ध होता है उसी प्रकार संपूर्ण कर्मों का एक साथ भोग करने के लिये वह स्वयं जिन विभिन्न शरीरों की रचना करता है वे शरीर भी उसी के योगज अदृष्ट से उसे उपलब्ध होते हैं। अतः मातापितृज शरीर के साथ वे शरीर भी उसी के शरीर है अतः तत्पुरुषीयप्रयत्न के प्रति तत्पुरुषीयशरीर-तत्पुरुषीय अदृष्टाकृष्ट शरीर को कारण मानने पर स्वनिर्मित कायव्यूह द्वारा योगी में प्रवृत्ति की अनुत्पत्ति नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि एक पुरुष के शरीर से अन्य पुरुष में प्रवृत्ति की उत्पत्ति के निवारणार्थ तत्तत् पुरुषीय प्रयत्न में तत्तत् पुरुषीय शरीर को कारण मानना आवश्यक है। और जो शरीर जिस पुरुष के अदृष्ट से उत्पन्न होता है वही उस पुरुष का शरीर होता है। चैत्रादि का शरीर भूतात्मा के अदृष्ट से उत्पन्न नहीं होता। अत एव वह भूतात्मा का शरीर नहीं कहा जा सकता और सृष्टि के आरम्भ में जो प्रयोज्य-प्रयोजक आदि शरीर उत्पन्न होता है वह ईश्वर के अदृष्ट से उत्पन्न नहीं होता अत वह ईश्वर का शरीर नहीं कहा जा सकता। अतः तत्तद् शरीरगत आवेश को तत्तत् शरीरावच्छेदेन प्रयत्नवत्स्वरूप मानने पर न्याय मत में भूतावेश और ईश्वरावेश की उपपत्ति नहीं हो सकती । किन्तु आर्हत मत में उक्तरूप से भूतावेश की उपपत्ति हो सकती है और ईश्वरावेश की उपपत्ति की चिन्ता आर्हतों को हो ही नहीं सकती क्योंकि उन्हें ईश्वरावेश मानने की आवश्यकता नहीं है।

(आवेश से प्रवृत्ति, वेदादिरचना की व्यर्थता)

सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा सम्प्रदाय प्रवर्तन की जो उपपत्ति बताई गई है उस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय हो जाता है कि—

यदि यह मान भी लिया जाय कि भूतावेश के समान सृष्टि के आरम्भ में कुछ शरीरों में ईश्वरावेश होता है और उस आवेश के कारण उन शरीरों द्वारा ईश्वर तत्तत्सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता हे तो इस प्रश्न का क्या समाधान होगा कि–'वह कतिपय शरीरों में आवेश द्वारा जैसे सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है वैसे आवेश द्वारा ही समुचे जगत् का भी प्रवर्तन क्यों नहीं कर देता ? अर्थात् यह क्यों न मान लिया जाय कि जगत् में जिस किसी में जो क्रिया होती है वह उस में ईश्वर का आवेश होने के कारण ही होती है, मनुष्य के विभिन्न शरीरों द्वारा जो वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान होता है वह उन शरीरों में ईश्वर के आवेश से ही होता है। इस बात का सङ्केत गीता-आदि के कुछ वचनों से भी मिलता है। जैसे 'ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशे अर्जुन ? तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढाणि मायया' ।। एवं- जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' ।। इस प्रकार ईश्वरावेश से ही जगत् की सम्पूर्ण प्रवृत्तियां निष्पन्न हो सकती है। अतः ईश्वर द्वारा वेदशास्त्रादि की रचना मानना निरर्थक है।

इति व्यर्थमस्य वेदादिप्रणयनम् । 'कर्मवदस्याऽपि दृष्टेष्टाऽनतिलङ्घनेनैव प्रवर्तकत्वाद् नानुपपत्तिरि'ति चेत् ! तर्हि परप्रवृत्तये वाक्यमुपदिशन् स्वेष्टसाधनताज्ञानादिकमपि कथमतिपतेत् ? कथं वा चेष्टात्वावच्छिन्ने विलक्षणयत्नत्वेन हेतुत्वात् तदवच्छिन्नस्य विजातीयमनःसंयोगादिजन्यत्वात् तादृशप्रयत्नं विना ब्रह्मादिशरीरचेष्टा ? 'विलक्षणचेष्टायां विलक्षणप्रयत्नस्य हेतुत्वात् अत्रेश्वरीययत्न एव हेतुरि'ति चेत् ? तर्हि तस्य सर्वत्राऽविशिष्टत्वात् सर्वत्रापीश्वरचेष्टापत्तिः । 'विलक्षणचेष्टावच्छिन्नविशेष्यतया तत्प्रयत्नस्य हेतुत्वाद् नातिप्रसङ्ग' इति चेत् ? तर्हि चेष्टावैलक्षण्यसिद्धौ तथाहेतुत्वम्, तथाहेतुत्वे च तद्वैलक्षण्यमिति परस्पराश्रयः ।

इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-'जैसे आर्हत मत में कर्म ही सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का मूल कारण होता है किन्तु वह सीधे उन प्रवृत्तियों का जनक न होकर जिस दृष्ट-इष्ट कारण से प्रवृत्तियों का होना लोक में देखा जाता है उस के द्वारा ही उसे उन प्रवृत्तियों का जनक माना जाता है। इसीलिये कर्म और प्रवृत्तियों के बीच दृष्ट इष्ट तत्तत् कारणों की भी अपेक्षा होती है। उसी प्रकार ईश्वर यद्यपि जगत की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का कारण है किन्तु वह भी लोक में जिस प्रवृत्तियों का जिस दृष्ट-इष्ट कारण से उदय होना देखा जाता है उनके द्वारा ही उन प्रवृत्ति का कारण होता है। अतः वेदादि के द्वारा लोक प्रवृत्ति के सम्पादनार्थ उसे वेदादि की रचना करनी पडती है। अतः वेदादि की रचना को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि वह दूसरों की प्रवृत्ति के लिये वाक्य का उपदेश इसलिये करता है कि वाक्य द्वारा ही पर का प्रवर्तन लोक में दृष्ट है तब तो उसे अपने इष्टसाधनताज्ञानादि की भी अपेक्षा करनी चाहिये क्योंकि यह भी लोक में देखा जाता है कि मनुष्य जिस कर्म को दूसरे द्वारा कराने में अपना इष्ट समझता है उसी कर्म में दूसरे को प्रवृत्त करता हैं। अतः ईश्वर को भी इसीप्रकार दूसरों का प्रवर्तन करना चाहिये। किन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर संसारी मनुष्यों से श्रेष्ठ न हो सकेगा। क्योंकि संसारी मनुष्य के समान वह भी अपूर्ण होगा और जिस वस्तु की उसे कमी होगी उसे पाने की वह इच्छा करेगा और उस की प्राप्ति जिस मनुष्य को क्रिया से संभवित होगी उस मनुष्य को उस क्रिया में प्रवृत्त करेगा।

[ब्रह्मादि देवता के शरीर में चेष्टा कैसे ?]

इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि-ब्रह्मादि देवताओं के शरीरों में चेष्टा कैसे उत्पन्न हो सकती हैं और चेष्टा उत्पन्न न होने पर उनके द्वारा सृष्टि का निर्माण-रक्षण और संहार आदि कार्य किस प्रकार हो सकेगा ? ब्रह्मा आदि शरीरों में चेष्टा नहो सकने का कारण यह है कि चेष्टा के प्रति विलक्षण प्रयत्न कारण होता है और विलक्षण प्रयत्न के प्रति विलक्षण आत्ममन संयोगादि कारण होता है, ब्रह्मा आदि में विलक्षण आत्ममनःसंयोग न होने से विलक्षणप्रयत्न नहीं हो सकता है । और विलक्षण प्रयत्न के अभाव में ब्रह्मा आदि के शरीर में चेष्टा नहीं हो सकती है। यदि यह कहें कि —'विलक्षणप्रयत्न विलक्षणचेष्टा का कारण होता हैं अतः विलक्षणप्रयत्न से होनेवाली विलक्षणचेष्टा ब्रह्मा आदि के शरीर में भले न हो किन्तु ईश्वर प्रयत्न से चेष्टा होने में कोई बाधा नहीं हो सकती'-

किञ्च, स्वाधिष्ठातरि भोगाऽजनकशरीरसंपादनमपि तस्यैश्वर्यमात्रमेव, इति दृष्टविरोधेनैव जगत्प्रवृत्तिरायाता। एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तम्-

तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर का प्रयत्न स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से जैसे ब्रह्मा आदि शरीर में रहेगा उसी प्रकार अन्य सभी शरीरों और मूर्त द्रव्यों में भी रहेगा, अतः ईश्वरप्रयत्न को उक्त सम्बन्ध से चेष्टा का कारण मानने पर केवल ब्रह्मादि शरीरों में ही उस से चेष्टा की उत्पत्ति न होगी अपितु अन्य सभी शरीरों में भी चेष्टा की आपत्ति होगी।

[ब्रह्मादिशरीरचेष्टा की उपपत्ति का व्यर्थ प्रयास]

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-"जैसे जीव के विलक्षणप्रयत्न से विलक्षणचेष्टा की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ईश्वरप्रयत्न से भी विलक्षणचेष्टा की उत्पत्ति होती है और यह विलक्षण चेष्टा जीव के प्रयत्न से होने वाली विलक्षणचेष्टा से विलक्षण होती है और इस चेष्टा के प्रति ईश्वर प्रयत्न स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से कारण न होकर विलक्षण चेष्टात्वावच्छिन्न विशेष्यता सम्बन्ध से कारण होता है। यह विशेष्यता ब्रह्मा आदि शरीरों में होने वाली चेष्टाओं में ही रहती है अत एव ईश्वर प्रयत्न से उसी चेष्टा का जन्म होताहै अन्य चेष्टाओं का जन्म नहीं होता है,क्योंकि उक्त विशेष्यता सम्बन्ध से ईश्वरप्रयत्न को कारण मानने पर कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध तादात्म्य होता है और ब्रह्मादि शरीर में उत्पन्न होनेवाली विलक्षण चेष्टा का तादात्म्य उसी चेष्टा में होता है अन्य चेष्टाओं में नहीं होता है। वह चेष्टा ब्रह्मादि के शरीर में ही समवेत होती है अन्य शरीरों में नहीं क्योंकि समवाय सम्बन्ध से उस चेष्टा के प्रति ब्रह्मादि शरीर भोगानायतनशरीरत्व रूप से कारण होता है। ब्रह्मादि का शरीर किसी भोक्ता का शरीर नहीं होता किन्तु प्राणियों के अदृष्ट से उत्पन्न होने वाला ऐसा शरीर होता है जिस से किसी का भोग नहीं होता है किन्तु ईश्वर के प्रयत्न से चेष्टावान् होकर ईश्वर के कार्यों में सहायक होता है, प्राणियों के अदृष्ट से होनेवाले अन्य सभी शरीर प्राणियों के भोग का आयतन होते हैं अत एव उन मे भोगानायतनशरीरत्व नहीं रहता है, इसीलिए ब्रह्मादि के शरीर में ईश्वर प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली चेष्टा अन्य शरीरों में समवेत नहीं होती है।'—

तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जब यह सिद्ध हो जाय कि ब्रह्मादि के शरीर में होनेवाली चेष्टा अन्य चेष्टाओं से विलक्षण होती है तभी तादात्म्यसम्बन्ध से विलक्षण चेष्टा के प्रति विलक्षणचेष्टात्वावच्छिन्न विशेष्यता सम्बन्ध से ईश्वर प्रयत्न में कारणता सिद्ध हो सकती है और जब उक्त कारणता सिद्ध हो जाय तभी ईश्वर प्रयत्न से ब्रह्मादि शरीर में उत्पन्न होनेवाली चेष्टा में वैलक्षण्य सिद्ध हो सकता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष होने के कारण उक्त कार्यकारणभाव की कल्पना नहीं हो सकती।

(ईश्वरप्रवृत्ति में दृष्टविरोध की आपत्तियाँ)

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न कतिपय शरीरों में ईश्वरावेश द्वारा तत्तत् सम्प्रदायों का प्रवर्तन मानने में दृष्टविरोध का उल्लेख अभी किया जा चुका है। वह आपत्ति इस बात से और स्पष्ट हो जाती है कि ईश्वर ऐसे भी शरीर का निर्माण करता है जो अपने अधिष्ठाता में-अपने को सचेष्ट बनानेवाले पुरुष में भोग नहीं उत्पन्न करता है। ऐसे शरीर की रचना उस के एकमात्र ऐश्वर्य का ही सूचन करती है क्योंकि ऐसा कार्य जो लोकदृष्ट कार्यों से सर्वथा विचित्र हो निरंकुश ईश्वर के बिना

"हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा ।
तदभावात् प्रवृत्तिर्नो कर्मवादेऽप्ययं विधिः ॥१॥ (न्या. कु. ३-१८)
इति, कर्मणः कर्त्रादिसापेक्षत्वेनैव जगद्धेतुत्वात्" । समर्थितं च-
"धर्माऽधर्मौ विना नाङ्गं विनाऽङ्गेन मुखं कुतः ?
मुखाद् विना न वक्तृत्वं तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥" (वी.स्तोत्र ७-१) इति ।
शरीरस्य स्वोपात्तनामकर्महेतुत्वात् , तद्वैचित्र्येण तद्वैचित्र्यात्, अन्यथाऽङ्गोपाङ्गवर्णादिप्रतिनियमानुपपत्तेरिति, अन्यत्र विस्तरः । तस्माद् मायाविवत् समयग्राहकत्वम्,

---

नहीं हो सकता और जब लोकदृष्ट के विपरीत भी करना ही है तो वह अपने आवेश द्वारा ही जगत् की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को सम्पन्न कर सकता है । अतः उस के द्वारा वेद आदि की रचना का निरर्थक होना निर्विवाद है ।

इसी से उस कथन की भी निस्सारता समज लेनी चाहिए जो उदयनआचार्य की कुसुमाञ्जलि में-'हेत्वभावे फलाभावात्' इस कारीका से कहा गया है । कहने का तात्पर्य यह है कि उस कारिका में जो यह बात कही गई है कि-'कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है' यह सामान्य नियम है, प्रमाण प्रमा का कारण होता है, अतः उस के अभाव में प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रमा के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अत एव लोकप्रवृत्ति के लिए प्रमा को उपस्थापित करने के हेतु वेद आदि प्रमाण की रचना आवश्यक है । यह प्रक्रिया कर्मवाद में भी आवश्यक है क्योंकि कर्म भी स्वयं अकेले किसी कार्य को उत्पन्न न करके लोकसिद्ध कारणों द्वारा ही उत्पन्न करता है अत एव उसे भी कार्य के लोकसिद्ध कारण का संपादन करना पडता है । क्योंकि कर्म भी कर्ता आदि की अपेक्षा से ही जगत् का हेतु होता है ।'-कारिका का यह कथन उक्तयुक्ति से निस्सार हो जाता है, क्योंकि ईश्वर को जगत् कर्ता मानने पर उसे अपने अधिष्ठाता में भोग न उत्पन्न करने वाले शरीर का निर्माता मानना पडता है-जो दृष्टविरुद्ध है अत उसी के समान दृष्टविरुद्ध अन्य कार्यों के सम्भव होने से वेद आदि की रचना का वैयर्थ्य प्रसक्त होता है । कर्मवाद में उक्तरीति से लोकदृष्टि से विरुद्ध कोई कल्पना नहीं करनी पडती है । वीतरागस्तोत्र के श्लोक से इस बात का समर्थन यह कह कर भी किया गया है कि-धर्म और अधर्म के बिना शरीर नहीं उत्पन्न हो सकता, शरीर के विना मुख नहीं हो सकता, तथा मुख के विना वक्तृत्व नहीं हो सकता ।' इसलिये अन्य लोग जो दृष्टविपरीत कल्पना करने के व्यसनी नहीं होते वे अैसे ईश्वर के अस्तित्व के उपदेष्टा कैसे हो सकते है जो विना मुख के ही महान् वेदराशि का उच्चारण कर डालता है ? अतः यह वस्तुस्थिति बुद्धिमान मनुष्यों को मान्य होनी चाहिये कि जोव को शरीर की प्राप्ति पूर्वोपार्जित शरीरनामकर्म के उदय से ही होती है और उस के वैचित्र्य से शरीर में वैचित्र्य होता है । अन्यथा एकजातीय ही शरीर में अङ्गोपाङ्ग-वर्णादिपरिवार की नियत व्यवस्था नहीं हो सकती । इस विषय का विस्तृत विचार ग्रन्थान्तर में दृष्टव्य है ।

उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष यह है कि ईश्वर को मायावी के समान समय अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध स्वरूप संकेत का ग्राहक बताना एवं घटपटादि की निर्माणपरम्परारूप सम्प्रदाय का प्रवतक कहना भी एक प्रकार की मायाविता ही है । अर्थात् कोई मायावी विद्याधर ही ऐसे ईश्वर को शब्दार्थ-

घटादिसंप्रदायप्रवर्तकत्वं च पराभिमतेश्वरस्य मायाविताभेव विद्याधरविशेषस्य व्यञ्जयति। पितुरिव पुत्रादेर्युगादौ युगादीशस्य जगतः शिक्षया तु तथात्वं युक्तिमत्, स्वभावत एव तीर्थकृतां परोपकारित्वात्। अत एव 'कुलालेभ्यो नमः' इत्याद्या श्रुतिः संगच्छत इति युक्तं पश्यामः। अनुमानेऽपि सिद्धसाधनं बोध्यम्।

प्रत्ययादिना तु वेदप्रामाण्यवादिनामाप्त-तद्वक्तृसिद्धावपि नेश्वरसिद्धिः, इति किमिह तदुपन्यासेन ? एतेन कार्यादिपदानामर्थान्तरमपि प्रयासमात्रम्। 'जन्यतत्प्रमासामान्ये तत्प्रमात्वेन गुणतया हेतुत्वात्, आद्यप्रमाजनकप्रमाश्रयतयेश्वरसिद्धिः' इति तु मूढानां वचः, घटत्वादिमद्वृत्तिविशेष्यतया तत्र घटत्वादिविषयत्वेनैव हेतुतया, संस्कारेणैव घटत्वादिसंबन्धहेतुतयैव वा तत्रापि निर्वाहात्, अस्माकं तु सम्यग्दर्शनस्यैव गुणत्वात्।

सम्बन्ध का ग्राहक और घटादि पदार्थ के व्यवहार का प्रवर्तक कह सकता है जो करचरणमुखकर्ण आदि से विहीन और अशरीरी होने से वस्तुतः कुछ भी करने में असमर्थ है। हां, यह युक्तिसङ्गत अवश्य हो सकता है कि जैसे पिता अपने पुत्र को शिक्षा देता है उसी प्रकार युगादि में प्रारम्भिक युग का ईश प्रथमतीर्थंकर जगत को शिक्षा देकर तत्तत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है क्योंकि तीर्थंकर ही युगादीश होते है और वह स्वभाव से ही सर्व जीवों का हितेच्छु होने से उन्हें उपदेश देते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर भी युगादि में विना किसी निजी प्रयोजन के केवल स्वभाववश प्रजा को उपदेश देते हैं। इस प्रकार 'नमः कुलालेभ्यः' आदि श्रुतियां भी सङ्गत हो सकती है। और इसी कारण तत्तत्संप्रदाय के स्वतंत्र प्रवर्तक के अनुमान में सिद्धसाधन दोष भी हो सकता है क्योंकि प्रत्येक युगादि में उस युगका आदि तीर्थंकर तत्तत्संप्रदाय के प्रवर्तक रूप से सिद्ध है।

[प्रत्ययादि प्रमाणों की निरर्थकता]

प्रत्यय=प्रमा, श्रुति=वेद और वाक्य द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जो वेद को प्रमाण मानते हैं उन के मत में प्रमा-वेद और वाक्य से होने वाले अनुमानों से वेदार्थ के प्रमाता वेदकर्ता की सिद्धि हो सकती है किन्तु 'वह ईश्वर है' यह बात उन अनुमानों से नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि ईश्वर को सर्वकर्ता माना जाता है। और वे अनुमान जिस पुरुष को सिद्ध करते हैं उस की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को सिद्ध करने में उदासीन है। इसीलिये कार्य आयोजनादि पदों का अन्य अर्थ कर के जिन अनेक अनुमानों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है उन अनुमानों से भी सर्वज्ञ सर्वकर्ता ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वे अनुमान भी जिस पुरुष का साधन कर पाते हैं उसे वेद वेदार्थविषयकतात्पर्य का धारक, यागादि का अनुष्ठाता, प्रणवादि पदों का बोध्य, वेदस्थ अहं पद का स्वतंत्र उच्चारण कर्ता, आदि ही सिद्ध कर पाते हैं किन्तु उस की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता प्रमाणित करने में वे सर्वथा असमर्थ रहते हैं। इसलिये कार्य आयोजन इत्यादि पदों के पूर्वोक्त अन्य अर्थों की कल्पना कर के अनुमान करने का प्रयास ही ईश्वर सिद्धि की दृष्टि से निरर्थक कष्टमात्र ही है।

कुछ लोग ईश्वर को सिद्ध करने के लिये इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग करते हैं कि 'विशेष्यतासम्बन्ध से जन्य तत्प्रकारकप्रमासामान्य में विशेष्यता सम्बन्ध से तत्प्रकारक प्रमा गुणविधया कारण

है। 'गुणविधया कारण' का अर्थ यह है कि 'गुण' इस प्रशंसा सूचक शब्द से व्यवहृत होनेवाला कारण। प्रमा अपने विषय का अव्यभिचारी ज्ञान होता है। उस से मनुष्य को धोखा नहीं होता। इसलिये उस के कारण को प्रशंसा बोधक गुण शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस कार्यकारण भाव का अभिप्राय यह है कि प्रमा उसी विषय की होती है जिस विषय की प्रमा कभी पहले हुई रहती है। और जो विषय पहले कभी नहीं प्रमित रहता उस की प्रमा नहीं होती। इसलिये असत् पदार्थ की प्रमा कभी नहीं हो सकती क्योंकि उस की प्रमा पहले कभी हुई रहती नहीं है। इस कार्यकारण भाव से ईश्वर की सिद्धि इस अनुमान से होती है कि 'सृष्टि के आरम्भ में होनेवाली पहली जन्यप्रमा अपने समान विषयक प्रमा से जन्य है क्योंकि वह प्रमा है। जो भी प्रमा होती है वह समानविषयक प्रमा से जन्य होती है जैसे बाद में होनेवाली घटत्वादि की प्रमा पूर्व में होने वाली घटत्वादि प्रमा से उत्पन्न होती है'। इस अनुमान से आद्यप्रमा की जनक कोई ऐसी प्रमा माननी होगी जिस को समानविषयक अन्य-प्रमा की आवश्यकता न हो और वह तब ही हो सकता है जब वह प्रमा नित्य हो। इस प्रकार की प्रमा सिद्ध हो जाने पर उस के आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि अनिवार्य हो जाती है।

व्याख्याकार श्री यशोविजयजी महाराज ईश्वर सिद्धि के सम्बन्ध में इस कथन को मूढकथन सूचित करते है। क्योंकि उनकी दृष्टि में 'जन्य तत्प्रकारक प्रमा सामान्य में तत्प्रकारक प्रमा कारण है' यह कार्यकारणभाव ही अनावश्यक है। उन का कहना है कि घटभिन्न में घटत्व प्रकारक प्रमा की आपत्ति का वारण करने के लिये नैयायिक को घटवृत्तिविशेष्यता सम्बन्ध से घटत्वप्रकारकप्रमा के प्रति घटत्व को ही समवाय सम्बन्ध मे कारण मान लेना चाहिये। अथवा घटत्वप्रकारक प्रमा को ही संस्कार द्वारा कारण मान लेना चाहीये किंवा घटत्वसमवाय को स्वरूप सम्बन्ध से कारण मान लेना चाहीये। प्रथम और तृतीय पक्ष में प्रमा की उत्पत्ति में प्रमा की अपेक्षा ही नहीं होती। अतः आद्य प्रमा के लिये ईश्वरीय प्रमा की सिद्धि नहीं हो सकती। और द्वितीय पक्ष में प्रमा की उत्पत्ति में प्रमा की अपेक्षा होने पर भी उस के स्वयं रहने की अपेक्षा नहीं होती किन्तु उस से उत्पादित संस्कार की अपेक्षा होती है। अतः उस पक्ष में भी आद्य प्रमा के लिये ईश्वरीय प्रमा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी उत्पत्ति पूर्वसर्ग की प्रमा से उत्पादित संस्कार द्वारा हो सकती है। यद्यपि यह द्वितीयपक्षीय कार्य-कारणभाव उचित नहीं नहीं हो सकता क्योंकि उस पक्ष में संस्कारजन्य होने से प्रमा मात्र में स्मृतित्व की आपत्ति होगी प्रथम पक्षमें घटत्व को कारण मानने पर घटत्वत्वको कारणतावच्छेदक मानना पडेगा और घटत्वत्व घटेतराऽसमवेतत्वे सति सकलघटसमवेतत्वरूप है अतः घटत्व को कारण मानने में गौरव होगा। अत एव प्रथम कार्यकारणभाव भी उचित नहीं हो सकता। किन्तु तृतीय पक्ष ही उचित हो सकता हैं क्योंकि घटत्व समवाय को कारण मानने पर समवायत्व और घटत्व दो धर्म कारणता के अवच्छेदक होगे। उन में समवायत्व अखण्ड उपाधि है और घटत्व समवायसम्बन्ध से अनुल्लिख्यमान होने के कारण स्वरूपतः कारणतावच्छेदक होगा। इसलिये घटत्व समवाय को कारण मानने में गौरव नहीं होगा। इस प्रकार इस कार्यकारण भाव से ही घटभिन्न में घटत्व प्रकारक प्रमा की आपत्ति का वारण हो जायगा। अतः तत्प्रकारक जन्यप्रमा सामान्य में तत्प्रकारक प्रमा को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है श्रीयशोविजयजी महाराज ने इस प्रसङ्ग में यह भी कहा है कि आर्हतों के मत में तो उक्त प्रकार के कार्यकारण भावों की कल्पना के प्रपञ्च में पडने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि उस मत में सम्यग् दर्शन ही प्रमा का गुणविधया कारण होता है। घटभिन्न में घट-

संख्याविशेषादपि नेश्वरसिद्धिः, तत्रापि लौकिकापेक्षाबुद्धेरेव तद्धेतुत्वात् । ममाप्यपेक्षाबुद्धेरेव तथाव्यवहारनिमित्तत्वात् तज्जन्यातिरिक्तसंख्याऽसिद्धेः । परिमाणेऽपि संघातभेदादिकृतद्रव्यपरिणामविशेषरूपे संख्याया अहेतुत्वाच्च । द्वि-कपालात् त्रि-कपालघटपरिमाणोत्कर्षस्य दलोत्कर्षादेवोपपत्तेरिति । तत्त्वमत्रत्यमार्हतवार्तायां विवेचयिष्यते ।

तस्माद् नेश्वरसिद्धौ किमपि साधीयः प्रमाणम् , नवा तदभ्युपगमेनापि तस्य सर्वज्ञत्वम् , उपादानमात्रज्ञानसिद्धावप्यतिरिक्तज्ञानाऽसिद्धेः, कारणाभावात् , मानाभावाच्चेति दिग् ॥९॥

त्वप्रकारक सम्यग् दर्शन नहीं होता, अतः घटभिन्न में घटत्वप्रकारक प्रमा की आपत्ति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद होने से प्रमा के प्रति सम्यग्दर्शन की कारणता का पर्यवसान तत्प्रकारक प्रमा के प्रति तत्प्रकारक प्रमा की कारणता में नहीं हो सकता।

[अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि व्यवहार की उपपत्ति]

संख्याविशेष से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि न्यायमत में भी लौकिक अपेक्षाबुद्धि में ही द्वित्वादि संख्या की कारणता सिद्ध है। ईश्वर को लौकिक अपेक्षाबुद्धि नहीं होती, क्योंकि ईश्वर की बुद्धि नित्य मानी जाती है। और लौकिकबुद्धि वही कहलाती है जो इन्द्रिय के लौकिक संनिकर्ष से उत्पन्न हो। अतः यह कहना कि-'द्वयणुक में परिमाण की उत्पत्ति परमाणु में एकत्व की ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि से होती है' यह उचित नहीं हो सकता। आर्हत मत में तो अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति मान्य ही नहीं है। क्योंकि उस मत में अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्वादि के व्यवहार की उपपत्ति कर ली जाती है। तात्पर्य यह है कि न्यायमत में जिस अपेक्षाबुद्धि को द्वित्वादि-संख्या का जनक माना जाता है, आर्हत मत में वह अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्वादि के व्यवहार में कारण होती है। तात्पर्य, द्वित्वादि व्यवहार को ही द्वित्वके स्थान में अभिषिक्त करदिया जाता है। उसी से द्वित्व का व्यवहार हो जाता है। अतः उस से अतिरिक्त द्वित्व संख्या की उत्पत्ति मानकर उसके द्वारा द्वित्वव्यवहार के उपपादन का प्रयास अनावश्यक है। अतः आर्हतमत में द्वित्वादिनाम की कोई संख्या न होने से जैन के प्रति द्वित्व संख्या द्वारा ईश्वरानुमान का प्रयोग संभव ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रयोग आश्रयासिद्धि से ग्रस्त हो जायगा। आर्हत मत में परिमाण के उत्पादनार्थ भी द्वित्वादि संख्या की कल्पना नहीं की जाती, क्योंकि आर्हत मत में द्रव्य का परिमाण सङ्घात-भेद से निष्पन्न होता है। उस में संख्या की अपेक्षा नहीं होती। द्विकपालक घट के परिमाण की अपेक्षा त्रिकपालक घट के परिमाण में जो उत्कर्ष होता है वह भी कपाल के संख्याधिक्य से नहीं होता बल्कि द्विकपालकसङ्घात से त्रिकपालकसङ्घात के उत्कर्ष से होता है। व्याख्याकार का कहना है कि इस विषय का तात्त्विक विवेचन आर्हत वार्ता के प्रसंग में किया जायगा। इन समस्त विचारों का निष्कर्ष यही है कि ईश्वर की सिद्धि में कोई उचित प्रमाण नहीं है और यदि पूर्वप्रदर्शित प्रमाणों के आधार पर ईश्वर को स्वीकार कर लिया जाय तो भी उन प्रमाणों से उनकी सर्वज्ञता नहीं सिद्ध हो सकती, जैसे कि पूर्वोक्त अनुमानों में प्रथम अनुमान से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध किया जाता है, और कर्ता के लिये उपादान कारणों के ज्ञानमात्र की आवश्यकता होती है। अतः उक्तानुमान से

''संतुष्य नैयायिकमुख्य ! तस्मादस्माकमेवाऽऽश्रय पक्षमग्रयम् ।
तवोच्चकैरीश्वरकर्तृताया मनोरथं संप्रति पूरयामः ॥१॥
नयैः परानप्यनुकूलवृत्तौ प्रवर्तयत्येव जिनो विनोदे ।
उक्तानुवादेन पिता हितात् किं बालस्य नाऽऽलस्यमपाकरोति ? ॥२॥''

तदिदमाह—

ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
सम्यग्न्यायाऽविरोधेन यथाहुः शुद्धबुद्धयः ॥१०॥

ततश्च पातञ्जल-नैयायिकमतनिरासाच्च, अयं=तथाविधलोकप्रसिद्धः - ईश्वरकर्तृत्व-वादः, परम्-उक्तविपरीतरीत्या, सम्यग्न्यायाऽविरोधेन=प्रतितर्काप्रतिहततर्कानुसारेण युज्यते, यथा शुद्धबुद्धयः=सिद्धान्तोपबृंहितमतयः परमर्षय आहुः ॥१०॥

तद्वचनमेवाऽनुवदति—

जगत् के उपादान कारणों का ही ज्ञान सिद्ध हो सकता है, उपादानसे भिन्न पदार्थों का ज्ञान नहीं सिद्ध हो सकता है । क्योंकि न उस के लिये कोई कारण है, न उस के लिये कोई प्रमाण ही है ।।६।।

व्याख्याकार श्री यशोविजयजी महाराज ने न्यायदर्शन की पद्धति से ईश्वर के कर्तृत्व का पूर्णतया निराकरण कर देने के बाद नैयायिक सर्वथा हताश न हो इस लिए बड़े सुन्दर ढंग से नैयायिक को यह कहते हुए आश्वासन दिया है कि नैयायिक को उक्त रीति से ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन कर देने पर भी दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उस की संतुष्टि का औषध अब भी बना हुआ है । उसे केवल इतना ही करने की आवश्यकता है कि वह ईश्वर के कर्तृत्व को सिद्ध करने को अपनो पद्धति का मोह छोडकर हम आर्हतों की श्रेष्ठ पद्धति को स्वीकार कर ले । क्योंकि अपनी आर्हत पद्धति से हम ईश्वर को कर्ता सिद्ध करके उस के महान मनोरथ की पूर्ति कर सकते हैं । आर्हतों का यह मत है कि भगवान जिनेश्वर देव नयों के माध्यम से अन्य मतों को भी अनुकूल=संगत अर्थ में प्रवाहित करके प्रतिवादी को संतुष्ट करते हैं । और यह उन के लिये उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे पिता बालक का हित करने की बुद्धि से उक्त का अनुवाद अर्थात् पुनः पुनः प्रेरक वचन का प्रयोग कर के उसके प्रमाद को दूर करता है ।

(ईश्वरकर्तृत्ववाद का कथंचित् औचित्य)

४ से नव कारिका में प्रतिवादी की शैलीका निराकरण करके अब दसवी कारिका में जैन दर्शन को शैली से ईश्वर कर्तृत्व का समर्थन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

पातञ्जल और नैयायिक को अभिप्रेत रीति से ईश्वर की कर्तृता का खंडन हो जाने पर अगर नैयायिकादि लोकों में प्रसिद्ध ईश्वर कर्तृत्व का समर्थन करना है तब पातञ्जल-नैयायिक ने जो प्रणाली अपनायी थी उससे विपरीत जैन प्रणाली के अनुसार विपरीत तर्क से बाधित न होवे ऐसी युक्तियों से उसको संगति कर सकते हैं—जैसा कि शुद्ध यानी सिद्धान्त से परिकर्मित बुद्धि वाले परम ऋषियों ने कहा है—

मूलम्-ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणभावतः ॥११॥

ईश्वरः परमात्मैव=कायादेर्बहिरात्मनो ध्यातुर्भिन्नत्वेन ज्ञेयादन्तरात्मनश्च तदधिष्ठायकस्य ध्यातुर्ध्येयैकस्वभावत्वेन भिन्नोऽनन्तज्ञान-दर्शनसंपदुपेतो वीतराग एव। अन्ये तु 'मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा । तत्र व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मा अन्तरात्मा च, व्यक्त्याऽन्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा, भूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा तु भूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मा अन्तरात्मा च' इत्याहुः । **तदुक्तव्रतसेवनात्**-परमाप्तप्रणीतागमविहितसंयमपालनात्, यतो मुक्तिः कर्मक्षयरूपा, भवति, ततस्तस्या **गुणभावतः**=राजादिवदप्रसादाभावेऽप्यचिन्त्यचिन्तामणिवद् वस्तुस्वभावबलात् फलदोपासनाकत्वेनोपचारात्, कर्ता स्यात् ।

(आज्ञापालन द्वारा ईश्वरकर्तृत्व)

११ वीं कारिका में जैन ऋषियों के उन वचन का ही अनुवाद है जिन का संकेत पूर्वकारिका में किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

परमात्मा ही ईश्वर है । परमात्मा का अर्थ है वह वीतराग पुरुष जो अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है, और जो कायादि के अधिष्ठायक ध्याता अन्तरात्मा के लिये स्वभिन्न रूप से ज्ञेयस्वरूप बहिरात्मा से भिन्न होता है और ध्याता अन्तरात्मा के लिये एकमात्र ध्येयस्वरूप होने से भिन्न होता है । आशय यह है कि आत्मा के ही तीन स्वरूप समझा जा सकता है बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । बहिरात्मा का अर्थ है कायादि में ही आत्मबुद्धि रखनेवाली व्यक्ति । अन्तरात्मा उसे कहा जाता है जो अपने को कायादि से भिन्न और कायादि का अधिष्ठाता समझता है, किन्तु वह रागादि से ग्रस्त होता है । परमात्मा उन दोनों से भिन्न और वीतराग होता है । यह वीतराग परमात्मा ही ईश्वर है । कुछ अन्य आचार्यों ने इन तीनों आत्माओं का परिचय देते हुए यह कहा है कि-बहिरात्मा वह है जो मिथ्यादर्शनादि भावों में परिणत हो । और अन्तरात्मा उसे कहा जाता है जो सम्यग्दर्शनादि भावों में परिणत हो । और परमात्मा उसे कहा जाता है जो केवलज्ञानादि से सम्पन्न हो ।

इन तीनों में ऐकान्तिक भेद नहीं है । जो व्यक्तिरूप में बाह्यात्मा होता है वह भी शक्ति=प्रच्छन्न रूप में अन्तरात्मा और परमातमा भी होता है । और जो व्यक्ति रूप में अन्तरात्मा होता है वह शक्तिरूप में परमात्मा और भूतपूर्वदृष्टि से बाह्यात्मा होता है । एवं जो व्यक्ति रूप में परमात्मा होता है वह भूतपूर्वदृष्टि से बाह्यात्मा और अन्तरात्मा भी होता है ।

परमात्मा द्वारा उपदिष्ट आगमों में जिस संयमधर्म का वर्णन है उस के पालन से मुक्ति होती है, मुक्ति का अर्थ है समग्र कर्मों का क्षय । इस मुक्ति का आदिमूल परमात्मा का उपदेश ही होता है इसलिए ही परमात्मा को उपचार से उन का कर्ता कहा जाता है । आशय यह है कि राजा आदि का

अत एव भगवन्तमुद्दिश्याऽऽरोग्यादिप्रार्थना । सार्थका-ऽनर्थकचिन्तायां तु भाज्यमेतत्, चतुर्थभाषारूपत्वात्, इति ग्रन्थकृतैव ललितविस्तरायामुक्तम् । अप्रार्थनीये कर्तरि प्रार्थनाया विधिपालनबलेन शुभाध्यवसायमात्रफलत्वादिति निगर्वः ॥११॥

अस्त्वेवं मुक्तिकर्तृत्वम्, भवकर्तृत्वं तु कथ ?. अत आह—

मूलम्-तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥१२॥

तदनासेवनात्=तदुक्तव्रताऽपालनादेव, यत्=यस्मात्, तत्त्वतः=परमार्थतः, संसारोऽपि जीवस्य भवति, अविरतिमूलत्वात् तस्येति भावः, तेन हेतुना, तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानम्=स्वहेतुक्रियाविरुद्धविधिबोधितोपासनाकत्वपरेण कर्तृत्वपदेन बोध्यमानम्

जैसे प्रसाद होता है तो प्रसाद से नियमबद्ध रोष-अप्रासाद भी होता है जिस से वह अन्यों के अनुग्रह और निग्रह का कर्ता होता है, ऐसा रोष अप्रासाद परमात्मा में नहीं होता। तथापि जैसे चिन्तामणि में रोष और प्रसाद न होने पर भी स्वभाव से ही उससे मनुष्य के वांछित की सिद्धि होती है उसी प्रकार परमेश्वर की उपासना परमेश्वर वस्तु के सहज स्वभाववश मनुष्य के लिये फलप्रद होत है। इसलिए जैसे चिन्तामणी के सम्पर्क से वांछित की प्राप्ति होने से चिन्तामणी वांछित का दाता कहा जाता है उसीप्रकार परमात्मा को उपासना से विभिन्न फलों की प्राप्ति से वह विभिन्न फलों का दाता या कर्ता कहा जाता है। और इसलिये भगवान से आरोग्यादि की प्रार्थना भी की जाती है । वह प्रार्थना सार्थक होती है या निरर्थक होती है इस प्रश्न का उत्तर भजना-अपेक्षाभेद से दिया जा सकता है जो चतुर्थ भाषा के रूप में प्रस्तुत होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह समझा जाय कि प्रार्थना से परमात्मा प्रसन्न होकर आरोग्यादि को प्रदान करते हैं तो इस दृष्टि से प्रार्थना निरर्थक है । क्योंकि प्रार्थना से वीतराग परमात्मा के प्रसन्न होने की कल्पना असङ्गत है। और यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि परमात्मा की प्रार्थना में ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिस से आरोग्यादि की प्राप्ति होती है तो इस दृष्टि से प्रार्थना सार्थक है। इसलिये भगवान से आरोग्यादि की प्रार्थना सार्थक है या निरर्थक है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि प्रार्थना 'स्यात् सार्थिका, स्यात् अनर्थिका'। इस विषय को मूल ग्रन्थकार हरिभद्रसूरिजीने 'ललित विस्तरा' में स्पष्ट किया है। निष्कर्ष यह है कि कर्ता प्रार्थनीय न होने पर भी उसकी प्रार्थना का शास्त्र में विधान होने से उस का पालन आवश्यक होता है और उस पालन से शुभ अध्यवसाय की उपलब्धि होती है । इस रीति से शुभाध्यवसाय की उत्पादिका प्रार्थना का विषय होने के कारण परमात्मा को कर्ता कहा जाता है ॥११॥

भाषा ४ प्रकार की होती है-१ सत्यभाषा, २, असत्यभाषा, सत्यासत्य मिश्रभाषा ४ अ-सत्या सत्य (व्यवहार)भाषा। इन में से वीतराग के प्रति प्रार्थना, यह व्यवहार नाम की चतुर्थ भाषा स्वरूप है-न सत्य न असत्य, किन्तु लाभप्रद प्रशस्ति शब्दव्यवहार ।

न दुष्यति, "अङ्गुल्यग्रे करिशतम्" इत्यादिवद् यथाकथञ्चिदुपचारेण व्यवहारनिर्वाहादिति भावः ॥१२॥

नन्वीदृशकल्पनायां को गुणः ? इत्यत्राह-

मूलम्-कर्तायमिति तद्वाक्ये यतः केषाञ्चिदादरः ।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना ॥१३॥

'अयम्=ईश्वरः कर्ता' इति हेतोः तद्वाक्ये-ईश्वरवाक्ये सिद्धान्ते । 'अयं कर्ता' इति तद्वाक्ये प्रसिद्धवाक्ये वा, यतः **केषांचित्**=तथाविधभद्रकविनेयानाम्, **आदरः**-स्वरसवाहिश्रद्धात्मा भवति, **अतस्तदानुगुण्येन**=तथाविधविनेयश्रद्धाभिवृद्धये, **तस्य**=परमात्मनः **कर्तृत्वदेशना**=कर्तृत्वोपदेशः । श्रोतृभावाभिवृद्ध्यर्थो हि गुरोरुपदेशः, सा च कल्पितोदाहरणेनापि निर्वाह्यते, किं पुनरुपचारेण ? इति भावः ॥१३॥

[आज्ञाविलोपन द्वारा भवकर्तृता]

पूर्व कारिका में ईश्वर को मुक्ति कर्ता बताया गया है । और प्रस्तुत १२ वीं कारिका में वह जगत् का कर्ता कैसे होता है इस बात का प्रतिपादन किया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट व्रतों का सेवन न करने से ही जीव को वास्तवरूप में संसार की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसार का मूल अविरति है । और उस का प्रतियोगीविधया प्रयोजक है विरति आदि । अतः उक्तरीत्या संसार के प्रयोजक का उपदेष्टा होने से यदि ईश्वर में संसार के कर्तृत्व की कल्पना की जाय तो कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि संसार का यह कर्तृत्व संसारजनककृतिरूप वास्तविक कर्तृत्व नहीं है, अपितु औपचारिक कर्तृत्व है । अतः 'ईश्वर संसार का कर्ता है' इस का अर्थ है कि ईश्वर ऐसे व्रतों का उपदेष्टा है जिस का सेवन न करने से संसार बनता है । ईश्वर में संसारकर्तृत्व का यह औपचारिक व्यवहार उसी प्रकार उपपन्न किया जा सकता है जिसप्रकार 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्=अङ्गुल के अग्रभाग में सौ हाथी खडे है' यह व्यवहार अङ्गुली के अग्रभाग से सौ हाथी की गिनती होने के आधार पर उपपन्न किया जाता है ॥१२॥

(ईश्वर भक्ति में वृद्धि के लिये कर्तृत्व का उपदेश)

१३ वीं कारिका में इस जिज्ञासा का समाधान किया गया है कि ईश्वर में ससार के औपचारिक कर्तृत्व की कल्पना का क्या प्रयोजन है ? कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

कतिपय भद्रशील शिष्यों को ईश्वर के वचन में इसलिये आदर होता है कि वे 'ईश्वर कर्ता है' इस विश्वास से बद्ध होते है अथवा 'ईश्वर कर्ता है' इस प्रसिद्ध लोकोक्ति में उन की श्रद्धा होती है । अतः ऐसे शिष्यों को ईश्वर के प्रति श्रद्धा की अभिवृद्धि के अभिप्राय से परमात्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन आवश्यक होता है । आशय यह है कि श्रोता के भाव का संवर्धन ही गुरु के उपदेश का फल

साक्षादपि कर्तृत्वं समर्थयति–

मूलम्–परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव वेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥१४॥

परमैश्वर्ययुक्तत्वात्= निश्चयतो घनाऽऽवृतस्यापि रवेः प्रकाशस्वभावत्ववत् कर्माऽऽवृतस्याऽप्यात्मनः शुद्ध-बुद्धैकस्वभावत्वेनोत्कृष्टकेवलज्ञानाद्यतिशयशालित्वात् , आत्मैव=जीव एव वा, ईश्वरो मतः=ईश्वरपदेन संकेतितः । स च-जीवश्च कर्ता-साक्षात्कर्ता इति हेतोः, निर्दोषः-उपचारेणाऽप्यकलङ्कितः, कर्तृवादः-ईश्वरकर्तृत्वोपदेशः, व्यवस्थितः-प्रमाणसिद्धः । अत एव "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" इत्यादिका श्रुतिरप्युपपद्यते जीवस्य निश्चयतः सर्वज्ञत्वात् , अन्यथा रागाद्यावरणविलये तदाविर्भावानुपपत्तेः ।

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ॥
[गीता अ. १५ श्लो. १७] इत्यादिकमप्युपपद्यते, आवृतस्वरूपादनावृतस्वरूपस्य भिन्नत्वात् चैतन्यात्मकमहासामान्येन लोकत्रयावेशाद् ग्राह्याकारक्रोडीकृतत्वेन तद्धरणाच्च, इत्यादिरीत्या यथाऽऽगमं पराभिप्राय उपपादनीयः ॥१४॥

होता है। और यह कार्य जब कल्पित उदाहरण से भी सम्पन्न करना शास्त्रसम्मत है तब इस कार्य को उपचार द्वारा सम्पन्न करना युक्त ही है इस में क्या संदेह ? ।।१३।।

[आत्मा ही परमात्मा होने से निर्बाध कर्तृत्व]

पूर्व कारिका तक ईश्वर में कर्तृत्व का समर्थन उपचार द्वारा किया गया है किन्तु प्रस्तुत १४ वीं कारिका में ईश्वर के वास्तव कर्तृत्व का समर्थन किया जाता है ।। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

जिस प्रकार सूर्य मेघमण्डल से आच्छन्न होने पर भी निश्चय दृष्टि से स्वभावतः प्रकाशात्मक ही रहता है उसी प्रकार विविधकर्मों से आवृत भी आत्मा स्वभावतः शुद्धबुद्ध स्वरूप ही रहता है । अत एव उस समय भी उस में केवलज्ञानादि के अतिशय अक्षुण्ण रहते हैं । और आत्मा की यह शुद्धबुद्धता एवं केवलज्ञानादि के अतिशयों की संपन्नता ही जीव का परमैश्वर्य से सम्पन्न होना है और इस निश्चयदृष्टिसम्मत सार्वदिक परमैश्वर्य के कारण जीव को ही ईश्वर माना जाता है–एवं जीव निर्विवाद रूप से वास्तविक कर्ता है और जब जीव ही ईश्वर है, तो ईश्वर का वास्तव कर्तृत्व भी निर्विवाद है। अतः ईश्वरकर्तृत्ववाद निर्दोष अर्थात् अनौपचारिक रूप में प्रमाणसिद्ध है । जीव के निश्चय-दृष्टया सर्वज्ञ होने के कारण 'विश्वतश्चक्षुः उत विश्वतो मुखः' इत्यादि श्रुति द्वारा उसे सर्वदर्शी और सर्वोपदेष्टा आदि बताना भी उपपन्न हो जाता है । जीव को सार्वकालिक सर्वज्ञता स्वीकार करना परमावश्यक है क्योंकि यदि उस में सहज सर्वज्ञता न होगी तो रागादि आवरणों का विलय होने पर उस का आविर्भाव न हो सकेगा। गीता में परमात्मा को अन्य आत्माओं से भिन्न उत्तम पुरुष कहा गया है और तीनों लोक में आविष्ट होकर उन का शाश्वत धारक कहा गया है। गीता का यह कथन भी जीवेश्वरत्व पक्ष में निर्बाधरूप से उपपन्न हो सकता है, क्योंकि रागादि से आवृत आत्मस्वरूप से रागादि

यतः—

मूलम्–शास्त्रकारा महात्मानः प्रायो वीतस्पृहा भवे ।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्ताश्च कथं तेऽयुक्तभाषिणः ? ॥१५॥

शास्त्रकाराः प्रायः लोकायतादीन् परलोकाऽभीरून् विहाय, महात्मानः=धर्माभिमुखाः भवे=संसारे, वीतस्पृहाः=लोकमानख्याति-धनलिप्सादिरहिताः सत्त्वार्थसंप्रवृत्ताश्च=यथाबोधं परोपकारप्रवृत्ताश्च, अन्यथेदृशप्रवृत्त्ययोगतः, ततः कथं तेऽयुक्तभाषिणः-ज्ञात्वा विरुद्धभाषिणः ? विरोधः खलु जल–ज्वलनयोरिव परोपकारित्व-विरुद्धभाषित्वयोरिति भावः ॥१५॥

ततः किम् ? इत्याह—

मूलम्–अभिप्रायस्ततस्तेषां सम्यग् मृग्यो हितैषिणा ।
न्यायशास्त्राऽविरोधेन यथाह मनुरप्यदः ॥१६॥

ततः-अविरुद्धभाषित्वात्, तेषां-परोपकारार्थं प्रवृत्तानां शास्त्रकाराणाम्, अभिप्रायः शब्दतात्पर्यात्मा, सम्यग्=व्यासङ्गपरिहारेण, मृग्यः=उन्नेयः, हितैषिणा=मुमुक्षुणा, न्याय-

---

से अनावृत आत्मस्वरूप भिन्न कहकर उसे उत्तम पुरुष और परमात्मा कहना उचित ही है और चैतन्यरूप महासामान्य के द्वारा लोकत्रय में उस का आवेश और ग्राह्य आकार में लोकत्रय को अङ्कस्थित कर उन का भरण संभव होने से आवेश द्वारा उसे लोकत्रय का धारक कहना भी समीचीन ही है। इस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में जो नैयायिक का अभिप्राय है उस का समर्थन और उपपादन अपने शास्त्र की रीति से जीवेश्वरत्व पक्ष में भी किया जा सकता है ॥१४।

[निःस्पृह शास्त्रकार अयुक्तभाषी नहीं होते]

१५ वीं कारिका में उन सभी विद्वानों को विश्वसनीय बताया गया है जो परलोक के सम्बन्ध में भीरु होने के कारण अनुचित बात कहना नहीं चाहते। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

प्रायः सभी शास्त्रकार जो परलोक के सम्बन्ध में निर्भय रहनेवाले चार्वाकादि की श्रेणी में नहीं आते–महात्मा होते हैं। उन की सम्पूर्ण प्रवृत्ति धर्ममुखी होती है। संसार में उन्हें मान-ख्याति धनादि किसी वस्तु की स्पृहा नहीं होती। वे अपनी मति के अनुसार परोपकार में निरत होते हैं। इसीलिये वे निर्दोष कर्मों की शिक्षा देने के लिये शास्त्रों की रचना करते हैं, अतः वे जान बुझकर कोई विरुद्ध बात नहीं कह सकते. चूं कि परोपकार को प्रवृत्ति और जानबुझकर विरूद्ध बात का कथन इन दोनों में पानी और अग्नि के समान परस्पर विरोध है ॥१५॥

[युक्ति और आगम से शास्त्रकाराभिप्राय का अन्वेषण]

पूर्व कारिका में सभी शास्त्रकारों की प्रशंसा की गयी है। इस प्रशसा को सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि क्या जैन शास्त्रकारों के समान ही अन्य शास्त्रकारों की बातें स्वीकार्य हैं ? १६ वीं कारिका में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—

कारिका का आशय यह है कि जब सभी शास्त्रकार परोपकार में प्रवृत होने के कारण अनुचित बात कहना नहीं पसन्द करते तो यह आवश्यक है कि उनके जो भी शब्द हैं उन के तात्पर्य को इस प्रकार

शास्त्राविरोधेन-युक्त्याऽऽगमबाधा यथा न स्यात् तथा, न तु यथाश्रुतग्रहणमात्रेणाऽऽन्ध्ये मज्जनीयं मनः, अन्यथा 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्यादिश्रुतिश्रवणेन गगनमेवाऽवलोकनीयं स्यात् । अत्र पराऽभियुक्तसंमतिमाह-यथा मनुरपि अदः-वक्ष्यमाणम् आह ॥१६॥

किम् ?, इत्याह-

मूलम्-आर्षं च धर्मशास्त्रं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥१७॥

आर्षं च-वेदादि, धर्मशास्त्रं च पुराणादि । 'आर्षं धर्मोपदेशं च' इति क्वचित् पाठः, तत्राऽप्ययमेवार्थः-आर्षं-मन्वादिवाक्यम्, धर्मजनक उपदेशः धर्मोपदेशः, धर्मस्येश्वरस्य वोपदेशो धर्मोपदेशस्तं, 'वेदम्' इत्यन्ये । वेदशास्त्राविरोधिना--परस्परं तदुभयाऽविरोधिना तर्केण यः अनुसंधत्ते=तदर्थमनुस्मरति, स धर्मं वेद=जानाति, नेतरः=ऊहरहितः । तस्मादीश्वरकर्तृ-

---

समझने का प्रयत्न किया जाय जिस से मुमुक्षु के मार्ग में कोई कठिनाई न हो और युक्ति तथा शास्त्र का कोई विरोध न हो। ऐसा नहीं होना चाहिये कि उनके शब्दों से जो भी अर्थ आपाततः प्रतीत हो उसे ही परमार्थ मानकर उसी में अपने मन को अभिनिविष्ट कर दिया जाय, क्योंकि ऐसा होने पर 'ग्रावाणः प्लवन्ते=पत्थर तैरते हैं' ऐसे वेदवचनों को सुनकर आश्चर्यचकित हो आकाश के प्रति देखने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है । इस विषय में आर्हतों की ही सम्मति है इतना ही नहीं अपितु अन्य मतावलम्बियों के सम्मान्य पुरुष की भी सम्मति है । उदाहरणार्थ मनु के इस आशय का वचन प्रस्तुत किया जा सकता है—

(धर्म तत्त्व के बोध का उपाय तर्कानुसंधान-मनुवचन)

पूर्व कारिका में मनु के जिस वचन का संकेत किया गया है, १७ वीं कारिका उस वचन के रूप में ही अवतरित की गई हैं। कारिका का अर्थ यह है—

जो व्यक्ति ऋषिदृष्ट वेदादि शास्त्रों को और पुराणादि धर्मशास्त्रों को वेद और शास्त्र के अविरोधी (शास्त्र से विरुद्ध न पडने वाले) तर्क के द्वारा समझता है अर्थात् ऐसे तर्क से वेद और धर्मशास्त्र के अर्थ का निर्धारण करता है जो तर्क वेद और शास्त्रों से विरुद्ध न हो, वही व्यक्ति धर्म के तत्त्व को जान पाता है। और जो तर्क की सहायता नहीं लेता वह धर्म के तत्त्व को नहीं समझ सकता । व्याख्याकार ने इस कारिका की व्याख्या करते हुये 'आर्षं धर्मोपदेशं च' इस मनुवचन के पाठान्तर का भी उल्लेख किया हैं और उस का भी वही अर्थ किया है 'जो आर्षं च धर्मशास्त्र च' इस पाठ से अभिमत है। कुछ अन्य लोगों द्वारा 'आर्षं धर्मोपदेशं च' इस पाठ का दूसरा अर्थ किया गया है उस का उल्लेख व्याख्याकार ने इस प्रकार किया है कि आर्ष शब्द का अर्थ है मनुआदि ऋषियों का वाक्य जैसे 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थ, और 'धर्मोपदेश' शब्द का अर्थ है वेद, क्योंकि वेदके पाठ धर्म होता है, और वेद से धर्म और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

शास्त्र के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये शास्त्राऽविरोधी तर्क के अवलम्बन की आवश्यकता के सम्बन्ध में आर्हतों और पराभिमत मनु आदि शिष्टपुरुषों की सम्मति बताकर व्याख्याकार ने

त्वप्रतिपादकपरागमस्याऽप्ययमेवाऽऽशयो युक्तः, इति सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन तत्प्रमाण्यमुपपादनीयम् । द्रव्यासत्याभिधानं चेदं ग्रन्थकारस्य तत्प्रमाण्याभ्युपगन्तृश्रोतृपरिबोधार्थम् ।

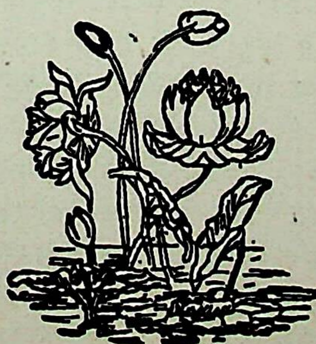
इत्येवं पटुरीश्वरव्यतिकरः सत्तर्कसंपर्कभाग्, येषां विस्मितमातनोति न मनस्ते नाम वामाशयाः ।
अस्माकं तु स एक एव शरणं देवाधिदेवः सुखाम्भोधौ यस्य भवन्ति बिन्दव इव स्वः-सद्मनां संपदः ॥१७॥

कारिकाकार का यह आशय बताया है कि ईश्वर में जगत्कर्तृत्व का प्रतिपादन करने वाले अन्य शास्त्रों का भी अभिप्राय शास्त्राऽविरोधी तर्कों से ही निश्चित करना उचित है ।

ऐसा करने से सम्यग्दृष्टि से परिगृहीत होने के कारण अन्यशास्त्रों का भी प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है । व्याख्याकार यशोविजयजी का कहना है कि 'तर्क की सहायता से वेद और पुराण आदि से भी धर्म का ज्ञान होता है' इस द्रव्याऽसत्य का अभिधान ग्रन्थकार ने इस दृष्टि से किया है जिस से वेद और पुराण को प्रमाण माननेवाले श्रोताओं को भी शुद्ध धर्म ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मील सके ।

ईश्वर कर्तृत्व के सम्बन्ध में अब तक के सम्पूर्ण विचारों का उपसंहार करते हुए व्याख्याकार ने अपना अन्तिम अभिमत प्रकट किया हैं कि–'समीचीन तर्कों के सम्पर्क से ईश्वर के कर्तृत्व के सम्बन्ध में जो आर्हत सम्मत प्रभावपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है, उस से जिन मनुष्यों का मन हर्ष और विस्मय से उत्फुल्ल नहीं होता वे निःसंदेह हृदय की मलीनता से ग्रस्त है अर्थात् उनका हृदय यथार्थ वस्तु को ग्रहण करने के अयोग्य है । हम आर्हतों के तो एकमात्र वही देवाधिदेव आश्रय है–स्वर्गस्थ देवताओं की सम्पत्ति जिन के सुख समुद्र के आगे बिन्दु के समान है ॥१७॥

[ईश्वरकर्तृत्ववाद समाप्त]



वार्त्तान्तरमाह–

मूलम्–प्रधानोद्भवमन्ये तु मन्यन्ते सर्वमेव हि ।
महदादिक्रमेणेह कार्यजातं विपश्चितः ॥१८॥

अन्ये तु विपश्चितः=सांख्याः इह=सामग्रीविचारे, सर्वमेव हि कार्यजातं महदादिक्रमेण प्रधानोद्भवं मन्यन्ते ।

तथाहि–तेषां पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, तत्राऽकारणं अकार्यं च कूटस्थनित्यचैतन्यरूप आत्मा । प्रकृतिरचेतना, महदाद्युत्पादकाऽशेषशक्तिप्रचिता, आदिकारणम्, परिणामिनी च । तदभावे हि परिमितं व्यक्तं न स्यात्, तथोत्पादकहेत्वभावात् । न च स्याद् भेदानामन्वयः, तन्मयकारणप्रभवत्वं विना तज्जातिमत्कार्यानुपलब्धेः । न च बुद्धिरेव कार्यधर्मानुविधायिनी, असाधारणत्वात् अनित्यत्वाच्च । न च महदादिहेतुशक्तिप्रवृत्तिः स्यात् । न हि पटादिजननी शक्तिस्तन्तुवायादिकमाधारं विना प्रवर्तते । तथा, कारण-कार्यविभागोऽपि न स्यात्, महदादौ कार्यत्वव्यवहारस्य संबन्धिसापेक्षत्वात् । न च स्यात् क्षीरावस्थायां क्षीरं दध्न इव प्रलये भूतादीनां तन्मात्रादिक्रमेणाऽविवेकरूपोऽविभाग इति प्रकृतिसिद्धिः । तदुक्तम्—

---

१८ वीं कारिका से सांख्यदर्शन के सिद्धान्त का विचार प्रस्तुत किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

[सांख्यदर्शन के सिद्धान्त]

सांख्य शास्त्र के वेत्ता अन्य विद्वान् सम्पूर्ण कार्यों को महत् तत्त्व आदि के क्रम से प्रकृति से उत्पन्न मानते हैं । उन का कहना है–जिन तत्वों से जगत् का विस्तार होता है उन की संख्या पच्चीश है । उन में दो तत्त्व सर्वापेक्षया मुख्य हैं । जिन में एक तत्त्व वह है जिसे आत्मा कहा जाता है, वह कूटस्थ-निर्विकार नित्य चैतन्यरूप है । वह न किसी का कारण होता है और न किसी का कार्य होता है । और दूसरा तत्त्व वह है जिसे प्रकृति कहा जाता है, वह अचेतन होती है और महत् तत्त्वादि अन्य २३ तत्वों को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न होती है । वह सब का आदि कारण है और उस में महत्तत्त्व आदि रूपों में परिणत होने की योग्यता रहती है । उसे मानना अति आवश्यक है, क्योंकि (१) उस के अभाव में परिमित एवं व्यक्त जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसे उत्पन्न करनेवाला दूसरा कोई हेतु नहीं है । (२) उसे मानने की आवश्यकता इसलिए भी है जिस से विभिन्न कार्यों में एकरूपता हो सके, क्योंकि कार्यों की उत्पत्ति यदि एक सदृश कारण से न होगी तो कार्यों में कारण के द्वारा एकजातीयता की उपलब्धि न हो सकेगी । यहाँ एकरूपता का कार्य बुद्धि यानी महत् तत्त्व से नहीं सम्पन्न हो सकता है चूंकि वह बुद्धि सम्पूर्ण कार्यधर्मों का अनुविधान नहीं कर सकती, इसका कारण-वह सर्वसाधारण नहीं होती और स्वयं अनित्य होती है । (३) प्रकृति तत्त्व मानने का यह भी आधार है कि प्रकृति के अभाव में महत्तत्त्व आदि कारण शक्तियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण शक्तियों की प्रवृत्ति किसी एक सामान्य आधार द्वारा ही होती है । जैसे पट आदि को उत्पन्न करने वाली तुरी वेमा आदि शक्तियां तन्तुवाय रूपी आधार के बिना नहीं प्रवृत्त होती । (४) यह भी कारण

"भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितःप्रवृत्तेश्च ।
कारण-कार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥१॥" (सांख्यकारिका १५) इति ।

न चाऽसदेव महदादिकमुत्पद्यताम्, किं तत्समन्वयार्थं प्रकृत्यनुसरणेन ? इति वाच्यम्, असतोऽनुत्पत्तेः । तदुक्तम्—

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥" [सां० का० ९]

असतः शशविषाणादेः सत्त्वस्य कर्तुमशक्यत्वात् सत एव हि सत्कारणम्, तद्धर्मत्वात्, दृष्टं च तिलेषु सत एव तैलस्य निष्पीडनेन करणम्, असतस्तु करणे न निदर्शनम् । न च विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वरूपस्याऽसत्त्वस्य विद्यमानत्वरूपस्य च सत्त्वस्य न विरोध इति साम्प्रतम्, लाघवादविद्यमानत्वस्यैवाऽसत्त्वरूपत्वात्, तेनैव सर्वत्राऽनुगताऽसत्त्वव्यवहारात् ।

है कि प्रकृति के अभाव में कार्य और कारण का विभाग भी नहीं हो सकता क्योंकि कार्यत्व का व्यवहार कारण-सापेक्ष होता है । अतः यदि महत् तत्त्व आदि का कोई कारण न होगा तो उन में कार्यत्व का व्यवहार नहीं हो सकेगा । (६) प्रकृतितत्त्वसमर्थक यह भी एक तर्क है कि प्रकृति के अभाव में प्रलयावस्था में भूत आदि कार्यों का तन्मात्र आदि के क्रम से एक कारणावस्था में अविभाग-अविवेक-अपार्थक्य न हो सकेगा जिस का होना, ठीक उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार दुग्ध की अवस्था में दुग्ध और दधि का अविभाग होता है ।

प्रकृति के अस्तित्व के समर्थन में कहे गये इन समस्त हेतुओं को ईश्वरकृष्ण ने अपने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ में १५ वी कारिका से अभिहित किया है । जिस का यह अर्थ है कि कार्यों के परिमित होने से और कारण के साथ अन्वय होने से और कारण शक्तियों की प्रवृत्ति होने से तथा कारण-कार्य का विभाग होने से और संपूर्ण कार्यों का एक कारणावस्था में अविभाग होने से प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

[सत्कार्यवाद में हेतुपञ्चक]

यह शंका हो सकती है कि–'महत्तत्त्वादि कार्यों की उत्पत्ति के पूर्व असत् की ही उत्पत्ति मानी जाय तो कारण में पूर्व से ही उस के अन्वय की आवश्यकता न होगी । अतः उस के लिये प्रकृति के अस्तित्व की कल्पना अनावश्यक है' किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती, जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने 'असदकरणात्०' इस कारिका में स्पष्ट किया हैं । कारिका का आशय यह है कि जो असत् पदार्थ हैं उन को अस्तित्व में आते हुए आज तक कभी नहीं देखा गया । इसलिये प्रथमतः सत्पदार्थ ही होता है । अतः असत्पदार्थ न कारण ही होता, न कार्य ही होता है । कार्य कारण का धर्म होता हैं । असत् मानने पर वह कारण का धर्म नहीं हो सकता । अतः उसे उत्पत्ति पूर्व में भी कारण में सत् मानना आवश्यक है । यह देखा भी जाता है कि तिल में प्रथमतः विद्यमान ही तैल का तिल-पेषण करने पर प्रादुर्भाव होता है । असत्पदार्थ की उत्पत्ति होने का कोई भी दृष्टान्त नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि–'कार्य की उत्पत्ति के पूर्व में जो असत्त्व होता है वह विद्यमान प्रागभाव का प्रतियोगित्वरूप होता है और उत्पत्ति होने पर जो उस का सत्त्व होता है वह विद्यमानत्वरूप होता है । अतः इस प्रकार के असत्त्व और सत्त्व में कोई विरोध नहीं है । पूर्वकाल में जिस का प्राग-

तथा, उपादानग्रहणादपि सत् कार्यम्, अन्यथा 'शालिफलार्थिनः शालिबीजस्यैवोपादानम्, न कोद्रवबीजादेरि'ति प्रतिनियमानुपपत्तेः, फलाऽयोगस्योभयत्राऽविशेषात्। 'उपादानेन ग्रहणं संबन्धस्ततोऽसतः संबन्धाभावात्'! इत्यन्ये। तथा, सर्वसंभवाऽभावात् सत् कार्यम्, असतः कारणेऽसंबद्धाऽविशेषे सर्वं सर्वस्माद् भवेत्, न चैवम्, तस्मात् कार्यं प्रागुत्पत्तेः कारणेन सह संबद्धम्। यथाहुः-

"असत्त्वाद् नास्ति संबन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असंबद्धेषु चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥१॥" इति। [ ]

भाव रहा उत्तरकाल में उस का भाव मानने में कोई असङ्गति नहीं है। एक काल में ही किसी वस्तु का भावाभाव विरुद्ध हो सकता है, भिन्नकाल में नहीं। शशसींग का दृष्टान्त असत् को अनुत्पत्ति बताने में उचित नहीं हो सकता। क्योंकि शशसींग का प्रागभाव न होकर सार्वदिक अभाव होता है, प्रागभाव उसी का होता है-बाद में कभी जिस का भाव सम्भव हो।'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि असत्व को विद्यमान प्रागभाव प्रतियोगित्वरूप मानने में गौरव है अतः अविद्यमानत्व अर्थात् सपूर्णकाल में अभाव को ही असत्वरूप मानना लाघव के कारण उचित है. उसी से सर्वत्र असत्त्व के अनुगत व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है। अतः शशसींग में सार्वदिक अभाव से असत्त्व व्यवहार का और कार्यों में प्रागभावप्रतियोगित्वरूप असत्व से असत्त्व व्यवहार का उपपादन करना उचित्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर व्यवहार की अनुगतरूपता का भङ्ग हो जाता है।

कार्यविशेष के लिये कारणविशेष को ही नियमित रूप से ग्रहण किया जाता है. इसलिये भी उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होगा तो कार्य के लिये सारे पदार्थ समान होंगे। और इस का फल यह होगा कि शालि=उत्तमकोटि का धान्य जिस से उत्कृष्ट कोटि का चावल प्राप्त होता है-उसके लाभ के लिये किसान शालि बीज का ही नियम से उपादान न कर सकेगा। कोद्रव यानी निकृष्ट धान्य के बीज को ग्रहण करने में भी उस की प्रवृत्ति की प्रसक्ति हो सकती है। क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व शक्ति का असत्व शालिबीज और कोद्रव के बीज दोनों में समान है। तो फिर क्या कारण है कि किसान शालि के लाभ के लिये शालि बीज का ही उपादान करे और कोद्रव के बीज का उपादान न करे। उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अस्तित्व मानने पर इस प्रश्न का समाधान सुकर होता है। वह इस प्रकार कि शालि शालिबीज में प्रथमतः रहता है और कोद्रव के बीज में नहीं रहता है इसलिये किसान समझता है कि शालिबीज से ही शालि का लाभ हो सकता है कोद्रव के बीज से नहीं। अतः वह शालि लाभ के लिये शालि बीज को ही ग्रहण करता है न कि कोद्रवबीज को।

[उपादान और कार्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति

अन्य विद्वान कारिका में आये 'उपादानग्रहण' शब्द का अर्थ उपादान के साथ कार्यसम्बन्ध बताकर उससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व असत् माना जायगा तो कारण के साथ उस का सम्बन्ध न हो सकेगा। क्योंकि सम्बन्ध सत्पदार्थों में ही होता है। असत् और सत् का सम्बन्ध नहीं होता। कार्य को उत्पत्ति के पहले सत् मानना इसलिये भी आवश्यक है

तथा, अशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गाच्छक्तस्य जनकत्वं वाच्यम्, शक्तिश्चास्य न सर्वत्र, तथैवाऽतिप्रसङ्गात्, किन्तु क्वचिदेव, इति कथमसति कार्ये कारणस्य शक्तिर्नियता स्यात्, असतो विषयत्वाऽयोगात्? तस्मात्, कारणात् प्रागपि शक्यं सदेव। तथा कारणभावात्= कारणतादात्म्यादपि सत् कार्यं, नाऽवयवी अवयवेभ्यो भिद्यते, तथाप्रतीत्यभावात्; 'कपालं घटीभूतम्, तन्तुः पटीभूतः, स्वर्णं कुण्डलीभूतम्' इत्यादिप्रतीतेः। तस्माद् महदादिकार्यस्योत्पत्तेः प्रागपि यत्र सत्त्वं सा प्रकृतिः।

कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति नियत पदार्थ से ही होती है सब पदार्थों से उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु यदि पदार्थ से असत्कार्य की उत्पत्ति होगी तो यह मानना होगा कि पदार्थ अपने से असम्बद्ध वस्तु का उत्पादन करता है, ऐसी स्थिति में किसी नियत पदार्थ से ही कार्य की उत्पत्ति न होकर संपूर्ण पदार्थों से सभी कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि कार्य जैसे किसी एक नियत पदार्थ से असम्बद्ध होता है उसीप्रकार सभी पदार्थों से असम्बद्ध होता है। इसलिये इस बात में कोई व्यवस्था न हो सकेगी कि अमुक कार्य अमुक पदार्थ से ही उत्पन्न हो और अन्य से न हो। किन्तु कार्य को उत्पत्ति के पूर्व सत् मानने पर यह सङ्कट नहीं उपस्थित हो सकता, क्योंकि तब कहा जा सकता है- तत्तत्कार्य का तत्तत्पदार्थ के ही साथ सम्बन्ध होता है सब पदार्थों के साथ नहीं होता और पदार्थ का यह स्वभाव है कि वह सम्बद्ध कार्य का ही उत्पादक होता है असम्बद्ध का नहीं, अतः सब पदार्थों से सब कार्यों की उत्पत्ति का आपादन नहीं हो सकता। जैसा कि कहा गया है कि—

'उत्पत्ति के पूर्व कार्य का असत्त्व मानने पर सत् कारणों के साथ असत् कार्य का सम्बन्ध न हो सकेगा। और यदि असम्बद्ध पदार्थों में ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो अमुक पदार्थ ही में अमुक कार्य की उत्पत्ति हो अन्य में न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती।'

उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् इसलिये भी मानना आवश्यक है कि जो पदार्थ जिस कार्य के उत्पादन की शक्ति से शून्य होता है उस से उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु जिस पदार्थ में जिस कार्य के उत्पादन को शक्ति होती है उसी से उसकी उत्पत्ति होती है, और तत्तत्कार्य के उत्पादन की शक्ति सर्वत्र न होकर नियत पदार्थों में ही होती है। किन्तु यह बात उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानने पर ही बन सकती है असत् मानने पर नहीं, क्योंकि असत् वस्तु किसी पदार्थ का शक्य नहीं हो सकती है। क्योंकि शक्य-शक्तभाव भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है। अत एव वह सत् पदार्थों के ही बीच सम्भव हो सकता है, सत् और असत् के बीच सम्भव नहीं हो सकता। उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानना इसलिये भी आवश्यक है कि उस में कारण का तादात्म्य होता है। यदि वह असत् होगा तो उस में कारण का तादात्म्य न हो सकेगा क्योंकि सत् और असत् प्रकाश और अन्धकार के समान अत्यन्त विलक्षण है, अत एव उन में तादात्म्य कथमपि संभव नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि- कार्य अवयवी होता है और कारण उस का अवयव होता है अतः कार्य में कारण का तादात्म्य मानना असङ्गत है। अतः कार्य में कारण का तादात्म्य बता कर उसके द्वारा उत्पत्ति के पूर्व कार्य के सत् होने का समर्थन करना उचित नहीं हो सकता'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अवयव-अवयवी में अवयवों की भिन्नता की प्रतीति न होने से अवयवी में अवयवों का भेद

ततो बुद्ध्यपरनामकं महत्तत्त्वमुत्पद्यते, न हि चैतन्यस्य स्वभावतो विषयावच्छिन्नत्वम्, अनिर्मोक्षापत्तेः। नापि प्रकृत्यधीनं तत्, तस्या अपि नित्यतया तद्दोषानुद्धारात्। नापि घटादिरेवाऽऽहत्य चैतन्यावच्छिन्नः, दृष्टाऽदृष्टतत्त्वानुपपत्तेः। न चेन्द्रियमात्रापेक्षो घटादिचैतन्यावच्छेदः,

स्वीकार्य नहीं हो सकता। अपितु 'कपाल घट हो गया, तन्तु पट हो गया, सुवर्ण कुण्डल हो गया' इन सार्वजनिक प्रतीतियों के अनुरोध से अवयव और अवयवी का तादात्म्य ही सिद्ध होता है। इन सब युक्तियों का निष्कर्ष यह है कि महत्तत्त्वादि पदार्थ कार्य है अत एव उत्पत्ति के पहले उनका अस्तित्व मानना आवश्यक है और यह अस्तित्व किसी आधार में ही हो सकता है। अतः महदादि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व जिस आधार में विद्यमान होंगे उसी का नाम प्रकृति है। इस प्रकार सत्कार्यवाद की उपपत्ति के लिये प्रकृति का अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

[महत्तत्त्व से चैतन्यावच्छेद और श्वासादि का नियमन]

प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है जिसका दूसरा नाम बुद्धि है। इसी के द्वारा चैतन्य-स्वरूप पुरुष के साथ विषयावच्छिन्नत्व लक्षण विषय का सम्बन्ध बनता है। यदि उस का अस्तित्व न माना जायगा तो पुरुष के साथ विषय का सम्बन्ध स्वाभाविक मानना होगा और उस स्थिति में विषय और पुरुष का सम्बन्ध विच्छेद न हो सकने से पुरुष का कभी मोक्ष न हो सकेगा। और अनित्यबुद्धि की सत्ता स्वीकार कर उसके द्वारा पुरुष के साथ विषय का सम्बन्ध मानने पर बुद्धि की निवृत्ति होने पर विषय के साथ पुरुष के सम्बन्ध का विच्छेद संभव होने से पुरुष के मोक्ष में कोई बाधा नहीं हो सकती। बुद्धि का अस्तित्व न मानकर पुरुष के साथ विषय का सम्बन्ध यदि प्रकृति-द्वारा माना जाय तो पुरुष और विषय का सम्बन्ध स्वाभाविक तो नहीं होगा किन्तु उसका उच्छेद इस पक्ष में भी न हो सकेगा, क्योंकि प्रकृति नित्य है। अतः उसकी निवृत्ति कभी भी संभवित न होने से उसके द्वारा पुरुष के साथ विषय का जो सम्बन्ध होगा उसकी भी कभी निवृत्ति न हो सकेगी। फलतः इस पक्षमें भी पुरुष का मोक्ष न हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि-'चैतन्यस्वरूप पुरुष के साथ घटादि विषयों के सम्बन्ध को किसी अन्य के द्वारा न मानकर सीधे विषयप्रयुक्त ही माना जाय तो यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि विषयों के अनित्य होने से पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध भी अनित्य होगा और विषयों की निवृत्ति होने पर उस सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाने से पुरुष का मोक्ष होने में कोई बाधा न होगी-'। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्य के साथ विषयों का अन्यनिरपेक्ष सम्बन्ध मानने पर सभी विषय चैतन्य से सम्बद्ध होंगे, अतः विषयों में दृष्ट-अदृष्ट का भेद न हो सकेगा। अर्थात् जितने विषय एक काल में विद्यमान होंगे वे सब चैतन्य से स्वतःसम्बद्ध होने के कारण दृष्ट ही होंगे। उनमें कोई अदृष्ट न हो सकेगा जबकि स्थिति यह है कि जब एक वस्तु दृष्ट होती है तब दूसरी वस्तु अदृष्ट रहती है। जैसे घटादि के दर्शनकाल में पटादि अदृष्ट रहता है। यदि यह कहा जाय कि-'चैतन्य के साथ घटादि विषयों का सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा मानने से इस आपत्ति का परिहार हो सकता है, क्योंकि इन्द्रिय के अव्यापक होने से उसके द्वारा सभी विषयों का चैतन्य के साथ एकसाथ सम्बन्ध न हो सकेगा। अतः जिस समय जो विषय इन्द्रिय द्वारा चैतन्य से सम्बद्ध होगा उस समय वही विषय दृष्ट

व्यासङ्गानुपपत्तेः । अतो यत्संबद्धेन्द्रियस्य विषयचैतन्यावच्छेदनियामकत्वम् , यद्व्यापाराच्च सुषुप्ताविन्द्रियादिव्यापारविरतावपि श्वास-प्रश्वासादि, तद् महत्तत्त्वम् । तस्य धर्मा ज्ञाना-ऽज्ञानै-श्वर्या-ऽनैश्वर्य-वैराग्या-ऽवैराग्य-धर्मा-ऽधर्मरूपा अष्टौ, बुद्धि-सुखदुखेच्छा-द्वेष-प्रयत्ना अपि, भावनायास्तैरनङ्गीकारात् , अनुभवस्यैव स्मृतिपर्यन्तं सूक्ष्मरूपतयाऽवस्थानात् । तस्य ज्ञानरूप-परिणामेन संबद्धो विषयः, पुरुषस्य स्वरूपतिरोधायकः । एवं च बुद्धितत्त्वनाशादेव पुंसो विषयावच्छेदाभावाद् मोक्षः । भेदाऽग्रहाच्च 'चेतनोऽहं करोमि' इत्यध्यवसायः, अचेतनप्रकृति-कार्याया बुद्धेश्चैतन्याभिमानानुपपत्त्यैव स्वाभाविकचैतन्यरूपस्य पुंसः सिद्धेः । आलोचनं व्या-

होगा अन्य विषय दृष्ट नहीं होगा—' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जब किसी इन्द्रिय द्वारा किसी एक विषय का चैतन्य के साथ सम्बन्ध हो जायगा तब विषयान्तर का उस इन्द्रिय द्वारा चैतन्य के साथ सम्बन्ध न हो सकेगा । क्योंकि उस विषय के साथ उस इन्द्रिय के सम्बन्ध का कोई विच्छेदक न होगा । फलतः विभिन्न विषयों में विभिन्न विषयों के साथ इन्द्रिय संपर्क रूप इन्द्रिय का व्यासङ्ग न हो सकेगा । जिसका फल यह होगा कि जब एक वस्तु दृष्ट होगी तो वह अकेली ही सदा दृष्ट होती रहेगी । अन्य वस्तु के दृष्ट होने का अवसर ही न हो सकेगा । और जब बुद्धि द्वारा इन्द्रिय और विषय का एवं विषय और पुरुष का सम्बन्ध माना जायगा तब ये आपत्तियां न होगी । क्योंकि बुद्धि का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध और इन्द्रिय का विषय के साथ एवं विषय का चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने पर विषय का दर्शन मान्य होगा । अतः इन्द्रिय और विषय तथा इन्द्रिय द्वारा विषय और पुरुष का सम्बन्ध बुद्धि के अधीन होगा । इसलिये बुद्धि के व्यापार से व्यासङ्ग की उत्पत्ति हो सकेगी और उसी का संपर्क न पाने के कारण इन्द्रिय का व्यापार न हो सकने से सुषुप्ति हो सकेगी और उस समय उसी के व्यापार से श्वास-प्रश्वास आदि क्रियाएं भी हो सकेगी । इसलिए विषयों की दृष्टता और अदृष्टता तथा सुषुप्ति एवं सुषुप्ति के समय श्वासप्रश्वासादि और पुरुष के मोक्ष की उपपत्ति के लिये बुद्धि=महत् तत्त्व को मानना अनिवार्य है ।

[बुद्धिगत धर्मों का निरूपण]

इस बुद्धि में आठ धर्म रहते हैं । जैसे ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, वैराग्य-अवैराग्य, धर्म-अधर्म । इनके अतिरिक्त बुद्धि में सुख-दुःख इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी होते हैं । भावना पदार्थ साङ्ख्य दर्शनों के विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है । अतः बुद्धि-महत्तत्व में भावना का अस्तित्व नहीं माना जा सकता । साङ्ख्य मत में अनुभव ही सूक्ष्मरूप से स्मृति पर्यन्त रहता है । अतः सूक्ष्मावस्थापन्न अनु-भव से अतिरिक्त भावना=संस्कार मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती । महत्तत्व का इन्द्रियादि द्वारा विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर उसका विषयाकार परिणाम होता है जिसे ज्ञान तथा बुद्धि की वृत्ति कहा जाता है । इस ज्ञान के द्वारा ही विषय पुरुष से सम्बद्ध होकर पुरुष के स्वरूप को आवृत करता है । विषयों द्वारा इस प्रकार होनेवाला पुरुष का आवरण ही उसका बन्धन है । एवं महत्तत्त्व का नाश होने पर अर्थात् महत्तत्त्व का मूलप्रकृति में तिरोधान होने पर बुद्धि के विषयाकार परि-णामरूप ज्ञान की निवृत्ति होने से पुरुष के साथ विषयों का सम्बन्ध बन्द हो जाता है । इस प्रकार विषयों से पुरुष के स्वरूप का तिरोधान बन्द हो जाने से पुरुष का मोक्ष सम्पन्न होता है ।

पार इन्द्रियाणाम्, विकल्पस्तु मानसः, अभिमानोऽहङ्कारस्य कृत्यध्यवसाये बुद्धेः, सा हि बुद्धिरंशत्रयवती, पुरुषोपरागः, विषयोपरागः, व्यापारावेशश्च इत्यंशाः । भवति हि 'ममेदं कर्तव्यम्' इति बुद्धेरध्यवसायः। तत्र 'मम' इति पुरुषोपरागः दर्पणस्येव मुखोपरागः, भेदाऽग्रहादतात्त्विकः। 'इदम्' इति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालीकया परिणतिभेदो दर्पणस्येव मुखनिश्वासहतस्य मलिनिमोपरागस्तात्त्विकः। तदुभयोपपत्तौ व्यापारावेशोऽपि। तत्र विषयोपरागलक्षणज्ञाने पुरुषोपरागस्याऽतात्त्विकसंबन्धो दर्पणप्रतिबिम्बितस्येव मुखस्य तन्मलिनिम्नेति ।

[पुरुष और बुद्धि का तात्त्विक भेद]

बुद्धि और पुरुष में अत्यन्त भेद है। किन्तु उसका अज्ञान अनादिकाल से चला आ रहा है और उसी कारण बुद्धि को 'चेतनोऽहं करोमि' में चेतन करता हूँ' इस प्रकार का अध्यवसाय होता है। सच बात यह है कि इस अध्यवसाय की उपपत्ति के लिये ही स्वाभाविक चैतन्यरूप पुरुष का अस्तित्व मानना आवश्यक होता है। यदि उसे न माना जायेगा तो उक्त अध्यवसाय के रूप में बुद्धि में चैतन्य का अभिमान न हो सकेगा, क्योंकि बुद्धि अचेतन प्रकृति से उद्भूत होने के कारण स्वयं अचेतन होती है। उक्त अध्यवसाय तीन व्यापारों से सम्पन्न होता है—इन्द्रिय व्यापार, मनोव्यापार और अहङ्कार व्यापार। इन्द्रिय व्यापार का नाम है आलोचन और मनोव्यापार का नाम है विकल्प एवं अहंकार व्यापार का नाम है अभिमान। आशय यह है कि इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन होता है। और मन से उसका विकल्पन यानी विशिष्टबोध एवं अहंकार से उसके कर्तृत्व का अभिमान होता है। और इन तीनों के सम्पन्न होने पर बुद्धि में 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रकार कृति का अध्यवसाय उत्पन्न होता है।

(पुरुष-विषय व्यापार का बुद्धि सम्बन्ध)

बुद्धि में तीन अंश होते हैं। जिन्हें पुरुषोपराग, विषयोपराग और व्यापारावेश कहा जाता है। पुरुषोपराग का अर्थ है पुरुषसम्बन्ध, विषयोपराग का अर्थ है विषयसम्बन्ध एवं व्यापारावेश का अर्थ है व्यापार सम्बन्ध। जैसे 'ममेदं कर्तव्यम्=यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार का अध्यवसाय बुद्धि को होता है। इस अध्यवसाय से बुद्धि के उक्त तीनों अंशो का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। जैसे 'मम' से पुरुषोपराग सूचित होता है। यह उपराग बुद्धि और पुरुष में भेदज्ञान न होने से ठीक उसी प्रकार मिथ्या होता है जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पडने के समय दर्पण के साथ मुख का सम्बन्ध मिथ्या होता है। 'इदं' से बुद्धि के साथ विषयोपराग सूचित होता है। बुद्धि के साथ विषय का यह सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा विषयाकार बुद्धि का परिणाम रूप है, यह ठीक उसी प्रकार सत्य होता है जैसे दर्पण पर मुख के निःश्वास का आघात होने पर उसके साथ मलिनता का सम्बन्ध। यह सर्व विदित है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख का निःश्वास जब दर्पण पर पडता है तो दर्पण वास्तवरूप में मलिन हो जाता है। बुद्धि के साथ पुरुष और विषय का उपराग होने पर उस में व्यापारावेश अर्थात् कृति का सम्बन्ध भी सम्पन्न हो जाता है। अभी यह कहा गया है, कि विषयोपराग विषयाकार बुद्धि का परिणाम रूप है जिसे ज्ञान कहा जाता है। बुद्धि के साथ उसका सम्बन्ध सत्य है। बुद्धि का पुरुष के साथ भेदज्ञान न होने से बुद्धिगत इस ज्ञानात्मक विषयोपराग का पुरुष के साथ भी सम्बन्ध होता है किन्तु यह सम्बन्ध सत्य न होकर यह ठीक उसी प्रकार मिथ्या होता है जैसे मुख के निःश्वास से दर्पण में उत्पन्न मलिनता का दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के साथ सम्बन्ध मिथ्या होता है।

ततो महत्तत्त्वादहङ्कारोत्पत्तिः । भवति हि स्वप्नावस्थायां 'व्याघ्रोऽहम्, वराहोऽहम्' इत्यभिमानः, न तु 'नरोऽहम्' इत्यभिमानः । अस्ति च तत्र नरत्वं संनिहितमिन्द्रिय मनः-संबन्धश्च । अतो नियतविषयाभिमानव्यापारकाऽहङ्कारसिद्धिः ।

ततः पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च । पञ्च तन्मात्राणि शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः सूक्ष्मा उदात्तादिविशेषरहिताः । एकादशेन्द्रियाणि च–चक्षुः, श्रोत्रम्, घ्राणम्, रसनम्, त्वगिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि; वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति । पञ्च-

[स्वप्न में "मैं वाघ हूं" इस प्रतीति का उपपादक अहंकार]

महत् तत्त्व का 'चेतनोऽहं करोमि' एवं 'ममेदं कर्तव्यं' इन अध्यवसायों द्वारा परिचय दिया गया है । और प्रकृति से उस की उत्पत्ति का भी युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है । अभी यह बताना है कि महत्तत्त्व से अहङ्कारनामक तीसरे तत्त्व की उत्पत्ति होती है । इस अहङ्कार का भी अस्तित्व मानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि स्वप्न की अवस्था में मनुष्य को यदा कदा इस प्रकार का अभिमान होता है 'अहं व्याघ्रः अहं वराहः न तु नरः' मैं व्याघ्र हूँ, मैं शूकर हूँ मनुष्य नहीं हूँ' । इस अनुमान के समय नरत्व सन्निहित रहता है और इन्द्रिय-मन का सम्बन्ध भी सन्निहित रहता है । किन्तु व्याघ्रत्व या वराहत्व असन्निहित रहता है और उस के साथ इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध भी नहीं रहता फिर भी उस का अभिमान होता है इसकी उपपत्ति इन्द्रिय और मन के द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि व्याघ्रत्व एवं वराहत्व के असंनिहित होने से उस के साथ इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध ही नहीं रहता फिर भी उस का अभिमान होता है । इस की उपपत्ति इन्द्रिय और मन के द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि व्याघ्रत्व एवं वराहत्व के असंनिहित होने से उस के साथ इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध ही नहीं रहता । और यह नियम है कि 'इन्द्रिय और मन सम्बद्धवस्तु का ही ग्रहण कराने में समर्थ होते हैं ।' अतः इस अभिमान को उपपन्न करने के लिये अहङ्कार का अस्तित्व मानने पर अभिमान की उत्पत्ति सुकर हो जाती हैं क्योंकि जाग्रतकाल में मनुष्य को व्याघ्रत्व वराहत्वादि का अनुभव होता है वह सूक्ष्मावस्था में अहङ्कार में स्थित हो जाता है । स्वप्नावस्था द्वारा उस सूक्ष्मरूप से स्थित अनुभव का उद्बोधन होने से व्याघ्रत्व वराहत्व के उक्त अभिमान का उदय होता है । जाग्रत-कालिन उक्त अनुभव का बुद्धि में सूक्ष्मावस्थान मान कर स्वप्नावस्था में उस का उद्‌बोधन होकर बुद्धि में ही उक्त अभिमान रूप व्यापार का उदय नहीं माना जा सकता क्योंकि बुद्धि इन्द्रिय आदि द्वारा विषयों से सम्बद्ध होकर ही ज्ञानात्मक परिणाम को उत्पन्न करती हैं किन्तु अहङ्कार को अपने उक्त अभिमानात्मक व्यापार को उत्पन्न करने के लिये इन्द्रिय एवं विषयादि की अपेक्षा नहीं होती । अतः स्वप्नावस्था में अहङ्कार द्वारा ही उक्त अभिमान की उपपत्ति हो सकती है । अतः उक्त अभिमान के निर्वाहार्थ अहङ्कार का अस्तित्व मानना अनिवार्य है ।

इस अहङ्कारनामक तीसरे तत्त्व से पञ्च तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रिय इन सोलह तत्वों की उत्पत्ति होती है । तन्मात्रा का अर्थ 'तदेव इति तन्मात्रं' इस व्युत्पत्ति से इस प्रकार की वस्तु है जिस का एक ही स्वरूप होता है । जिस में अवान्तर धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता जैसे सूक्ष्म शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श । सूक्ष्मशब्द में उदात्त-अनुदात्तादि का भेद न होने से वह शुद्धशब्द मात्र स्वरूप होने से शब्द-तन्मात्र कहा जाता है । सूक्ष्म रूप भी नीलत्व पीतत्वादि भेदों से शून्य होने के कारण रूपतन्मात्र कहा

तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। तथाहि—शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम् , शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्द-स्पर्शगुणः, शब्द-स्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्द-स्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्द-स्पर्श-रूप-रसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्द-स्पर्शरूप-रस-गन्धगुणा पृथिवीति। तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चेभ्यः पञ्च भूतानि॥ [सां॰ का॰ २२]॥
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ [सां. का. ३] इति।

जाता है। सूक्ष्म रस मधुरता कटुता अम्लता आदि भेदों से शून्य होने के कारण रसतन्मात्र कहा जाता है। सूक्ष्म गन्ध सुरभित्वाऽसुरभित्व भेदों से रहित होने के कारण गन्धतन्मात्र कहा जाता है एवं सूक्ष्म स्पर्श शीतत्व उष्णत्वादि भेदों से रहित होने के कारण स्पर्शतन्मात्र कहा जाता है।

अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इन के तीन वर्ग है। [1]ज्ञानेन्द्रिय, [2]कर्मेन्द्रिय और [3]उभयेन्द्रिय।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय है। वाक्, पाणि, पाद, पायु (मलेन्द्रिय) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रिय है। एवं मन उभयेन्द्रिय है, क्योंकि ज्ञान और कर्म दोनों की उत्पत्ति में इस की आवश्यकता होती है। पंच तन्मात्रों से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है—जैसे शब्द तन्मात्र से शब्दगुणवाले आकाश की, एवं शब्दतन्मात्र से सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणवाले वायु की, शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्र सहित रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूपगुण वाले तेज की, शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्र से शब्द, स्पश, रूप और रस ये चार गुणवाले जल की तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्र से सहित गन्धतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध ये पाँच गुणवाली पृथ्वी की। जैसा कि ईश्वरकृष्णने अपनी 'प्रकृतेः महान्' एवं 'मूलप्रकृति॰' आदि कारिकाओं में कहा है, कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—

प्रकृति से महत् की और महत् से अहङ्कार की, अहंकार से 'पञ्चतन्मात्र एवं ग्यारह इन्द्रिय' इन षोडश की, इन षोडश में पाँच तन्मात्रों से आकाश आदि पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इन चौवीस में प्रकृति को मूल प्रकृति कहा जाता है। यह किसी की विकृति नहीं होती अर्थात् उस की किसी से उत्पत्ति नहीं होती। महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं, अर्थात् ये मूलप्रकृति के कार्य होते हैं और इन में महत्तत्त्व अहंकार का, और अहंकार पंचतन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियों का, और पञ्च तन्मात्र पञ्च महाभूतों का क.रण होता है। पंच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियां ये सोलह कार्य ही होते हैं। ये किसी तत्त्वान्तर का कारण नहीं होते। इन चौबीस तत्त्वों से भिन्न एक पुरुषतत्त्व है जिसे आत्मा कहा जाता है, जो प्रकृति और विकृति दोनों से भन्न होता है। अर्थात् वह न किसी का कारण होता है, और न किसी का कार्य होता है। इस प्रकार इन पच्चीश तत्त्वों को चार वर्ग में विभक्त किया जा सकता है। [1]अविकृति=केवल कारणमात्र [2]प्रकृति विकृति-कारण कार्य उभयात्मक, [3]विकृतिमात्र-केवल कार्यरूप और [4]प्रकृतिविकृतिभिन्न यानी कारणकार्यभिन्न।

पूर्वं षोडशकपदेन पञ्चतन्मात्रै-कादशेन्द्रियग्रहणम्, अग्रे तु पञ्चमहाभूतेन्द्रियग्रहणमिति विशेषः ॥१८॥

इममेव क्रममाह—

मूलम्-प्रधानान्महतो भावोऽहंकारस्य ततोऽपि च ।
अक्षतन्मात्रवर्गस्य तन्मात्राद् भूतसंहतिः ॥१९॥

प्रधानात्=प्रकृतितत्त्वात्, **महतः**=बुद्धितत्त्वस्य, **भावः**=उत्पत्तिः अभिव्यक्तिर्वा, ततोऽपि च, अहङ्कारस्य 'भाव' इत्युत्तरत्राप्यनुपज्यते। 'ततोऽपि' इत्युत्तरत्राऽऽवर्त्यते, **ततोऽपि** अहङ्कारादपि, **अक्ष-तन्मात्रवर्गस्य**=एकादशेन्द्रिय-पञ्चमहाभूतानां (? तन्मात्राणां) भावः, **तन्मात्रात्**=जात्यपेक्षयैकवचनात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः **भूतसंहतिः**=पञ्चमहाभूतानां भावः ॥१९॥

स्थूलकार्यमधिकृत्याह—

मूलम्-घटाद्यपि पृथिव्यादिपरिणामसमुद्भवम् ।
नात्मव्यापारजं किञ्चित्तेषां लोकेऽपि विद्यते ॥२०॥

घटाद्यपि=स्थूलकार्यजातम्, पृथिव्यादीनां मृदात्मिकानां परिणामाद्=विलक्षणसंयोगादिपरिणामात् समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तत्, परिणामान्तराभ्युपगमात् । विशेषमाह-तेषां=

प्रथमवर्ग में केवल मूल प्रकृति का समावेश होता है । द्वितीयवर्ग में महत्तत्त्व, अहंकार एवं पंचतन्मात्र का समावेश होता है। तृतीय वर्ग में पंचमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियों का समावेश होता है। चतुर्थ वर्ग में केवल पुरुष का समावेश होता है।

'प्रकृतेर्महान्' इस कारिका में आये षोडशक शब्द से पञ्चतन्मात्र और एकादश इन्द्रिय का ग्रहण एवं 'मूलप्रकृति०' इस कारिका में आये षोडशक शब्द से पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रिय का ग्रहण अभीष्ट है यह ध्यान में रहना चाहिये ।।१८।।

[प्रधान-महत्-अहंकार-इन्द्रियतन्मात्र-पञ्चभूत का क्रम]

कारिका १९ में महत् आदि तेईस तत्त्वों को उत्पत्ति का वही क्रम स्फुट किया गया है जिसका संकेत ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'प्रकृतेर्महान्०' इस कारिका में किया है। इस कारिका का अर्थ अति सुगम है जैसे-प्रधान प्रकृतितत्त्व से महत्-बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति होती है, और महत् तत्त्व से अहंकार की, अहंकार से अक्ष=ग्यारह इन्द्रिय और पंचतन्मात्र को, एवं पंचतन्मात्र से पंचमहाभूतों को उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। कारिका में 'तन्मात्र' शब्द से एकवचन विभक्ति का प्रयोग हुआ है। वह तन्मात्र संख्या की दृष्टि से उचित न होने पर भी, तन्मात्रत्व जाति की दृष्टि से उचित है क्योंकि पाँचों तन्मात्रों में तन्मात्रत्व नाम को एक जाति-एक अनुगत धर्म रहता है ।।१९।।

[सांख्यमत में आत्मा व्यापारशून्य है]

कारिका २० में स्थूल कार्य की उत्पत्ति और आत्मा के अकारणत्व का उल्लेख है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

सांख्यानाम्, लोकेऽपि=जगत्यपि, आत्मव्यापारजं किञ्चित् किमपि कार्यं नास्ति, आत्मव्यापारस्यैवाऽभावात् सुतरां तज्जन्यत्वाभावः। इति सांख्याशयवार्ता ॥२०॥

अत्र प्रतिक्षेपवार्तामाह—

मूलम्-अन्ये तु ब्रुवते ह्येतत्प्रक्रियामात्रवर्णनम्।
अविचार्यैव तद्युक्त्या, श्रद्धया गम्यते परम् ॥२१॥

अन्ये तु=असत्कार्यवादिनः ब्रुवते, हि=यतः, एतत्=अनुपदमभिहितम्, प्रक्रियामात्रवर्णनम्=यदृच्छाक्लृप्तपरिभाषामात्रोपदर्शनम्, न तात्त्विकमेव। तत्=तस्माद् हेतोः, युक्त्याऽविचार्यैव, परं=केवलम्, श्रद्धया=वृद्धोक्तभक्त्या, गम्यते=उपादीयते ॥२१॥

कुतः? इत्याह—

मूलम्-युक्त्या तु बाध्यते यस्मात्प्रधानं नित्यमिष्यते।
तथात्वाऽप्रच्युतौ चास्य महदादि कथं भवेत्? ॥२२॥

घट आदि जितने भी स्थूल कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के मिट्टी आदि परिणामों के विलक्षणसंयोगादिरूप परिणाम से समुद्भूत होते हैं। उन के लिए किसी अन्यतत्त्व को आवश्यकता नहीं होती। यह स्वीकार किया गया है कि महाभूतों के ही एक परिणाम से दूसरे परिणाम की उत्पत्ति होती रहती है, पृथ्वी आदि परिणाम भी तत्त्वरूप नहीं होते, क्योंकि वे किसी कार्य के उपादान नहीं होते, जो किसी कार्य का उपादान होता है वही तत्त्व कहा जाता है। पृथ्वी आदि के साक्षात् या परम्परया जितने परिणाम होते हैं उन सबों का उपादान पृथ्वी आदि तत्त्व ही होता है। उन परिणामों में परस्पर में उपादान-उपादेय भाव न हो कर निमित्त-नैमितिक भाव ही होता है। जैसे मृत्तिका घट का उपादान न होकर निमित्त है, उपादान तो दोनों का पृथ्वीतत्त्व ही है। साँख्यमत में पुरे जगत में कहीं भी आत्मा के व्यापार से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि आत्मा में कोई व्यापार ही नहीं होता है और जब उस में कोई व्यापार ही नहीं होता तो उस का किसी वस्तु का जनक होना किसी भी प्रकार संभव नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी कार्य का जनन करने के लिए कारण को कुछ व्यापार करना पडता है अतः जो किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकता वह किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता। इसीलिए साँख्य सिद्धांत में पुरुष को अकारण माना गया है-यह सांख्यमत का प्रतिपादन हुआ ॥२०॥

[युक्ति से सांख्यमत को आलोचना-उत्तरपक्ष]

२१ वीं कारिका में पूर्ववर्णित सांख्यमत के खण्डन का उपक्रम किया गया है।

कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

असत् कार्यवादी विद्वानों का यह कहना है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार जगत् और पुरुष के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह स्वेच्छा से स्वीकार की गई परिभाषा का प्रदर्शनमात्र है, उस में कोई प्रामाणिकता नहीं है इस लिये युक्तिपूर्वक विचार न कर केवल उपदेश के प्रति शुद्धश्रद्धामात्र से ही वह उपादेय हो सकता है ॥२१॥

युक्त्या तु बाध्यते, यस्मात् प्रधानं नित्यम्=अप्रच्युताऽनुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावम् इष्यते=सांख्यैरङ्गीक्रियते अस्य-प्रधानस्य, तथात्वाऽप्रच्युतौ च=प्रधानत्वाऽप्रच्युतौ च, महदादि कथं भवेत् *? पूर्वस्वभावपरित्यागाऽपूर्वस्वभावोपादानाभ्यामेव हेतु-हेतुमद्भावनियमात्, अङ्गदादिपरिणामनाशेनैव कुण्डलादिपरिणामोत्पाददर्शनादिति भावः ॥२२॥

२२ वीं कारिका में 'सांख्यवर्णित मत कोरी श्रद्धामात्र से ही क्यों उपादेय है' इस को स्पष्ट किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

युक्तिपूर्वक विचार करने पर सांख्य का मत प्रमाण से बाधित हो जाता है क्योंकि सांख्य शास्त्र के विद्वानों ने प्रधान-प्रकृति को नित्य माना है और नित्य उसी वस्तु को कहा जाता है जो सदा एक रूप में स्थिर रहे, जिस का कभी भी न किसी रूप में स्खलन हो और न किसी रूप में उत्पादन हो जैसे सांख्यसम्मत पुरुष । अतः प्रधान भी इसी रूप में नित्य होगा । फलतः प्रधानत्व रूप से उस का स्खलन न होने के कारण उस से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि कारण होने के लिए पूर्वस्वरूप का त्याग और कार्य होने के लिए अपूर्व स्वरूप का ग्रहण आवश्यक होता है, जैसे अङ्गद बाजूबंद आदि के रूप में स्थित सुवर्ण को कुण्डलादि का कारण होने के लिए अङ्गदादि स्वरूप का परित्याग और कुण्डलादि स्वरूप का ग्रहण करना पडता है । अतः प्रधान को भी महत्

*एक आधुनिक विद्वान इस पर लिखता है—"हरिभद्र की आपत्ति किसी गलतफहमी पर आधारित प्रतीत होती है, क्योंकि वस्तुतः सांख्य दार्शनिक की 'प्रकृति' नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील ठीक उसी प्रकार है जैसे कि जैन-दर्शन की मान्यतानुसार विश्व की सभी जड-चेतन वस्तुएँ नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील है ।—" वस्तुतः आ० श्री हरिभद्रसूरि की कोई गलतफहमी नहीं है चूँकि उन को यहाँ नित्यता का नहीं एकान्तनित्यता का खंडन अभिप्रेत है जो २४ वीं कारिका में स्पष्ट है । इतनी सरल बात को न समझ पाना यही तो गलतफहमी है ।

इसी प्रकार इस विद्वान ने शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना में अपनी बेनमून विद्वत्ता का जो प्रदर्शन किया है उस का एक यह भी उदाहरण है—वह लिखता है—"हरिभद्र ने सांख्य दार्शनिक को छूट दी है कि यदि वह अपनी प्रकृति का वर्णन ठीक उसी प्रकार करे जैसे कि जैन दर्शन में कर्मप्रकृति का (अर्थात् 'कर्म' नाम वाले भौतिक तत्त्व का) किया गया है तो उसका प्रस्तुत मत निर्दोष बन जायेगा, ... लेकिन यह एक विचारणीय बात है कि सांख्य दार्शनिक की 'प्रकृति' एक है तथा उसके रूपान्तरण की परिधि समूचा जड जगत् है, जब कि जैन दर्शन की 'कर्म प्रकृतियां' अनेक है । तथा उनके रूपान्तरण की परिधि जड-जगत का एक भाग मात्र है।"

सज्जनों को सोचना चाहिये कि—आ० श्री हरिभद्र सूरि का अभिप्राय यह है कि 'सांख्य' प्रकृति को सारे जगत् का उपादान कारण मानता है उस के स्थान में निमित्त कारण मान लिया जाय तो जैन मत यानी वास्तविकता के साथ उसका भी मेल हो जाय । इस ऋजु अभिप्राय न समझ कर इस विद्वान ने जो अंट संट लिख दिया है वह केवल शब्दाडंबर के सिवा और क्या है ? इस विद्वान् ने तो ऐसे अनेक असमञ्जस विधान उस की प्रस्तावना में कर डाले हैं । वास्तव में तो अल्पज्ञ होने पर भी घमंडी और, महामहीम पूर्वाचार्यों के गौरव को गिराने की धृष्टता करना ही जिनका जीवनव्रत है उन आधुनिक पंडितों से भारत के उज्जवल भावि की क्या आशा करना !

अथ "नाऽस्माभिरपूर्वस्वभावोत्पत्त्या हेतु-हेतुमद्भावोऽभ्युपगम्यते यतो रूपभेदादनित्यता प्रसज्येत, किन्त्वपरित्यक्तसर्पभावस्य सर्पस्य कुण्डलावस्थावदपरित्यक्तप्रधानभावस्यैव प्रधानस्य महदादिपरिणामाभ्युपगम इति को दोषः, युवत्व-वृद्धत्वादिपरिणामयोरप्यवस्थित एव धर्मिणि पूर्वोत्तरभावनियमेनाऽवस्थासांकर्यात् ।" इत्यभिप्रायमुट्टङ्क्य निराकुरुते—

मूलम्—तस्यैव तत्स्वभावत्वादितिचेत्किं न सर्वदा ।
अत एवेति चेत्तस्य तथात्वे ननु तत्कुतः ? ॥२३॥

'तस्यैव=प्रधानस्यैव, एवकारेण स्वभावान्तरव्यवच्छेदः, तत्स्वभावत्वात्=महदादिजननस्वभावत्वात्, तथात्वाऽप्रच्युतावपि महदाद्युत्पत्तिरित्युपस्कारः' इति चेत् ? तदा सर्वदा किं न भवति महदादिकम् ? प्रकृतिसंनिधानस्य सर्वदा सत्त्वादेकहेलयैव जगत् स्यात्, समर्थस्य कालक्षेपाऽयोगादित्याशयः। परः प्राह—अत एव=कदाचिज्जननस्वभावत्वादेव न सर्वदोत्पत्ति-

---

आदि का कारण होने के लिए अपने पूर्वस्वरूप का त्याग और नये स्वरूप का ग्रहण करना होगा और यह होने पर उस की नित्यता समाप्त हो जायगी। अतः नित्यप्रकृति से अनित्य महत् आदि की उत्पत्ति युक्तिसंगत न हो कर उपदेष्टा के प्रति अटूट श्रद्धाभाव होने के कारण ही मानी जा सकती है॥२३॥

(प्रकृति की नित्यता के बचाव में आशंका)

२३ वीं कारिका सांख्यों के एक विशेष अभिप्राय के निराकरणार्थ प्रस्तुत हुई है। वह अभिप्राय यह है कि-कार्यकारणभाव के लिए नये रूप की उत्पत्ति और पूर्वरूप का परित्याग आवश्यक नहीं है जिस से रूपभेद से प्रकृति में अनित्यता की आपत्ति हो। किन्तु सर्प जैसे अपने सर्पभाव का परित्याग बिना किये ही कुण्डलावस्था का जनक हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति अपनी प्रधान अवस्था का परित्याग बिना किये भी महत् आदि का कारण हो सकती है ऐसा मानने में कोई दोष नहीं हो सकता। इस बात को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है-व्यक्ति में यौवन, वार्धक्य इत्यादि परिणाम व्यक्तिरूप धर्मी की स्थिरता का घात न करके ही उस में क्रम से उत्पन्न होते हैं और उन में पूर्वोत्तरभाव का नियम होने के कारण सांकर्य नहीं होता। उसी प्रकार प्रधान में भी उस की नित्यता को बाधित किये बिना ही महत् आदि असंकीर्ण परिणामों का उदय यदि माना जाय, तो कोई हानि नहीं हो सकती।

इस अभिप्राय को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है और उस के निराकरणार्थ जो बात कही गयी है वह कारिका की व्याख्या में स्पष्ट है व्याख्या इस प्रकार है-

"प्रधान स्वयं ही (-अपने पूर्व स्वभाव का परित्याग बिना किये ही) महत् आदि के उत्पादक स्वभाव से संपन्न है, अतः प्रधान अपने सहज स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित रहते हुए भी उस से महत् आदि की उत्पत्ति हो सकती है।" सांख्यो की ओर से महत् आदि तत्त्वों और कार्य-कारण भाव के विषय में ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि महत्

रित्याशयः । वाद्याह-इति चेत्, 'ननु' इत्याक्षेपे. तस्य=प्रधानस्य तथात्वे=नियतस्वरूपाऽविकृतत्वे तत्=कदाचिज्जननस्वभावत्वम् कुतः ? एकरूपा हि प्रकृतिः सदैव महदादि जनयेत्, कदापि वा न जनयेत् । 'तत्तत्कालावच्छिन्नजनना-ऽजननोभयनिरूपितैकस्वभावत्वादयमदोष' इति चेत् ? जनना-ऽजननयोस्तत्तत्कालावच्छिन्नत्वे तत्स्वभावत्वम्, तत्स्वभावत्वे च तयोस्तत्त्वमित्यन्योन्याश्रयः । स्वस्वभावादेव तयोस्तत्त्वे च विलीनं प्रकृत्यादिप्रक्रिययेति भावः ॥२३॥

आदि को उत्पन्न करने के लिए यदि प्रधान में कोई नई घटना आवश्यक न होगी तो उस से नियत समय में ही महत् आदि की उत्पत्ति न होकर सर्वदा उस की उत्पत्ति की आपत्ति होगी । अतः प्रकृति से एक साथ ही समुचे जगत के जन्म की प्रसक्ति होगी. क्योंकि प्रधान में यदि जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, तो जगत् की उत्पत्ति का विलम्ब नहीं हो सकता. क्योंकि जो जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उस की उपस्थिति होने पर कार्य के उत्पादन में विलम्ब नहीं करता जैसे न्यायमत में कर्म विभाग को उत्पन्न करने में समर्थ होता है तो कर्म से विभाग की उत्पत्ति में विलंब नहीं होता । कर्म के दूसरे क्षण में ही विभाग का जन्म हो जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि-'प्रधान में महत् आदि को नियतकाल में ही उत्पन्न करने का सामर्थ्य है अतः सर्वदा उस की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान यदि अपने सहज स्वरूप में कुछ भी विकृत हुए बिना ही महत् आदि को उत्पन्न करेगा तो नियतकाल में भी वह महत् आदि को उत्पन्न न कर सकेगा । कहने का आशय यह है कि प्रकृति यदि सर्वदा एक रूप ही रहेगी. उसमें किंचित् भी कोई नई बात नहीं होगी-वह अपने सहज सदातन रूप में ही रह कर महत् आदि का जनक मानी जायगी तो उस से या तो सर्वदा महत् आदि की उत्पत्ति होगी अथवा कभी भी नहीं होगी 'क्योंकि कभी उत्पन्न करना और कभी उत्पन्न न करना' यह बात किसी आगन्तुक निमित्त की अपेक्षा के बिना नहीं बन सकती ।

[जनन-अजनन उभयस्वभाव में अन्योन्याश्रय]

यदि यह कहा जाय- प्रकृति का यह सहज स्वभाव है कि किसी काल में महत् आदि का जनन करें और कालान्तर में उस का जनन न करे । अतः प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त आपत्ति नहीं हो सकती है' तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि महत् आदि के जनन और अजनन में तत्तत्कालावच्छिन्नत्व सिद्ध हो जाने पर ही प्रकृति में तत्तत्कालावच्छेदेन महत् का जनन और अजनन करने के स्वभाव की कल्पना हो सकेगी और इस प्रकार का स्वभाव सिद्ध हो जाने पर ही उसके बल से महत् आदि के जनन और अजनन में तत्तत्कालावच्छिन्नत्व सिद्ध हो सकता है इस में अन्योन्याश्रय है । इस अन्योन्याश्रय दोष के कारण यह कल्पना संभव नहीं हो सकती । यदि इस अन्योन्याश्रय का परिहार करने के लिए महत् आदि के जनन और अजनन में तत्तत्कालावच्छिन्नत्व को भी स्वाभाविक मान लिया जायगा तो प्रकृति से महत् और महत् से अहंकारादि की उत्पत्ति की जो प्रक्रिया सांख्य में वर्णित है वह अनावश्यक होने से समाप्त हो जायगी, क्योंकि सभी कार्य अपने स्वभाव से ही तत्तत्काल में संपन्न हो जायेंगे ॥२३॥

उपचयमाह—

मूलम्—नानुपादानमन्यस्य भावेऽन्यज्जातुचिद्भवेत् ।
तदुपादानतायां च न तस्यैकान्तनित्यता ॥२४॥

अनुपादान=तथाभाविकारणविकलम्, अन्यस्य=सर्वथा तथाभाविव्यतिरिक्तस्य प्रधानस्य, भावे=संनिधाने, अन्यत्=एकान्ताऽविद्यमानं महदादि; जातुचित्=कदाचित्, न भवेत्, सर्वथाऽसतः सत्ताऽयोगात्। तदुपादानतायां च महदादेरभ्युपगम्यमानायां न तस्य=प्रधानस्य, एकान्तनित्यता, अनित्यमहदाद्यभिन्नत्वात्। 'महदाद्यपि सदासत्त्वाद् नित्यमेवे'ति चेत्? गता तर्हि प्रकृति-विकृत्यादिप्रक्रिया, मुक्तावपि तत्सत्त्वेऽपदर्शनं च। 'महदादेः प्रकृतिपरिणामित्वेन प्रकृत्यभिन्नत्वेऽप्यनित्यत्वादिना भेद एवे'ति चेत्? तर्हि भेदाऽभेदप्रसङ्ग इति दिग् ॥२४॥

(प्रकृति को महत् का उपादान मानने में अनित्यता की आपत्ति)

२४ वीं कारिका में पूर्व कारिका में कहे गये अर्थ की ही संपुष्टि की गई है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

महत् आदि कार्यों को यदि उपादानहीन माना जायगा अर्थात् यदि उस का कोई ऐसा कारण नहीं माना जायगा जिस में महत् आदि की उत्पत्ति के पूर्व में भी महत् आदि का अस्तित्व होता हो, तो कारण में अविद्यमान ही महत् की उत्पत्ति माननी होगी। फलत: प्रधान का सन्निधान होने पर भी उस में प्रथमतः अविद्यमान होने के कारण महत् आदि की उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि जो सर्वथा असत् होता है वह कभी सत् नहीं हो सकता है। और यदि प्रधान को महत् आदि कार्यों का उपादान कारण माना जायगा, और कारणरूप में उस में महत् आदि का अस्तित्व माना जायगा तो प्रधान की एकान्त नित्यता का भंग हो जायगा, क्योंकि उपादानकारण और कार्य में अभेद का नियम होने से प्रधानरूप उपादान कारण भी अपने कार्य अनित्य महत् आदि से अभिन्न होने के कारण कार्यात्मना अनित्य हो जायगा।

यदि कहें कि-'महत् आदि भी सर्वदा सत् होने से नित्य ही होता है'-तो महत् आदि तत्त्व और प्रकृति में कार्य कारण भाव की मान्यता समाप्त हो जायगी। और महत् आदि नित्य होने पर मोक्षकाल में उस का अस्तित्व मानने पर सिद्धान्त की हानि होगी। इसप्रकार सांख्यदर्शन कुदर्शन बन जायगा -'महत् आदि प्रकृति का परिणाम है और परिणाम परिणामी से अभिन्न होते हुए भी अनित्य होता है इसलिए महदादि प्रकृति से अभिन्न होने पर भी अनित्य होने से प्रकृति से भिन्न होगा, अत एव महत् आदि का अपने अभिव्यक्तरूप में सर्वदा सत् न होने से न तो उसे प्रकृति का कार्य होने में कोई बाधा होगी और न मोक्ष काल में उस के अस्तित्व का प्रसंग होकर सांख्य सिद्धान्त की हानि होगी'-तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर एक ही वस्तु में भेद और अभेद का प्रसंग होने से सांख्य को स्याद्वाद वा अनेकान्तवाद के द्वार पर दौवारिक बनना पड़ेगा ॥२४॥

स्थूलकार्यमधिकृत्याऽप्याह—

मूलम्—घटाद्यपि कुलालादिसापेक्षं दृश्यते भवत् ।
अतो न तत्पृथिव्यादिपरिणामैकहेतुकम् ॥२५॥

घटाद्यपि=स्थूलकार्यजातम्, **कुलालादिसापेक्षं** भवद् **दृश्यते**, कुलालादीनां तत्राऽन्वयव्यतिरेकानुविधानदर्शनात् । अतस्तत् पृथिव्यादिपरिणामैकहेतुकं न भवति, नियतान्वयव्यतिरेकौ विना तादृशपरिणामेऽपि हेतुताग्रहाभावात्, तयोश्च कुलालादावविशेषात् । 'कार्यगतयावद्धर्मानुविधायित्वात् हेतोः कुलालादीनां न घटादिहेतुत्वमि'ति चेत् ? तर्हि बुद्धिगता रागादयोऽपि प्रकृतौ स्वीकर्तव्याः, इति सैव बुद्धिः भावाष्टकसंपन्नत्वात्, न तु प्रकृतिः । 'स्थूलरूपतामपहाय सूक्ष्मरूपतया ते तत्र सन्ती'ति चेत् ? लयाद्यवस्थायां सौक्ष्म्यं बुद्धावपि समानम्, सूक्ष्मतया घटादिगतधर्माणां कुलालादौ कल्पने बाधकाभावश्च ॥२५॥

[घटादि कार्य पृथ्वी आदि के परिणाम मात्र से जन्य नहीं]

२५ वीं कारिका में स्थूलकार्यों में कर्तृसापेक्षता बताते हुए कार्य में कर्तृनिरपेक्षता के खण्डन का संकेत किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है —

घटादि कार्य कुलालादि कर्त्ता की अपेक्षा से उत्पन्न होता है यह बात देखने में आती है क्योंकि घटादि में कुलालादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान देखा जाता है । अर्थात् कुलाल आदि के रहने पर घटादि का जन्म होता है और कुलालादि के अभाव में घटादि का जन्म नहीं होता है । इसलिये यह कहना उचित नहीं हो सकता कि 'घटादि कार्य पृथ्वीआदि के परिणाममात्र से ही उत्पन्न होते हैं, क्यों कि पृथ्वीआदि के परिणाम में भी अन्वयव्यतिरेक के बिना घटादि की कारणता का ज्ञान नहीं होता है किन्तु अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है और जब अन्वय-व्यतिरेक के नाते पृथ्वी आदि के परिणाम को घटादि का कारण माना जाता है तो पृथ्वीआदि के परिणाम के समान ही कुलालादि में भी अन्वय-व्यतिरेक होने के नाते कुलालादि में भी घटादि की कारणता मानना आवश्यक है । यदि यह कहें कि 'हेतु में कार्य के सभी धर्मों का सम्बन्ध होना आवश्यक होता है किन्तु कुलालादि में घटादि के सभी धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता । अतः कुलालादि घटादि का कारण नहीं हो सकता' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हेतु में कार्य के सभी धर्मों के सम्बन्ध का होना आवश्यक नहीं माना जा सकता । यदि ऐसा माना जायगा तो प्रकृति में बुद्धि के रागादि धर्मों का भी अस्तित्व मानना होगा और उस दशा में धर्म-अधर्मादि आठ भावों से संपन्न होने के कारण प्रकृति ही बुद्धि बन जायगी ।

यदि यह कहा जाय कि 'धर्म-अधर्मादि आठ भाव अपने स्थूल रूप का परित्याग कर सूक्ष्मरूप से प्रकृति में रहते हैं । अतः वह बुद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि स्थूल रूप से भावाष्टकसम्पन्न को ही बुद्धि कहा जाता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर लयादि की अवस्था में बुद्धि भी बुद्धि न हो सकेगी, क्योंकि उस समय उस में भी भावाष्टक स्थूलरूप से न रह कर सूक्ष्मरूप से ही रहते हैं । और दूसरी बात यह है कि यदि कारण में कार्यगत सभी धर्मों का होना आवश्यक हो तब भी कुला-

चेतनेऽचेतनधर्मसंक्रमे परिणामित्वादिबाधकम् , कुलालादिदेहस्तु घटादिकर्तेष्यत एवेत्याशङ्क्याह–

मूलम्– [१]तत्रापि देहः कर्ता चेन्नैवासावात्मनः पृथक् ।
पृथगेवेति चेद्भोग आत्मनो युज्यते कथम् ? ॥२६॥

'तत्रापि–घटादावपि, देहः कर्ता, स्थूलरूपावच्छिन्नस्य तस्य कुलालादिचेष्टयैवोत्पादात्' इति चेत् ? नैव असौ-देहः, आत्मनः पृथक्-भिन्नः सर्वगतत्वात् निष्क्रियत्वाच्च । 'आत्माऽसर्वगत-सक्रियदेहात् पृथगेवे'ति चेत् ? तर्हि भोगः कथं युज्यते, सर्वथा देहाद् भेदे तस्य मुक्तकल्पत्वात् ? क्षीर-नीरन्यायेन देहाऽभिन्नस्यैवाऽऽत्मनो देहोपनीतभोगसंभवादिति भावः ॥२६॥

नास्त्येव तत्त्वत आत्मनो भोग इतीष्टापत्त्या परः स्वाभिप्रायमाह—

मूलम्–देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते ।
प्रतिबिम्बोदयात्किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥२७॥

लादि में घटादि की कारणता सम्भव हो सकती है। क्योंकि कुलालादि में घटादि के सभी धर्मों को सूक्ष्मरूप से स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥२५॥

[आत्मा क्षीर-नीरन्याय से देहाभिन्न है

२६ वीं कारिका में चेतन में अचेतनधर्म का संक्रमण होने में परिणामित्व का बाध बताते हुए कुलालादि के देह में घटादि के कर्तृत्व की शङ्का का समाधान किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है

'कुलालादि का आत्मा घट का कर्ता नहीं है किन्तु उस का देह कर्ता है। क्योंकि घटादि के स्थूल रूप की रचना कुलालादि की चेष्टा से होती है और चेष्टा आत्मगत न होकर शरीरगत होती है।' किन्तु ऐसा कहने पर भी घटादि के प्रति कुलालादि के आत्मा के कर्तृत्व का परिहार नहीं हो सकता। क्योंकि जब कुलालादि का देह घटादि का कर्ता होगा तो उस की आत्मा भी घटादि का कर्ता होना आवश्यक हो जायगा क्योंकि देह आत्मा से पृथक् नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि 'आत्मा सर्वगत और निष्क्रिय होती है, एवं देह असर्वगत और सक्रिय होती है अतः आत्मा का देह से पार्थक्य अनिवार्य है'--तो यह ठीक नहीं हैं क्योंकि आत्मा को देह से सर्वथा भिन्न मानने पर वह आत्मा मुक्तकल्प हो जायगा और संसार दशा में भी उस में भोग न हो सकेगा क्योंकि क्षीरनीर के समान आत्मा देहाभिन्न होने पर ही उस में देह द्वारा भोग का उपपादन हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥२६॥

(बुद्धि पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से भोग उपचार)

२७ वीं कारिका में सांख्य के इस अभिप्राय का उल्लेख किया गया है कि आत्मा में भोगाभाव का आपादान इष्ट ही है, क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टि से भोग का आश्रय नहीं होता।

---

१ 'देहस्तत्रापि कर्त्ता चेत्' यह पाठ उचित हो सकता है किन्तु टीकानुसारेण मूल में 'देह' पद के अनन्तर विसर्ग का प्रश्लेष प्रतीत होता है।

देहेन भोगो देहभोगस्तेन, 'धान्येन धनम्' इतिवदमेदे तृतीया, देहभोगेन=देहद्वारेति वाऽर्थः, नैव, अस्य=आत्मनः, भावतः=तत्त्वतः, इष्यते भोगः, किन्तु प्रतिबिम्बोदयात्। यद्यप्येवमपि सुख-दुःखाद्यन्तःकरणधर्मानुविद्धस्य महत एव स्वतोऽचेतनस्य चेतनोपरागेण 'चेतनोऽहं सुखी'त्याद्यभिमानरूपश्चैतन्यांशेऽतात्त्विको भोगः, न तु पुरुषस्य, तथापि भोक्तृबुद्धिसंनिधानात् तत्र भोक्तृत्वव्यवहारः। तदाह पतञ्जलिः-'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते' इति। केचित्तु-बुद्धौ पुरुषोपरागवत् पुरुषेऽपि बुद्ध्युपरागं वर्णयन्ति, न चैवं विकृतत्वापत्तिः, अतात्त्विकोपरागेण तदयो-

---

कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

कारिका के अन्तर्गत आये देहभोग शब्द की 'देहेन भोगः' इस प्रकार व्युत्पत्ति होती है। इस व्युत्पत्ति में देह शब्द के उत्तर विद्यमान तृतीयाविभक्ति का अर्थ अभेद हो सकता है जैसे 'धान्येन धनम्' इस वाक्य में धान्य शब्दोत्तर तृतीया का अभेद अर्थ होता है। अतः देहभोग शब्द का अर्थ होता है देहात्मको भोगः। ऐसा अर्थ करने पर भोग शब्द को भुज् धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न मानना होगा। और ऐसा होने पर देहभोग शब्द का अर्थ होगा भोग का देहात्मक साधन। उक्त व्युत्पत्ति में भोग शब्द को भावार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न मानने पर देहशब्दोत्तर तृतीया का 'द्वार' अर्थ करना होगा। और तब देहभोग शब्द का अर्थ होगा-देह द्वारा होनेवाला भोग। देहभोग शब्द के उक्त दोनों अर्थों में कोई भी अर्थ लेने पर यही तथ्य उपलब्ध होता है कि भोग के देहाभिन्न साधन से अथवा देहद्वारा होनेवाले भोग से आत्मा में वास्तविक भोग नहीं उपपन्न होता। क्योंकि आत्मा पूर्णरूप से कूटस्थ है। अतः विन्ध्यवासी आदि पूर्ववर्ती सांख्यवेत्ता विद्वानों ने यह कहा है कि भोग के वास्तव आश्रयभूत बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से बुद्धिगत भोग का आत्मा में आभास मात्र होता है। यह ज्ञातव्य है कि प्रतिबिम्ब द्वारा भी आत्मा में भोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'चेतनोऽहं सुखी' इस अभिमान को ही चैतन्यस्वरूप आत्मा में सुख का अतात्त्विक भोग कहा जा सकता है। किन्तु यह अभिमान भी सुखदुःखादि अन्तःकरणधर्मों से अनुविद्ध एवं स्वतः अचेतन महत्तत्त्व में ही चेतनोपरागवश होता है। अतः इस से आत्मा भोग का आश्रय सिद्ध नहीं हो सकता। यथार्थ में भोग का आश्रय तो बुद्धि ही होती है। अतः उस के सन्निधान से पुरुष में भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र होता है। जैसा कि पतञ्जलि ने योगसूत्र के भाष्य में कहा है-'पुरुष नितान्तशुद्ध होता है। वह बुद्धिगत ज्ञान का अनुद्रष्टा मात्र होता है। और अनुद्रष्टा होने के कारण ही ज्ञानात्मक न होने पर भी ज्ञानात्मक जैसा प्रतीत होता है'। पतञ्जलि के इस वचन का तात्पर्य पुरुष में भोक्तृत्व न होने पर भी भोक्तृत्व व्यवहार के प्रदर्शन में ही है।

(पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्ब से विकृति का प्रसंग)

कुछ विद्वान बुद्धि में पुरुष के उपराग के समान पुरुष में भी बुद्धि का उपराग बताते हैं। उन का आशय यह है कि जैसे बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पडता है उसीप्रकार पुरुष में भी बुद्धि का प्रतिबिम्ब पडता है। ऐसा माननेपर यह शङ्का नहीं की जा सकती कि-'पुरुष यदि बुद्धि के प्रतिबिम्ब

गात् । तथा चाह वादमहार्णवः-'बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्य-ध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य, न तु विकारोपपत्तिः' इति । 'बुद्धिगतप्रतिबिम्बात्मन्येव बुद्धि-गतभोगोपसंक्रमः, बिम्बात्मनि तु न किञ्चित्' इत्यपरे ।

स्वोक्तेऽर्थेऽभियुक्तसंमतिमाह-यथोक्तं पूर्वसूरिभिः=विन्ध्यवास्यादिभिः ॥२७॥

किमुक्तम् ? इत्याह-

मूलम्-पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सांनिध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥२८॥

पुरुषः=आत्मा, **अविकृतमात्मैव**=अप्रच्युतस्वभाव एव, अचेतनं मनः, सांनिध्यात्=सामीप्याद् हेतोः, **स्वनिर्भासं**=स्वोपरक्तम् करोति । निदर्शनमाह-यथोपाधिः पद्मरागादिः स्फटिकं स्वधर्मसंक्रमेण स्वोपरक्तं करोति । न चैतावता स विकरोति, किन्तु स्फटिक एव विक्रीयते, तथाऽऽत्मापि बुद्ध्युपरागं जनयन् न विकरोति, किन्तु बुद्धिरेका विक्रीयत इति भावः ॥२८॥

को ग्रहण करेगा तो विकारी हो जायगा-' क्योंकि पुरुष में बुद्धि का जो प्रतिबिम्बात्मक उपराग होता है वह तात्त्विक नहीं होता । अत एव वह पुरुष को विकारयुक्त नहीं कर सकता । वादमहार्णव नामक ग्रन्थ में यह बात इस प्रकार स्फुट की गई है कि-जैसे एक दर्पण में पडा हुआ किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उस दूसरे दर्पण में भी संक्रान्त होता है जिसमें वस्तु के प्रतिबिम्ब से युक्त पहला दर्पण प्रतिबिम्बित होता है । उसी प्रकार वस्तु का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पडता है और उस प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पडता हैं । अतः बुद्धिगत वस्तुप्रतिबिम्ब पुरुष में भासित होता है । बुद्धि के प्रतिबिम्ब द्वारा पुरुष में बुद्धिगत वस्तुप्रतिबिम्ब का भासित होना ही पुरुष का भोक्तृत्व है । इस प्रकार का भोक्तृत्व होने पर भी पुरुष में कोई विकार नहीं होता । अन्य विद्वानों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि बुद्धि में पुरुष-आत्मा का प्रतिबिम्ब होने पर आत्मा के दो रूप हो जाते हैं । एक प्रतिबिम्ब आत्मा और दूसरा बिम्बात्मा । इन में बुद्धिगतभोग का सम्बन्ध प्रतिबिम्बात्मा में ही होता है. बिम्बात्मा में नहीं होता । अतः प्रतिबिम्बात्मा के विकृत होने पर भी बिम्बात्मा की निर्विकारता यथापूर्व बनी रहती है ॥२७॥

(आत्मसंनिधान से अन्तःकरण में औपाधिक चैतन्य)

२८ वीं कारिका में पूर्व संकेतित सांख्यवेत्ताओं के कथन को स्पष्ट किया गया है । कारिका अर्थ इसप्रकार है-

आत्मा अपने सन्निधान से अचेतन मन को उपरक्त करता है अर्थात् उसमें अपने चैतन्य की प्रतीति कराता है और ऐसा करने पर भी वह अपने स्वरूप से अविकृत ही रहता है । यह बात स्फटिक के दृष्टान्त से बताई गई है । आशय यह है कि जैसे पद्मरागमणि आदि उपाधि समीपस्थ स्फटिक मणि को अपने वर्ण के संक्रमण द्वारा उपरक्त करती है किन्तु ऐसा करने पर भी वह

ततः किम्? इत्याह–

मूलम्–विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥२९॥

विभक्ता=आत्मभिन्ना, **ईदृक्परिणतिः**=अभिहितपुरुषोपरागपरिणामा च, इति कर्मधारयः, तस्यां, **बुद्धौ**=अन्तःकरणलक्षणायाम्, **अस्य**=आत्मनः, भोगः कथ्यते, आसुरिप्रभृतिभिः। किंवत्? इत्याह-यथा **चन्द्रमसः**=वास्तवस्य चन्द्रस्य, **प्रतिबिम्बोदयः**=प्रतिबिम्बपरिणामः, **स्वच्छे**=निर्मले, **अम्भसि**=जले ॥२९॥

तदिदमखिलमपाकुर्वन्नाह–

मूलम्–प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य नामूर्त्तत्वेन युज्यते ।
मुक्तेरतिप्रसङ्गाच्च न वै भोगः कदाचन ॥३०॥

प्रतिबिम्बोदयोऽपि, **अस्य**=अमूर्तत्वेन न युज्यते, छायावन्मूर्तद्रव्येणैव हि प्रतिबिम्बाख्यं स्वाकारं भास्वरद्रव्योपादानं द्रव्यमारभ्यते, तथा चार्षम्–[प्र. म. टीका वृ० ३०५/२]

[1]सामा उ दिया छाया अभासुरगया णिसिं तु कालाभा।
सच्चेह भासुरगया सदेहवण्णा मुणेयव्वा ॥१॥ इति।

स्वयं विकृत नहीं होता अपितु उस के उपराग-सम्बन्ध से स्फटिक ही विकृत होता है उसी प्रकार आत्मा भी बुद्धि में अपने उपराग का जनक होकर भी स्वयं नहीं विकृत होता, किन्तु उस के उपराग से बुद्धि ही विकृत होती है ॥२८॥

(बुद्धि में पुरुषोपराग ही आत्मा का भोग है-आसुरि)

२९ वीं कारिका में पूर्व कारिका के कथन का निष्कर्ष बताया गया है।

कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

बुद्धि अन्तःकरण रूप है और पूर्वकारिका में वर्णित पुरुषोपरागरूप परिणाम से युक्त है एवं आत्मा से विभक्त=भिन्न है, वास्तव में भोग उसी में होता है। सांख्यशास्त्र के आसुरि आदि विद्वानों ने आत्मा में जो भोग का उल्लेख किया है वह भोगयुक्त बुद्धि में आत्मा के उपराग के कारण ही है, एवं अवास्तव है। यह बात जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से स्फुट होती है। जैसे अविकृत चन्द्रमा का निर्मल जल में प्रतिबिम्बात्मक परिणाम होता है उसी प्रकार सूक्ष्म बुद्धितत्त्व में अविकृत आत्मा का भी प्रतिबिम्बपरिणामात्मक उपराग हो सकता है ॥२९॥

[अमूर्त आत्मा का प्रतिबिम्ब असंगत है]

३० वीं कारिका में पूर्वकारिका तक सांख्य की ओर से प्रकट किये गये सम्पूर्ण विचार का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

---

(१) श्यामा तु दिवा छायाऽभास्वरगता निशि तु कालाभा। सा चेह भास्वरगता स्वदेहवर्णा ज्ञातव्या ॥१।

युक्तं चैतत्, अन्यथेदंत्वावच्छेदेन मुखभेदग्रहाऽभावात् । 'इदं मुखम्' इति प्रतीतेः कथञ्चिदुपपादनेऽपि 'इदं मुखप्रतिबिम्बम्' इति प्रतीतेः कथमप्युपपादयितुमशक्यत्वात् । मुखभ्रमाधिष्ठानत्वरूपमुखप्रतिबिम्बत्वस्य प्रागेवाऽग्रहात्, 'आदर्शे मुखप्रतिबिम्बम्' इत्याधाराऽऽधेयभावाध्यवसायानुपपत्तेश्च । एतेन 'मुखे बिम्बत्वमिवाऽऽदर्श एव प्रतिबिम्बत्वं मुखसांनिध्यदोषाऽभावादिसामग्र्याऽभिव्यज्यते' इति निरस्तम्, बिम्बोत्कर्षानुपपत्तेः, प्रतिबिम्बत्वाऽग्राहकसामग्र्या एवादर्शभेदभ्रमहेतुत्वेन 'अयं नाऽऽदर्शः, किन्तु मुखप्रतिबिम्बम्' इति सार्व-

आत्मा अमूर्त्त है । इसलिये बुद्धि तत्त्व में उसके प्रतिबिम्ब का उदय युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि जो द्रव्य मूर्त एवं छायावान होता है वही किसी भास्वर में अपने आकार का प्रतिबिम्बक द्रव्य को उत्पन्न कर सकता है जैसा कि 'सामा उदीया०' इस ऋषिप्रणीत गाथा में कहा गया है । गाथा का अर्थ यह है कि-' दिन में किसी अभास्वरद्रव्य में श्यामवर्णा और 'रात्रि के समय कृष्णावर्णा छाया होती हैं। वही जब भास्वरद्रव्य में प्रतिबिम्बित होती है । तब अपने द्रव्य के ही वर्ण में दिखाई देती है।'' इस गाथा से स्पष्ट है कि छायावान् मूर्त द्रव्य का ही भास्वर द्रव्य में प्रतिबिम्ब होता है । अतः छायाहीन अमूर्त आत्मा का बुद्धि में प्रतिबिम्ब मानना सङ्गत नहीं हो सकता। 'छायावान् मूर्त द्रव्य भास्वरद्रव्य में अपने समान प्रतिबिम्ब द्रव्य को उत्पन्न करता है' यह मानना ही युक्तिसङ्गत है क्योंकि यदि छायावान् मूर्त द्रव्य से भास्वर द्रव्य में उस के सदृश नये प्रतिबिम्ब द्रव्य की उत्पत्ति न मानी जायगी किन्तु भास्वर द्रव्य को बिम्बभूत द्रव्य के भ्रम का अधिष्ठान मात्र माना जायगा तो दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होने पर जो 'इदं मुखम्' यह प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति तो हो सकती है, क्योंकि 'इदं न मुखम्' इस प्रकार भेदग्रह न रहने के कारण 'इदं मुखम्' इस प्रतीति के होने में कोई बाधक नहीं हो सकता, किन्तु दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होने पर 'इदं मुखप्रतिबिम्बम्' यह भी प्रतीति होती है जिसका उपपादन नहीं हो सकेगा । क्योंकि यदि दर्पण में प्रतिबिम्ब मुख की उत्पत्ति न मानी जायगी तो मुख का प्रतिबिम्बत्व जो मुखभ्रम का अधिष्ठानत्वरूप है वह प्रतिबिम्ब काल में गृहीत नहीं है अतः 'इदं मुखप्रतिबिम्बम्' प्रतीति का होना अशक्य हैं। और यदि प्रतिबिम्ब को द्रव्यात्मक न माना जायगा तो 'आदर्शे मुखप्रतिबिम्बम्' इस प्रकार दर्पण और मुखप्रतिबिम्ब में आधार-आधेयभाव की प्रतीति भी न हो सकेगी, क्योंकि आधेय के अभाव में केवल आधार मात्र से आधार-आधेय भाव की प्रतीति नहीं हो सकती है।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह कहना है कि-दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पडते समय प्रतिबिम्बात्मक किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु मुखसान्निध्य और दोषाभावादि सामग्री से मुखमें बिम्बत्व और 'दर्पण में प्रतिबिम्बत्व की अभिव्यक्ति होती है–किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में आदर्श ही प्रतिबिम्ब कहा जायगा । अतः आदर्श और प्रतिबिम्ब में आधार आधेय भाव की उक्त प्रतीति की उपपत्ति इस मत में भी न हो सकेगी । एवं बिम्ब के उत्कर्ष से प्रतिबिम्ब का उत्कर्ष भी न हो सकेगा । आशय यह है कि दर्पण में छोटे मुख का छोटा प्रतिबिम्ब दीखता है और बडे मुख का बडा प्रतिबिम्ब दीखता है । यदि प्रतिबिम्ब नाम के नये द्रव्य की उत्पत्त नहीं होगी किन्तु आदर्श में ही प्रतिबिम्बत्व की अभिव्यक्ति मानी जायगी तो प्रतिबिम्ब में बिम्बाधीन अपकर्ष-उत्कर्ष की उपपत्ति न हो सकेगी । और प्रतिबिम्ब के समय 'अयं न आदर्शः'–यह दर्पण नहीं हैं किन्तु

जनीनानुभवानुपपत्तेश्च । न च प्रतिबिम्बस्य द्रव्यत्वे सावधिकत्वानुपपत्तिः, प्रतिबिम्बधर्मस्यैव महत्त्ववत् सावधिकत्वात् । न चाश्रयनाशे तन्नाशानुपपत्तिः, बिम्बसंनिधाननिमित्तजनितस्य तस्य तन्नाशेनैव नाशसंभवात् । न चैवमनन्तप्रतिबिम्बोत्पत्तिनाशादिकल्पने गौरवम्, सादृश्यातिरिक्तानन्तदोषादिकल्पने तवैव गौरवात्, अनुभवापलापाच्चेति, अधिकमाकरे । स्फटिकादौ लौहित्यादिकमपि पद्मरागादिमूर्तसंनिधिजन्य एव परिणामविशेषः, साक्षात्संबन्धेन तत्प्रतीतौ परम्परासंबन्धस्याऽतिप्रसक्तत्वात् । स्फटिकादिनिष्ठतया लोहिताश्रयसंसर्गस्य साक्षात्संबन्धेन लौहित्यभ्रमजनकत्वे तत्र विशेषदर्शनादेरुत्तेजकत्वे, परंपरासंबन्धेन लौहित्यप्रमानियामकत्वादिकल्पने चातिगौरवात् लौहित्यमात्रजनकत्वकल्पनाया एव न्याय्यत्वात्, अभिभूताऽनभिभूतरूपयोः समावेशस्याऽनुभवसिद्धत्वेनाऽविरुद्धत्वात्, नियतारम्भनिरासाच्चेति, अन्यत्र विस्तरः ।

मुखका प्रतिबिम्ब है' यह सार्वजनीन अनुभव होता है । इस अनुभव की भी उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि प्रतिबिम्बत्व की अग्राहक सामग्री ही आदर्श के भेदभ्रम का हेतु होती है । अतः आदर्श के भेदभ्रम के साथ प्रतिबिम्बत्व का ज्ञान होना संभव नहीं हो सकता।—'प्रतिबिम्ब को अतिरिक्त द्रव्य मानने पर उस में बिम्बावधिकत्व न हो सकेगा अर्थात् जब तक बिम्ब रहे तब तक उसका अस्तित्व न होकर बिम्ब के अभाव में भी उस के अस्तित्व की प्रसक्ति होगी'–यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्बावधिक नहीं होता किन्तु उस का प्रतिबिम्बत्वरूप धर्म ही सावधिक होता है । अर्थात् बिम्ब के न होने पर प्रतिबिम्ब का अभाव नहीं होता । किन्तु प्रतिबिम्बत्व की बुद्धि निरुद्ध हो जाती है, क्योंकि प्रतिबिम्बत्व के ग्रहण में बिम्ब का सन्निधान कारण होता है । इसे महत्त्व (=महत्परिमाण) के दृष्टान्त से समझा जा सकता है । जैसे, जिस द्रव्य में जिस द्रव्य की अपेक्षा महत्त्व की प्रतीति होती है उस द्रव्य के अभाव में महत्त्वेन प्रतीत होनेवाला द्रव्य का अभाव नहीं होता अपितु महत्त्व की प्रतीति का निरोध मात्र होता है। अतः जैसे महत्त्व का आश्रयभूत द्रव्य लघुद्रव्य से सावधिक नहीं होता किन्तु उस का महत्व ही उस से सावधिक होता है उसी प्रकार प्रतिबिम्बात्मक द्रव्य बिम्बावधिक नहीं होता किन्तु उस का प्रतिबिम्बत्व रूप धर्म ही बिम्बावधिक होता है।

आश्रय नाश से प्रतिबिम्बक द्रव्य के नाश की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिबिम्बक द्रव्य बिम्बसंनिधान रूप निमित्त से उत्पन्न होता है अतः आश्रयनाश होने पर उस निमित्त का नाश होने के कारण प्रतिबिम्बक द्रव्य का नाश हो सकता है क्योंकि निमित्त का नाश नैमित्तक के नाश का कारण होता है । 'अतिरिक्त प्रतिबिम्बक द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर अनन्त प्रतिबिम्बों की उत्पत्ति और उन के नाश आदि की कल्पना में गौरव होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब को बिम्बभ्रम माननेवाले सांख्य को सादृश्य से अतिरिक्त भ्रमजनक अनंत दोष की कल्पना आवश्यक होने से सांख्यमत में ही गौरव है। और उस मत में बिम्बभूत मुख से भिन्न प्रतिबिम्बमुख देखने के सर्वजनसिद्ध अनुभव का सांख्यमत में अपलाप भी होता है। इस विषय का अधिक विचार आकर ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

स्फटिकादि में जो लौहित्यादि प्रतीत होता है वह भी पद्मरागादि मूर्त द्रव्य के संनिधान से उत्पन्न होनेवाला स्फटिकादि का परिणामविशेष ही है । और स्फटिक में उस की प्रतीति साक्षात्

तस्मादात्मनो बुद्धौ बिम्बतया उपाधितया वाऽमूर्तत्वाद् न स्वोपरागजनकत्वम्। तत्त्वे वा कथमात्मनोऽकारणत्वम्? कथं वा तदुपरागस्याऽनिर्वचनीयस्य, असतो वा स्वीकारे नौपनिपदबौद्धमतप्रवेशः? एतेन 'नामूर्तस्य प्रतिबिम्बाभावः शक्यो वक्तुम्, अमूर्तानां रूपपरिणामादीनां प्रतिबिम्बदर्शनात्, द्रव्यस्याऽप्यमूर्तस्य साभ्र-नक्षत्रस्याकाशादेर्जानुमात्रे जले दूर-विशालस्वरूपेण प्रतिबिम्बदर्शनाच्च' इत्युक्तावपि न निस्तारः।

संबन्ध से ही होती है। यदि स्फटिक में प्रतीत होनेवाले लौहित्य को स्फटिक का परिणाम न मान कर उस में भ्रमवश-दोषवश प्रतीत होनेवाले पद्मरागादि उपाधियों का ही धर्म माना जायगा तो स्फटिक में उस का साक्षात् संबन्ध न होने से परंपरा संबंध से ही उस की प्रतीति माननी होगी। अब परंपरा संबंध को उस की प्रतीति का जनक मानने पर दूरस्थ स्फटिकादि में पद्मरागादि के लौहित्य का परंपरा संबंध होने से उस में भी लौहित्य की प्रतीति का अतिप्रसंग होगा। और यदि स्फटिक में लौहित्य के आश्रयभूत पद्मरागादि के विद्यमान संसर्ग को साक्षात् संबंध से लौहित्यभ्रम का जनक माना जायगा तो 'स्फटिको न लोहितः-स्फटिक लालवर्ण का नहीं है' इस विशेष दर्शनकाल में स्फटिक में लौहित्य का भ्रम न होने से उक्त प्रतीतिरूप विशेष दर्शन को उत्तेजक मानना होगा। अर्थात् उक्त प्रतीति के अभाव से विशिष्ट पद्मराग के संसर्ग को स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति का कारण मानना होगा एवं स्फटिक में विद्यमान लौहित्य के आश्रयभूत पद्मराग के संसर्ग को स्फटिकमें परंपरा संबंध से लौहित्य की प्रतीति का नियामक मानना पडेगा। अतः सांख्यपक्ष में अत्यधिक गौरव होगा।

उस की अपेक्षा न्यायसंगत यही है कि स्फटिकगत पद्मरागसंसर्ग को स्फटिक में लौहित्य का ही जनक माना जाय। अभिभूत और अनभिभूत रूप का एकत्र समावेश अनुभव सिद्ध है जैसे, रात्रि के समय नक्षत्रों का रूप अनभिभूत रहता है किन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत रहता है इसी प्रकार पद्मरागादि के सन्निधान में स्फटिक में अनभिभूत लौहित्य और असंनिधान में अभिभूत लौहित्य के मानने में कोई विरोध नहीं हो सकता। पद्मराग के संनिधान में लौहित्य की उत्पत्ति मानना तब न संभव होता जब लौहित्य आदि का नियतारंभ माना जाता अर्थात् नियत देश काल में नियत हेतु से ही आरम्भ माना जाता-किन्तु यह मत निरर्थक है। और इस संबंध में और विस्तृत विचार अन्य ग्रन्थमें द्रष्टव्य है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा अमूर्त है इस लिए वह बिम्बरूप से या उपाधिरूप से बुद्धि में अपने प्रतिबिंबात्मक उपराग का जनक नहीं हो सकता, यदि जनक होगा तो उसका अकारणत्व सुरक्षित न रह सकेगा। और बुद्धि में होनेवाले आत्मा के उपराग को यदि अनिर्वचनीय माना जायगा तो औपनिषद (वेदान्त) मत में, और असत् माना जायगा तो शून्यवादी बौद्ध मत में प्रवेश की आपत्ति होगी।

'मूर्त्त द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब हो सकता है अमूर्त्त का नहीं' इस कथन की प्रतिक्रिया में कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि--'अमूर्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता है' यह मत अनुचित है, क्योंकि रूपपरिमाणादि अमूर्त पदार्थों का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अमूर्त द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता-यह मत भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभ्रनक्षत्र आदि से युक्त अमूर्त्त आकाश द्रव्य का जानुपर्यन्तजल में दूरस्थ और विशाल रूप में प्रतिबिम्ब देखा जाता है।' किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से प्रतिबिम्ब एक भावात्मक कार्य है। जो बिम्बात्मक कारण से उत्पन्न होता है अतः यदि

अथ 'न पुरुषजन्यः पुरुषोपरागः, किन्तु पुरुषभेदाऽग्रहादसत एव तस्योत्पत्तिः, सदुपरागेण भानाच्च नाऽसत्ख्याति'रिति चेत् ? गतं तर्हि सत्कार्यवादेन। 'बुद्धौ सन्नेव पुरुषोपरागः कदाचिदाविर्भवतीति चेत् ? तर्हि बुद्ध्युत्पत्तेः पूर्वं पुरुषस्यानुपरक्ततया मोक्षः स्यात्, प्रकृतेः साधारणत्वेनाऽनुपरञ्जकत्वात्। 'पूर्वबुद्धिवासनानुवृत्तेः साधारण्येऽप्यसाधारणी प्रकृति'रिति चेत् ? न, 'बुद्धिनिवृत्तावपि तद्धर्मवासनानुवृत्तिः' इत्युपदर्शनम्। 'सौक्ष्म्याद् न दोष इति' चेत् ? मुक्तावपि तत्प्रसङ्गः। 'निरधिकारित्वाद् नैवमि'ति चेत् ? तर्हि साधिकारा प्रसुप्तस्वभावा बुद्धिरेव प्रकृतिरस्तु, कृतमन्तरा प्रकृत्य-ऽहङ्कार-मनः-शब्दानामर्थान्तरकल्पनया, सैव हि तत्तद्व्यापारयोगात् तेन तेन शब्देन व्यपदिश्यते शरीरवायुवत्, इत्यागमस्यापि न विरोध इति। स्वीक्रियतां वा यथा कथञ्चिद् तस्याऽतात्त्विको भोगः तथाप्यन्यद्दूषणमित्याह-मुक्तेरतिप्रसङ्गाच्च=तेषां प्रतिबिम्बाभावात् संसारिणामपि मुक्तैकस्वभावत्वात्, वै=निश्चितम्, कदाचन=कदाचिदपि, भोगो न स्यात् ॥३०॥

आत्मा का प्रतिबिम्ब माना जायगा तो आत्मा को उस प्रतिबिम्ब का कारण मानना होगा। और ऐसा मानने पर आत्मा के सांख्य सम्मत अकारणत्व सिद्धान्त का भङ्ग हो जायगा।

[असत् पुरुषोपराग कि उत्पत्ति में सत्कार्यवाद विलय]

यदि यह कहा जाय कि-'बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्बाख्य उपराग पुरुषजन्य नहीं होता अपितु बुद्धि पुरुष के भेद का ज्ञान न होने से प्रथमतः अविद्यमान ही पुरुषोपराग की उत्पत्ति होती है। बुद्धि और पुरुष इन दो सत्पदार्थों के सम्पर्क से असत् भी पुरुषोपराग का भान होता है। ऐसा मानने पर बौद्ध की असत्ख्याति का यहां प्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि उस मत में सत् वस्तु का सर्वथा अभाव होने से सत् के सम्बन्ध से असत् का ज्ञान नहीं माना जा सकता'-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि असत् पुरुषोपराग की उत्पत्ति मानने पर 'कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् होता है इस सांख्य के सुप्रसिद्ध सत् कार्य सिद्धान्त का भङ्ग हो जायगा। 'वह बुद्धि में पहले से ही विद्यमान रहता है समय विशेष में उसका आविर्भाव होता है'-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व पुरुष में किसी प्रकार की उपरक्तता-संसृष्टता नहीं रहने से प्रकृतिव्यापार से पहले ही पुरुष मुक्त हो जायगा 'बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति से उपरक्त होने के कारण उस समय भी पुरष की मुक्तता नहीं हो सकती'-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रकृति आत्मा मात्र के प्रति साधारण होने से किसी को उपराग द्वारा नहीं बाँध सकती।

अगर कहें 'प्रकृति सर्वसाधारण होने पर भी पूर्वबुद्धि की वासना का अनुवर्तन होने के कारण असाधारण हो सकती है अतः उस से भी पुरुष का उपरञ्जन-बन्धन हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रलयावस्था में बुद्धि की निवृत्ति हो जाने पर भी बुद्धि के वासनात्मक धर्म की अनुवृत्ति मानने में सांख्य का अपसिद्धान्त हो जाता है। 'प्रलयावस्था में बुद्धि की और उसके धर्मभूत वासना की सूक्ष्मरूप से स्थिति होने के कारण यह दोष नहीं हो सकता'-यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर मोक्षदशा में भी बुद्धि और बुद्धिगत वासना का सूक्ष्मरूप में अवस्थान मानना होगा, अतः

अथ यदि संसारिणां प्रतिबिम्बोदयस्वभावः, तदाह—

मूलम्—न च पूर्वस्वभावत्वात्स मुक्तानामसंगतः ।
स्वभावान्तरभावे च परिणामोऽनिवारितः ॥३१॥

न च=नवा सः=प्रतिबिम्बोदयस्वभावः, पूर्वस्वभावत्वात् संसार्यवस्थैकस्वभावत्वात्, मुक्तानामसंगतः किन्तु संगत एव, अन्यथा नित्यत्वक्षतेः, एवमपि कदाचन न भोगः किन्तु सर्वदैव स्यात्, इति योजना । स्वभावान्तरभावे च=अमुक्तस्वभावपरित्यागेन मुक्तस्वभावोत्पादे च मुक्तानामिष्यमाणे, अनिवारितः परिमाणः, स्वभावान्यथात्वस्यैव तल्लक्षणत्वात् ।

मोक्ष की उपपत्ति न हो सकेगी । यदि कहा जाय कि-मोक्षदशा में बुद्धि अधिकारहीन हो जाती है । अत एव उस का बन्धन सामर्थ्य समाप्त हो जाने से उस के रहने पर भी मोक्ष की अनुपपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर अधिकारयुक्त प्रसुप्त स्वभाववाली बुद्धि को ही प्रकृति माना जा सकता है । और इस प्रकार प्रकृति-अहङ्कार-मन ये सभी शब्दों के अर्थभेद की कल्पना अनावश्यक और अप्रामाणिक हो जायगी, क्योंकि बुद्धि प्रकृति, अहंकार और मन के व्यापारों के सम्बन्ध से प्रकृति आदि शब्दों से उसी प्रकार व्यपदिष्ट हो सकेगी जैसे शरीरस्थ एक ही वायु व्यापार भेद से प्राण-अपान आदि विभिन्न शब्दों से व्यपदिष्ट होता है । इस प्रकार प्रकृति-अहङ्कारादि विभिन्न शब्दों से तत्त्व का निरूपण करनेवाले सांख्यशास्त्र का विरोध नहीं होगा और यदि किसी प्रकार आत्मा में अतात्त्विकभोग मान भी लिया जाय तो उक्त दोषों का कथञ्चित् निराकरण हो सकने पर भी संसारदशा में मोक्ष का अतिप्रसङ्ग होगा क्योंकि अमूर्तद्रव्य का प्रतिबिम्ब न मानने पर संसारी आत्मा भी मुक्तकल्प ही होगा । और आत्मा का प्रतिबिम्ब न मानने पर आत्मा में कभी भी भोग न हो सकेगा ॥३१॥

(अपरिणामी आत्मा प्रतिबिम्बोदय स्वभाव नहीं हो सकता)

३१ वीं कारिका में संसारी आत्मा में प्रतिबिम्बजनन स्वभाव होता है' इस मत की समीक्षा की गई है कारिका अर्थ इस प्रकार है—

संसारी आत्मा को प्रतिबिम्बजनन के स्वभाव से सम्पन्न मानकर भी संसारावस्था में आत्मा में मुक्तता की आपत्ति का परिहार हो सकता है । किन्तु संसारी आत्मा में प्रतिबिम्बजनन स्वभाव मानने पर मुक्तात्मा को उस स्वभाव से विधुर कहना सङ्गत नहीं हो सकता । क्योंकि संसारावस्था मे आत्मा में जो प्रतिबिम्बजननस्वभाव रहता है-मोक्षावस्था में उस को निवृत्ति मानने पर आत्मा की नित्यता का भङ्ग हो जायगा और यदि मुक्तावस्था में भी उस स्वभाव का अनुवर्तन माना जायगा तो आत्मा में भोग केवल संसार दशा में ही न होकर सर्व काल में होने लगेगा ! जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि आत्मा कभी मुक्त न हो सकेगा इस दोष का परिहार करने के लिये यदि यह माना जाय कि 'मोक्षदशा में आत्मा के संसारकालीन अमुक्तस्वभाव की निवृत्ति हो जाती है और मुक्त स्वभाव की उत्पत्ति हो जाती है'-तो आत्मा में परिणामित्व की आपत्ति होगी । क्योंकि एक स्वभाव को छोडकर स्वभावान्तर को ग्रहण करना ही परिणामी का लक्षण होता है ।

'घटनाशे घटावच्छिन्नस्याकाशस्य घटानवच्छिन्नत्वेऽपि स्वभावाऽपरित्यागवत् सवासनबुद्धिनाशे विषयावच्छिन्नस्य चैतन्यस्य विषयानवच्छिन्नत्वेऽपि स्वभावाऽपरित्याग एवे'ति चेत् ? अहो ! असिद्धमसिद्धेन साधयति भवान्, घटनाशेऽप्याकाशस्य घटावच्छिन्नत्वस्वभावाऽपरित्यागे घटाकाशव्यवहारप्रसङ्गात्। किञ्च 'सा बुद्धिस्तमेवात्मानं विषयेणावच्छिनत्ति' इत्यत्र न किमपि नियामकं पश्यामः। तस्मात् बुद्धिरेव रागादिपरिणताऽऽत्मस्थानेऽभिषिच्यताम्। तस्या लयश्च रागादिलय एव, इति तत्रैव मुक्तिरिति युक्तम् ॥३१॥

देहात् पृथक्त्व आत्मनो दोषान्तरमाह—

> **दोहात्पृथक्त्व एवास्य न च हिंसादयः क्वचित् ।**
> **तदभावेऽनिमित्तत्वाकथं बन्ध, शुभाशुभः ? ॥३२॥**

देहात् पृथक्त्व एव=एकान्ततो देहपृथक्त्वे, अस्य=आत्मनः स्वीक्रियमाणे, न च हिंसादयः क्वचिद् भवेयुः। न हि ब्राह्मणशरीरहत्यैव ब्रह्महत्या, मृतब्राह्मणशरीरदाहेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न च मरणोद्देशाभावादयमदोषः, तदुद्देशेनापि तत्प्रसङ्गात्। ब्राह्मणात्मनस्तु नाश एव न, इति ब्राह्मणं घ्नतोऽपि सा न स्यात्। 'ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नज्ञानजनकमनःसंयोग-

---

यदि यह कहा जाय कि-'जसे घट का नाश होने पर घटावच्छिन्न आकाश घट से अनवच्छिन्न तो हो जाता है किन्तु वह अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता। उसी प्रकार वासानायुक्त बुद्धि का नाश होने पर विषयवावच्छिन्न चतन्य में विषयानवच्छिन्नत्व हो जाने पर भी उसके स्वभाव का परित्याग नहीं हो सकता। अतः विषयानवच्छिन्नत्व हो जाने से आत्मा की मुक्तता और स्वभाव का परित्याग न होने से उस को मुक्तता और अपरिणामिता दोनों की रक्षा हो सकती है।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह कथन तो असिद्ध से असिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास है।

आशय यह है कि 'घटनाश होने पर घटावच्छिन्न आकाश के स्वभाव का परित्याग नहीं होता' यह बात असिद्ध है, क्योंकि घटनाश होने पर भी यदि आकाश का घटावच्छिन्नत्व स्वभाव बना रहेगा तो घटनाश हो जाने पर भी 'घटाकाशः' इस व्यवहार की आपत्ति होगी। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि 'कोई एक निश्चित बुद्धि किसी एक निश्चित आत्मा को ही विषयोपरक्त कर सकती है, दूसरे को नहीं' इस बात का कोई नियामक ही नहीं है, क्योंकि आत्मा परिच्छिन्न न होने से सभी बुद्धि में सभी आत्मा का सामीप्य सुलभ होता है। अतः उचित यह होगा कि रागादिरूप में परिणतबुद्धि को ही आत्मा के स्थान में अभिषिक्त किया जाय और आत्मा के अस्तित्व का अस्वीकार कर दिया जाय। ऐसा मानने पर यह निष्कर्ष होगा कि रागाद्यात्मक परिणाम ही बुद्धि स्वरूप आत्मा का बन्धन, और रागादिलयरूप सरागबुद्धि का लय ही बुद्धिरूप आत्मा की मुक्ति है। अतः बुद्धि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सांख्य प्रक्रिया के अनुसार नहीं सिद्ध किया जा सकता ॥३१॥

[देह-आत्म भेद पक्ष में ब्रह्महत्या की अनुपपत्ति]

३२ वीं कारिका में आत्मा को देह से भिन्न मानने पर एक और अतिरिक्त दोष बताया गया है जो कारिका की व्याख्या करने से स्फुट होता है, कारिका की व्याख्या इस प्रकार है—

विशेषनाशानुकूलो व्यापार एव ब्रह्महत्ये' ति चेत् ? न, तादृशमनःसंयोगस्य स्वत एव नश्वरत्वात्, साक्षाद्घातानुपपत्तेश्च । 'ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नदुःखविशेषानुकूलव्यापार एव ब्रह्महत्ये' ति चेत् ? शरीराच्छरीरिणः सर्वथा भेदे तच्छेदादिना तस्य दुःखमपि कथम् ? 'परम्परासम्बन्धेन तदात्मसंबन्धादि' ति चेत् ? साक्षादेव कथं न तत्संबन्धः ? शरीरावय-वच्छेदे एव हि शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिरुपपद्यते, नाऽन्यथा, प्राणक्रियाया अपि तन्मात्रोपग्रहं विनाऽभावात् ।

आत्मा को देह से एकान्ततः (पूर्णतया) भिन्न मानने पर हिंसादि की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण के शरीर की हत्या ब्रह्महत्या नहीं होती, अन्यथा मृतब्राह्मण के शरीर का दाह करने पर भी दाहकर्ता को ब्राह्मणहत्या की आपत्ति होगी। 'मरण के उद्देश से की जानेवाली हत्या ही वास्तविक हत्या होती है, मृत ब्राह्मण के शरीर का दाह मरण के उद्देश से नहीं होता क्योंकि दाहके पहले ही ब्राह्मण मृत रहता है। अतः मृतब्राह्मण के शरीर का दाह हत्यारूप नहीं हो सकता" यह कथन भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण के प्रथमतः मृत होने पर भी यदि मरण के उद्देश से उस के शरीर का दाह किया जाय तब भी उक्त दाह हत्या नहीं कहा जाता किन्तु यदि शरीर की हत्या को ही हत्या माना जायगा तो उक्त दाह में भी हत्यात्व का परिहार नहीं हो सकता । ब्राह्मणात्मा के नाश को हत्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मा के नित्य होने से उस का नाश होता ही नहीं है। अतः ब्राह्मणात्मा के नाश को हत्या मानने पर ब्राह्मणघाती भी ब्रह्महत्या से मुक्त हो जायगा ।

यदि यह कहा जाय कि-'जिस आत्ममनःसयोग से ब्राह्मणशरीरावच्छेदेन ज्ञान उत्पन्न होता है उस आत्ममनःसंयोग का नाशव्यापार ही ब्रह्महत्या है'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न करनेवाला आत्मसंयोग घातक व्यापार न होने पर भी स्वयं ही नष्ट हो जाता है। और उस का साक्षात् घात हो भी नहीं सकता। 'ब्राह्मणशरीरावच्छेदेन दुःखविशेष का जनक व्यापार ही ब्रह्महत्या है'-यह भी नहीं कहा जाता है, क्योंकि शरीर से आत्मा को अत्यन्त भिन्न मानने पर शरीर के छेदन आदि से आत्मा में दुःख का होना संगत नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि-'देह के छेदन आदि का आत्मा में परम्परासम्बन्ध होने से आत्मा में भी उस से दुःख का उदय हो सकता है-' तो यह कहने की अपेक्षा यह मानना अधिक उचित है कि आत्मा के साथ देह के छेदन आदि का साक्षात् ही सम्बन्ध होता है, इसलिए ही आत्मा को देह से पूर्णतया भिन्न नहीं माना जाता है। देह और आत्मा में अत्यन्त भेद न मानकर कथञ्चित् अभेद मानना इसलिए भी आवश्यक है कि शरीर के किसी अवयव का छेद होने पर जब अवयव शरीर से अलग हो जाता है तब भी कुछ समय तक छिन्न अवयव में कम्प होता है। यह कम्प तभी हो सकता है जब शरीर के अवयव का छेद होने पर आत्मा के अवयव का भी छेद हो और आत्मा का छिन्न अवयव शरीर के छिन्न अवयव में विद्यमान हो। ऐसा न मानने पर शरीर के छिन्न अवयव में आत्मा का सम्बन्ध न होने से इस में कम्प नहीं हो सकता। 'आत्मसम्बन्ध के अभाव में भी प्राण की क्रिया से भी शरीर के छिन्न अवयव में कम्प की उत्पत्ति नहीं की जा सकती'-क्योंकि प्राण की क्रिया भी शरीर या शरीर के अवयव में तभी होती है जब उस में आत्मा

नन्वेवं छिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः स्यादिति चेत् ? न, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशात्। छिन्ने हस्तादौ कम्पादितल्लिङ्गादर्शनादित्थं कल्पनात्। न चैकत्वादात्मनो विभागाऽभावाच्छेदाभाव इति वाच्यम्, शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात्, अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य न स्यात्। तथा च तच्छेदनान्तरीयकश्च्छेदो न स्यात्। 'छिन्नाऽच्छिन्नयोः कथं पश्चात् संघटनम्?' इति चेत् ? न, एकान्तेनाच्छिन्नत्वात्, पद्मनालतन्तुवच्छेदेऽपि च्छेदाभ्युपगमात्। संघटनमपि तथाभूताऽदृष्टवशादविरुद्धमेव। 'हन्त ! एवं शरीरदाहेऽप्यात्मदाहः स्यादि' ति चेत् ? न, क्षीर-नीरयोरिवाऽभिन्नत्वेऽपि भिन्नलक्षणत्वेन तद्दोषाभावादिति, अन्यत्रविस्तरः।

तस्माद् देहादात्मन एकान्तपृथक्त्वे हिंसाद्यभावः, **तदभावे**=हिंसाद्यभावे, **अनिमित्तत्वात्**=निमित्तसंनिधानाऽभावात्, कथं शुभाऽशुभो बन्धः ? अत्र शुभश्चाऽशुभश्चेति विग्रहे द्विवचनापत्तिः, कर्मधारये च बाध इति शुभेन सहितोऽशुभ इति व्याख्येयम् ॥३२॥

का सम्बन्ध हो अतः देह और आत्मा में अभेद मानकर देहावयव का छेद होने पर आत्म-अवयव का छेद मानना और आत्म-अवयव के सम्पर्क से ही छिन्न देहावयव में कम्प की उपपत्ति करना आवश्यक है।

[छिन्न अवयव में पृथक् आत्म प्रसंग का निवारण]

'देह और आत्मा का अभेद होने से देहावयव के छेद से आत्म-अवयव का छेद होता है ऐसा मानने पर देहके छिन्न अवयव में आत्मा का जो भाग अनुप्रविष्ट रहेगा वह एक पृथक् आत्मा ही हो जायगा'-यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि आत्मा का जो भाग छिन्न देहावयव के साथ बाहर आता है वह थोडे समय बाद पूर्व शरीर में ही प्रविष्ट हो जाता है। यह कल्पना इसलिए की जाती है, कि दह के छिन्न अवयव में कुछ समय तक कम्प होता है और बाद में कम्प नहीं होता है, अतः बाद में भी छिन्न अवयव में आत्मभाग का सम्बन्ध बना रहता है'-यह मानने में कोई युक्ति नहीं है -'आत्मा एक होता है अतः इस में विभाग संभव न हो सकने से उस का छेद नहीं हो सकता'-यह शंका भी उचित नहीं है क्योंकि देह और आत्मा में ऐक्य मानने पर देह में विभाग संभव होने के कारण देह के द्वारा आत्मा में भी विभाग मानना युक्तिसंगत हो सकता है। यदि आत्मा को सावयव न माना जायगा तो वह सावयव शरीर में व्यापक नहीं हो सकेगा और देह छेद के साथ आत्म छेद की अनिवार्यता भी न हो सकेगी।

'छिन्न देहावयव का शेष शरीर के साथ बाद में जैसे संघट्टन नहीं हो पाता उसी प्रकार छिन्न आत्म-अवयवों का भी शरीरस्थ शेष आत्मा के साथ संघट्टन नहीं हो सकता'- यह शंका भी उचित नहीं होती, क्योंकि आत्मा का जो भाग देहके छिन्नावयव के साथ छिन्न होता है वह पूर्ण रूप से शरीरस्थ आत्मा से पृथग् नहीं होता। अतः उस का संघट्टन हो सकता है किन्तु देहका जो हस्तादि अवयव देह से पृथग् होता है वह देह से पूर्णतया पृथग् हो जाता है अतः देह के साथ उसका संघट्टन नहीं होता। छिन्न अंश का अपने अंशी के साथ संघट्टित होना कोई अद्भुत बात नहीं है।

ततः को दोषः ? इत्याह—

मूलम्-बन्धादृते न संसारो मुक्तिर्वास्योपपद्यते ।
यमादि तदभावे च सर्वमेव ह्यपार्थकम् ॥३३॥

बन्धादृते=बन्धं विना, देव-नारकादिरूपः संसारो न । नवाऽस्य=आत्मनः मुक्तिरुपपद्यते, बद्धानां कर्मणां क्षय एव हि मुक्तिरिति । तदभावे च=मुक्त्यभावे च, सर्वमेव हि=निश्चितम्, यमादि=यमनियमादिकं योगानुष्ठानम् अपार्थकम्=विपरीतप्रयोजनम् । कः खलु फलमनभिलषन्नेव दुष्करक्लेशैरात्मानमवसादयेत् ? ॥३३॥

क्योंकि कमलनाल के छिन्न तंतु का छिन्न नाल के साथ संघट्टन सर्वानुभव सिद्ध है। 'बिना कारण संघट्टन कैसे हो सकता है' ? इस शंका को भी अवसर नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि अदृष्ट बड़ा शक्तिशाली कारण होता है। अत एव जिस छिन्न अंश का छिन्न अंशी के साथ संघट्टनकारी अदृष्ट रहता है उस का अंशी के साथ संघट्टन होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। यदि यह शंका की जाय कि-'देह और आत्मा में ऐक्य मानने पर शरीर का दाह होने पर आत्मा का भी दाह हो जायगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्षीर और नीर के समान अभिन्नता होने पर भी देह और आत्मा में कुछ भिन्नता भी होती है। उस भिन्नता के कारण ही शरीरदाह होने पर भी आत्मदाह नहीं होता, जैसे नीर की वाष्प हो जाने पर उस के साथ ही क्षीर का विनाश नहीं हो जाता। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

निष्कर्ष यह है कि-आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न मानने पर हिंसादि का अभाव हो जायगा और हिंसादि का अभाव होने पर शुभाऽशुभ बन्ध का कोई निमित्त न होने से शुभाशुभ बन्ध भी न हो सकेगा। कारिका में आये शुभाशुभ शब्द का 'शुभश्च अशुभश्च' ऐसी व्युत्पत्ति मानकर द्वन्द्व समास द्वारा साधुपन नहीं हो सकता क्योंकि उक्त व्युत्पत्ति से द्वन्द्व मानने पर द्विवचन विभक्ति की आपत्ति होगी। कर्मधारय समास से भी साधुपन नहीं माना जा सकता क्योंकि शुभ और अशुभ में ऐक्य नहीं होता और कर्मधारय के लिए पूर्व और उत्तर पद के अर्थों में अभेद आवश्यक होता है, इसलिए 'शुभेन सहित अशुभः' यह व्युत्पत्ति कर मध्यमपदलोपीसमास से ही उसका साधुपन समझना चाहिए।

[बन्ध न होने पर मुक्त और संसारी के भेद की अनुपपत्ति]

३३ वीं कारिका में शुभाऽशुभ बन्ध के अभाव में क्या दोष हो सकता है इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यदि शुभाशुभ बन्ध न होगा तो आत्मा संसारी न हो सकेगा, क्योंकि देव-नरक, मृत्युलोक आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध ही संसार कहलाता है और शुभाशुभ बन्ध ही उसका निमित्त माना जाता है। अतः उसके अभाव में निमित्त का अभाव हो जाने से संसार का होना असंभव हो जायगा। शुभाशुभ बन्ध के अभाव में आत्मा का मोक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि कर्मबन्ध के क्षय को ही मोक्ष कहा जाता है। जब आत्मा में कर्मबन्ध ही नहीं होगा तो फिर उसका क्षय कैसे संभव हो सकेगा ? यदि 'आत्मा का मोक्ष नहीं होता है' यह मान लिया जाय तो यम नियम आदि का कष्टसाध्य पालन निरर्थक हो जायगा क्योंकि कोई भी मनुष्य बिना किसी फल की कामना किये दुःसह क्लेशों से अपने आपको पीडित करने का कष्टमय व्यापार नहीं करता ॥३३॥

पराभिप्रायमाह–

मूलम्–आत्मा न बध्यते नापि मुच्यतेऽसौ कदाचन।
बध्यते मुच्यते चापि प्रकृतिः स्वात्मनेति चेत् ॥३४॥

असौ=प्रत्यक्षसिद्धः आत्मा, न बध्यते=न प्राकृतिकादिबन्धपरिणतो भवति, सवासनक्लेशकर्माशयानां बन्धत्वेन समाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसंभवात्। नापि कदाचन मुच्यते, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् तस्य च सर्वदाऽबद्धत्वात् कुत्र तर्हि बन्ध-मोक्षौ ? इत्यत आह–बध्यते प्रकृतिरेव स्वात्मना=स्वपरिणामलक्षणेन बन्धेन, मुच्यते चापि तेन प्रकृतिरेव, तत्रैव बन्धविश्लेषात्। पुरुषे तु तावुपचर्येते, भृत्यगतावित्र जय-पराजयौ स्वामिनीति। तदुक्तम्—

'तस्माद् न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥१॥[सां. का. ६२]इति। (समाधत्ते) इति चेत् ?

[प्रकृति के बन्ध और मोक्ष को आशंका]

३४ वीं कारिका में बन्धमोक्ष के सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र का मत प्रदर्शित किया है जो इस प्रकार है–आत्मा यथार्थ रूपमें न कभी बद्ध ही होता है न कभी मुक्त होता है। बद्ध इसलिए नहीं होता है कि आत्मा अपरिणामी होता है अतः वासना. क्लेश और कर्माशयरूपी बन्ध उसको नहीं हो सकता, क्योंकि यह बन्ध परिणामात्मक है, अतः प्राकृतिकआदि के रूप में अपरिणामी आत्मा में उसका होना असंभव है। आत्मा का मोक्ष इसलिए नहीं हो सकता कि वह सर्वदा बन्धनहीन होता है. अतः उसमें बन्धननिवृत्तिरूप मोक्ष की सम्भावना ही नहीं हो सकती। इसलिये आत्मा में बन्ध और मोक्ष की अनुपपत्ति बताना असङ्गत है। वस्तु स्थिति यह है कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति में होते हैं। और प्रकृति में उनकी उपपत्ति होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि प्रकृति परिणामिनी होती है, अतः अपने परिणामों से बांधाजाना उसके लिये स्वाभाविक है। और जब उसमें बन्ध होता है तो निमित्त उपस्थित होने पर उसमें बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष का होना भी युक्ति सङ्गत है। 'प्रकृति में बन्ध और मोक्ष मानने पर आत्मा में बन्ध-मोक्ष का व्यवहार कैसे होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे युद्ध में जयपराजय वस्तुतः राजा के सेवक सैनिकों का होता है किन्तु उसका औपचारिक व्यवहार राजा में माना जाता है, उसी प्रकार प्रकृति में होने वाले बन्धमोक्ष का उसके अधिष्ठाता आत्मा में औपचारिक व्यवहार माना जा सकता है। जैसा कि **ईश्वरकृष्ण** ने 'तस्मात् न बध्यते' अपनी इस कारिका में कहा है कि–आत्मा के कूटस्थ नित्य होने के कारण कोई भी आत्मा न कभी संसारी होता है न कभी बद्ध होता है और न कभी मुक्त होता है किन्तु अनेक रूपों में परिणत होने की योग्यता रखने के कारण प्रकृति में ही संसार, बन्ध और मोक्ष होते हैं पुरुष में उनका व्यवहार मात्र होता है जो पूर्णरूप से औपचारिक=गौण है।

अत्रोत्तरम्—

मूलम्-एकान्तेनैकरूपाया　नित्यायाश्च　न सर्वथा ।
तस्याः क्रियान्तराऽभावाद्बन्धमोक्षौ सुयुक्तितः ॥३५॥

एकान्तेनैकरूपायाः=सर्वथैकस्वभावायाः, सर्वथा नित्यायाश्च=सर्वैः प्रकारैः प्रवृत्ति-रूपैकक्रियायाश्च, तस्याः प्रकृतेः, क्रियान्तराभावात्=निवृत्तिक्रियाया अभावात्, सुयुक्तितः=सन्न्यायात्, बन्ध-मोक्षौ न । प्रकृति-पुरुषान्यताख्यातिरूपो हि व्यापारः पुरुषस्यैव, इति तस्यैव मोक्ष उचितः, न तु प्रकृतेः, तस्याः प्रवृत्त्येकरूपत्वात्, पुरुषार्थमचेतनत्वेन व्यापाराऽयोगाच्च ।

किञ्च प्रकृतेर्मुक्तौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थाने तस्याः साधारणत्वादेकमुक्तौ संसारोच्छेदः, प्रकृतिवदात्मनोऽपि सर्वगतत्वेन 'एकावच्छेदेन मुक्तिः, नान्यावच्छेदेन' इत्यपि वक्तुमशक्यत्वात् । तद्बुद्ध्यवच्छेदेन मुक्तत्वम्, नान्यबुद्ध्यवच्छेदेन इत्यपि क्षीणायाबुद्धेरनवच्छेदकत्वादनुद्घोष्यम्, बुद्धियोगेन पुरुषस्य संसारित्वे तस्यैव मोक्षप्रसङ्गाच्च ॥३५॥

[नित्य एक स्वरूप प्रकृति में बन्ध मोक्ष असंभव]

३५ वीं कारिका में पूर्वकारिकावर्णित सांख्यमत का समाधान करते हुए यह कहा गया है कि प्रकृति सर्वथा एकरूप और नित्य है । सदा प्रवृत्तिशील रहना ही उसका स्वभाव है । अतः उस में निवृत्तिरूप अन्यक्रिया नहीं हो सकती । इसीलिये उसमें बन्ध और मोक्ष न्यायसङ्गत नहीं हो सकते । 'प्रकृतेरहं पृथक्=मैं प्रकृति से पृथक् हूं' वैसा प्रकृति और पुरुष में भेद का ज्ञान पुरुष का ही कार्य है और वही मोक्ष का साधन है इसलिये पुरुष में ही मोक्ष हो सकता है प्रकृति में नहीं, क्योंकि प्रवृत्तिशील रहना ही उसका सहज स्वभाव है । यह कहना कि-'प्रकृति हो पुरुष के भोग और मोक्ष दोनों प्रयोजन का सम्पादन करने के लिये व्यापाररत होती है । अतः वे दोनों प्रयोजन प्रकृति के ही व्यापार से सम्पन्न होने के कारण प्रकृति के ही धर्म हो सकते हैं । प्रकृति ही उन में पुरुषप्रयोजनत्व उपपन्न करती है।'—ठीक नहीं हो सकता । क्योंकि पृथ्वी अचेतन होती है अत एव पुरुष के लिये उसका व्यापाररत होना सम्भव नहीं है । व्यापाररत होने के लिये चैतन्य का होना आवश्यक है, क्योंकि संसार में किसी भी जडपदार्थ में स्वतन्त्ररूप से सक्रियता नहीं देखी जाती ।

यह भी ज्ञातव्य है कि पुरुष का मोक्ष न मानकर यदि प्रकृति का ही मोक्ष माना जायगा और प्रकृति के मोक्ष से ही पुरुष का अपने सहज स्वरूप में अवस्थान होगा तो प्रकृति के सर्वसाधारण होने के कारण एक की मुक्ति होने पर समस्त संसार का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि प्रकृति जब किसी एक आत्मा के लिये अपना व्यापार बन्ध करेगी तो उसका वह व्यापार निरोध आत्मा मात्र के लिये हो जायगा, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि एक ही समय में प्रकृति निर्व्यापार भी हो और सव्यापार भी हो, चूंकि सव्यापारत्व और निर्व्यापारत्व में विरोध है । यदि यह कहा

दोषान्तरमप्याह-

मूलम्-मोक्षः प्रकृत्ययोगो यदतोऽस्याः स कथं भवेत् ।
स्वरूपविगमापत्तेस्तथा तन्त्रविरोधनः ! ॥ ३६ ॥

मोक्षः प्रकृत्ययोगः, यत्-यस्मात् कारणात्, 'प्रकृतिवियोगो मोक्षः' इति वचनात्, अतो हेतोः, अस्याः प्रकृतेः, सः मोक्षः, कथं भवेत् ? कुत इत्याह स्वरूपविगमापत्तेः=प्रकृतिस्वरूपनिवृत्तिप्रसङ्गात्, पुरुषे तु तद्व्यापारनिवृत्तिद्वारा तन्निवृत्तिर्युज्येतापि न तु स्वस्मिन् स्वनिवृत्तिः संभवति, घटे घटनिवृत्त्यदर्शनात् अप्रसक्तस्याऽप्रतिषेधात् । तथा, तन्त्रविरोधतोऽपि प्रकृतेर्मोक्षः कथम् ? ॥३६॥

जाय कि-'सव्यापारता और निर्व्यापारता में विरोध होने पर भी भिन्न भिन्न आत्मा के प्रति उन दोनों का समावेश प्रकृति में एक काल में भी हो सकता है । अतः प्रकृति में एकपुरुषावच्छेदेन मुक्ति और अन्यपुरुषावच्छेदेन मुक्ति का अभाव होने से मुक्ति को प्रकृतिगत मानने पर भी संसार के उच्छेद की आपत्ति नहीं हो सकती ।'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति जैसे सर्वगत है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वगत है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति का एक भाग एक ही आत्मा से सम्बद्ध होता है और अन्य आत्मा से सम्बद्ध नहीं होता । और जब ऐसा नहीं हो सकता तब यह बात कैसे युक्ति संगत हो सकती है कि प्रकृति में एक आत्मावच्छेदेन मुक्ति और अन्यात्मावच्छेदेन मुक्ति का अभाव होता है । यदि यह कहा जाय कि—'पुरुष के सर्वगत होने के कारण पुरुष से प्रकृति का अवच्छेद सम्भव नहीं हो सकता किन्तु बुद्धि के असर्वगत होने के नाते बुद्धि से अवच्छेद हो सकता है । अतः यह मानना सम्भव है कि प्रकृति जब एकबुद्ध्यवच्छेदेन मुक्त होती है तब अन्यबुद्ध्यवच्छेदेन अमुक्त भी रह सकती है'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि का क्षय होने पर ही यह मोक्ष होता है तो फिर क्षीणबुद्धि को मोक्ष का अवच्छेदक कैसे कहा जा सकता है ? और मुख्य बात तो यह है कि यदि पुरुष में संसार का वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता किन्तु संसार का वास्तविक सम्बन्ध बुद्धि में ही होता है तो फिर बुद्धि का ही मोक्ष मानना युक्तिसङ्गत हो सकता है, क्योंकि जो वास्तव रूप में संसारी हो-वास्तवरूप में वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । अतः पुरुष को संसारी और मुक्त कहना असङ्गत है ॥३५॥

[प्रकृतिवियोगात्मक मोक्ष आत्मा का ही संभवित है]

३६ वीं कारिका में मोक्ष को प्रकृतिगत मानने में एक अन्य दोष बताते हुए कहा गया है कि 'प्रकृतिवियोगो मोक्षः' इस सांख्यशास्त्रीय वचन के अनुसार प्रकृति के साथ सम्बन्ध का अभाव होना ही मोक्ष है । इसलिये वह प्रकृति में नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति में प्रकृति का असम्बन्ध मानने पर प्रकृति के स्वरूप की ही निवृत्ति हो जायगी । पुरुष में तो प्रकृति का असम्बन्ध माना जा सकता है, क्योंकि पुरुष के साथ प्रकृति का सम्बन्ध प्रकृति के व्यापार से ही होता है अतः प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति होने पर प्रकृति के सम्बन्ध की निवृत्ति हो सकती

[१]एतदेवोपदर्शयन्नाह—

मूलम्–पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥३७॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः=प्रकृति-महादादिपञ्चविंशतितत्त्वरहस्यपरिज्ञाता, यत्र तत्र-गृहस्थादौ आश्रमे, रतः=तत्त्वज्ञानाभ्यासवान् , जटी=जटावान् , मुण्डी=मुण्डितशिराः, शिखी वापि-शिखावानपि, मुच्यते=प्रकृति-विकारोपधानविलयेन स्वरूपावस्थितो भवति, बाह्यलिङ्ग-मत्राऽकारणम् । नात्र संशयः=इदमित्थमेव, वचनप्रामाण्यात् ॥३७॥

निगमयति–

मूलम्–पुरुषस्योदिता मुक्तिरिति तन्त्रे चिरंतनैः ।
इत्थं न घटते चेयमिति सर्वमयुक्तिमत् ॥३८॥

इति=एतत्प्रकारे तन्त्रे=शास्त्रे, चिरंतनैः=पूर्वाचार्यैः, पुरुषस्य मुक्तिरुक्ता । न चेयं=पुरुषस्य मुक्तिः, इत्थं=उक्तप्रकारेण विचार्यमाणा, घटते इति हेतोः, सर्वं=सांख्योक्तम् , अयुक्तिमत्=युक्तिरहितम् ॥३८॥

हैं । जैसे, घटादि किसी भी वस्तु में उस वस्तु की निवृत्ति नहीं देखी जाती । क्योंकि स्व में स्व की प्रसक्ति नहीं होती, अतः स्व में स्व का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता, और प्रसक्त का ही प्रतिषेध होता है अप्रसक्त का नहीं । प्रकृति में मोक्ष मानना शास्त्रविरुद्ध भी है जो सांख्यमतमान्य अग्रिम कारिका में स्पष्ट है ॥३६॥

[सांख्यसिद्धान्त में पुरुष का ही मोक्ष कहा गया है]

३७ वीं कारिका में पूर्वकारिका में कथित शास्त्रविरोध का प्रदर्शन करते हुए कहा गया हैं कि-प्रकृति-महत्-आदि पचीस तत्त्वों का रहस्य जाननेवाला मनुष्य गृहस्थादि किसी भी आश्रम में रहने पर मुक्त हो सकता हैं, चाहे वह जटा रखता हो या शिर का मुण्डन कराता हो अथवा चाहे वह शिखा धारण करता हो । प्रकृति आदि के तत्त्वज्ञान का अभ्यासद्वारा तत्त्वदर्शन हो जाने पर प्रकृति के विकारों का विलय होने से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो कर मुक्त हो सकता है । मोक्ष के लिये किसी भी प्रकार का बाह्य चिह्न अपेक्षित नहीं है । तत्त्वज्ञान से किसी भी स्थिति में पुरुष के मुक्त होने में कोई संशय नहीं है--यह तथ्य शास्त्रवचनों से सिद्ध है । इस स्थिति में यह स्पष्ट हैं कि ज्ञाता पुरुष ही मुक्त हो सकता है । अचेतना प्रकृति तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकती है, अत एव उसको मुक्ति नहीं मानी जा सकती ॥३७॥ ३८ वीं कारिका में निष्कर्ष बताया जा रहा है—

शास्त्र में पूर्वाचार्यों ने पुरुष की ही मुक्ति होती है ऐसा कहा है किन्तु सांख्यमत में पुरुष की मुक्ति नहीं हो सकती । जैसा कि विचार-विमर्श द्वारा सिद्ध हो चुका है । अतः सांख्य ने जो कुछ भी कहा है वह सब युक्तिहीन होने के कारण अमान्य है ॥३८॥

[१] एतत्-तन्त्रम्–प्रकृत साङ्ख्यसिद्धान्त इति यावत् ।

अत्रापि यावद् यथोपपन्नं तावतस्तथावार्तामाह—

मूलम्-अत्रापि पुरुषस्यान्ये मुक्तिमिच्छन्ति वादिनः ।
प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ॥३९॥

अत्रापि=सांख्यवादे, अन्ये वादिनः=जैनाः, पुरुषस्य मुक्तिमिच्छन्ति प्रकृतिवियोगलक्षणाम् । प्रकृतिं चापि **सन्न्यायात्**=सत्तर्कात् , हि=निश्चितम् , कर्मप्रकृतिमेवेच्छन्ति, बुद्ध्यादीनां निमित्तत्वात् । तत्समन्वयश्च कथञ्चिदात्मादावेवोपपद्यते । सर्वथा सत्कार्यवादे तु सतः सिद्धत्वेनाऽकरणात् , साध्यार्थितयैवोपादानग्रहणात् , नियतादेव क्षीरादेः सामग्र्या दध्यादिदर्शनात् , सिद्धे शक्त्यव्यापारात् , तादात्म्ये स्वस्मिन्निव कार्य-कारण[त्वा]भावाद् [इति] विपरीतं हेतुपञ्चकम् ।

(सांख्यमत में तथ्यांश का निरूपण)

३९ वीं कारिका में सांख्योक्त विषयों में जिस रीति से उपपत्ति हो सकती है उस रीति से उस की उपपत्ति बताई गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

सांख्यसिद्धान्त में पुरुष की मुक्ति और प्रकृति का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार जैन विद्वानों ने पुरुष की मुक्ति व प्रकृति मान ली है और उनका कहना है कि पुरुष की प्रकृतिवियोगरूप मुक्ति होती है यह ठीक है किन्तु प्रकृति का जो स्वरूप सांख्य ने माना है वह न्यायपूर्वक विचार करने पर जैन शासन में वर्णित कर्मप्रकृति से भिन्न नहीं सिद्ध होती । अतः कर्मप्रकृति के रूप में ही प्रकृति मान्य हो सकती है, क्योंकि वही बुद्धि आदि सम्पूर्ण जगत् की निमित्त कारण होती है । उसका सम्बन्ध भी कथञ्चित् आत्मा में उपपन्न हो जाता है ।

[सत्कार्यवाद विरोधी हेतुपञ्चक]

सांख्यशास्त्र में सत्कार्यवाद का वर्णन किया गया है, वह भी यथावर्णित रूप में जैन विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि कार्य को सर्वथा सत् मानने पर सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिये सांख्यविद्वानों द्वारा प्रयोग में लाये गये पाँचों हेतु विपरीत हो जाते हैं । अर्थात् (१) जैसे असत् का करण=जन्म नहीं हो सकता उसी प्रकार सर्वथा सत् का भी स्वतःसिद्ध होने के कारण-जन्म नहीं हो सकता । (२) एवं जो सिद्ध है उसके लिये उपादान का ग्रहण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वथा सिद्ध में कुछ साधनीय नहीं होता और उपादान का ग्रहण साधनीय के लिये ही होता है । (३) सभी पदार्थों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती' यह हेतु भी सर्वथा सिद्धवस्तु के सम्बन्ध में उपपन्न नहीं होता, क्योंकि नियत दुग्धादिसामग्री से दधि के रूप में पूर्व असिद्ध का ही संपादन होता है । (४) 'शक्य द्वारा शक्य का ही करण होता है-' यह हेतु भी सर्वथा सिद्धवस्तु के सम्बन्ध में युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति का व्यापार भी सिद्ध में नहीं देखा जाता । (५) कार्य और कारण के तादात्म्य को भी सत्कार्यवाद का समर्थक नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्य और कारण में सर्वथा तादात्म्य मानने पर कार्यकारण भाव ही नहीं हो सकता–जैसे वही वस्तु उस का कार्य और कारण नहीं होती । अतः

यदि कारणव्यापारात् प्रागपि पटस्तन्तुषु सन्नेव, तदा किमित्युपलब्धिकारणेषु सत्सु सत्यामपि जिज्ञासायां नोपलभ्यते ? 'अनाविर्भावादि'ति चेत् । कोऽयमनाविर्भावः ? उपलब्धेरभावश्चेत् । सैव कथम् इत्याक्षेपे तदेवोत्तरम् , इति घट्टकुट्यां प्रभातम् । अथोपलब्धियोग्यस्यार्थक्रियाकारिरूपस्य विरहोऽनाविर्भाव इति चेत् ? असत्कार्यवादः, तादृशरूपस्य प्रागसतः पश्चाद्भावात् । 'विजातीयसंयोगस्य तदवच्छेदेन सन्निकर्षस्य वा व्यञ्जकस्याऽभावाद् न प्रागुपलब्धिरि'ति चेत् ? तर्हि तस्यैव प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यापातः । 'प्राक् सन्नेवाविर्भूतो व्यञ्जक' इति चेत्? न, आविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । 'स्थूलरूपावच्छिन्नस्य प्रागसत्त्वाद् नोपलब्धिः, धर्म-धर्मिणोः सौक्ष्म्यस्थौल्ययोश्चैकत्वाद् नानवस्थे'ति चेत् ? तर्हि सूक्ष्मरूपावच्छिन्नस्याऽहेतुकत्वेऽतिप्रसङ्गः । प्रकृतिमात्रहेतुकत्वे च स्थूलतादशायामपि तदापत्तिः, अनिर्मोक्षश्च इति न किञ्चिदेतत् । तस्माच्छबलस्यैव वस्तुनः कथञ्चित् सत्त्वम् असत्त्वं चोपपत्तिमत् । तथा च बुद्धयादीनामहंत्वसामानाधिकरण्येनाऽध्यवसीयमानत्वात् तद्धर्मतया तत्रैव समन्वयः, कर्मप्रकृतिस्तु तत्र निमित्तमात्रमिति प्रतिपत्तव्यम् ॥३९॥

इन हेतुओं से उत्पत्ति के पूर्व कार्य की एकान्त सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती अपितु यह सिद्ध होता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारणपर्याय के रूप में सत् होता है और कार्य पर्याय के रूप में असत् होता है ।

पट अपने कारणों के व्यापार के पूर्व भी तन्तुओं में यदि सर्वात्मना सत् होगा तो इस प्रश्न का कोई उत्तर दिया जाना कठिन होगा कि कारण व्यापार के पूर्व भी पट की उपलब्धि के समस्त कारणों के रहने पर और पट को उपलब्ध करने की इच्छा होने पर भी पट की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? 'उस समय पट का आविर्भाव न होने से पट की उपलब्धि नहीं होती' यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि आविर्भाव न होने का अर्थ है उपलब्धि का अभाव । अतः कारणव्यापार के पहले कार्य की उपलब्धि नहीं क्यों होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह नहीं दिया जा सकता कि कार्य की उपलब्धि का अभाव है, क्योंकि 'जिस उपलब्धि के अभाव से काय की अनुपलब्धि मानी जायगी वह उपलब्धि क्यों नहीं होती ?' यह प्रश्न भी उठेगा । अतः यह उत्तर नदी के घाट पर नदी पार करने का कर ग्रहण करने के लिये बनी हुई कुटी में ही प्रभात होने के समान होगा । आशय यह है कि जैसे कोई व्यक्ति रात्रि के समय नदी पार कर नदी और कुटी के बीच ही किसी रास्ते से इस अभिप्राय से नीकले कि जिससे कुटी पर उसे न जाना पडे और वह करदान से मुक्त हो जाय किन्तु रात के अन्धेरे में चलते चलते उस कुटी पर ही पहुंचने पर प्रभात हो जाय और वह कर ग्रहण करने वालों के घेरे में आ जाय उसी प्रकार 'कार्य को उत्पत्ति के पहले सर्वथा सत् मानने पर कारण व्यापार के पूर्व कार्य की उपलब्धि क्यों नहीं होती' इस प्रश्न का उक्त उत्तर देने पर उत्तरकर्ता पूर्वप्रश्न की परिधि में ही फँस जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि-आविर्भाव न होने का अर्थ है उपलब्धि योग्य वस्तु को उपलब्धि का विषय बनाने वाले रूप का अभाव ।-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर असत्कार्यवाद सिर पर खडा हो जाता है । क्योंकि उपलब्धि योग्य को उपलब्धि विषय बनाने वाले रूप का पहले

एवं च न पूर्वोक्तदोष इत्याह–

मूलम्–तस्याश्चानेकरूपत्वात् परिणामित्वयोगतः ।
आत्मनो बन्धनत्वाच्च नोक्तदोषसमुद्भवः ॥४०॥

तस्याश्च कर्मप्रकृतेः अनेकरूपत्वात् एकानेकशबलस्वभावत्वात्, परिणामित्वयोगतः ज्ञानावरणादिविपाकपरिणामोपपत्तेः, एकरूपत्व एवाऽनेककार्यजनकत्वाऽसंभवात् । आत्मनोऽन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धनत्वात्=स्वरूपतिरोधायकत्वात्, कर्माऽऽत्मनोर्द्वयोरपि बन्धन-बध्यस्वभावपरिणामात् तथोपपत्तेः, नोक्तदोषस्याऽनिर्मोक्षादेः समुद्भवोऽवकाशः ॥४०॥

अभाव और बाद में उस का भाव मानने पर ही उक्त बात कही जा सकती है। यदि यदि यह कहा जाय कि—'पट व्यापार के पूर्व कार्य के साथ इन्द्रिय का विजातीय संयोग अथवा जिस स्थान में कार्य को उपलब्धि होती है तत्स्थानावच्छेदेन इन्द्रियसन्निकर्षरूप व्यञ्जक का अभाव होने से कारण व्यापार के पूर्व कार्य की उपलब्धि नहीं होती—'तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस उत्तर में भी उक्त संयोग या सन्निकर्ष का पहले अभाव और बाद में भाव मानने से असत्कार्यवाद की आपत्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'उक्त संयोग या सन्निकर्ष पहले भी सत् रहता है किन्तु व्यञ्जक आविर्भूत होने पर व्यक्त होता है'–क्योंकि उसके अविर्भाव के विषय में भी सत् और असत् का विकल्प उठ सकता है।

यदि यह कहा जाय कि—कार्य स्थूल रूप से अवच्छिन्न होकर पहले नहीं रहता इसलिये पहले उसकी उपलब्धि नहीं होती और धर्म और धर्मी में ऐक्य होने से कार्य के सूक्ष्म और स्थूल रूप में ऐक्य होने से अनवस्था भी नहीं होती-तो यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि सूक्ष्मरूपावच्छिन्नकार्य को यदि अहेतुक माना जायगा तो कार्य सूक्ष्मरूप से किसी नियत देश ही में न रह कर अन्य देश में भी उसके अस्तित्व की आपत्ति होगी और यदि प्रकृतिमात्र को ही उसका हेतु माना जायगा तो कार्य की स्थूलत्व दशा में भी कार्य में सूक्ष्मता की आपत्ति होगी और उस सूक्ष्मता के कारण पहले के समान कारणव्यापार के बाद भी कार्य की उपलब्धि न हो सकेगी और सूक्ष्मरूपावच्छिन्न कार्य को अहेतुक या प्रकृतिमात्र हेतुक मानने पर उसका कभी भी अभाव न हो सकने से उसका बन्धन बने रहने के कारण मोक्ष का अभाव हो जायगा इसलिये वस्तु को अनेकान्तात्मक मानकर ही उसके सत्त्व और असत्त्व का कथञ्चित् उपपादन युक्तिसंगत हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि बुद्ध्यादि का अध्यवसाय अहमर्थ आत्मा में होता है, अत एव उसे अहमर्थ का धर्म मानकर अहमर्थ में ही उसका समन्वय मानना उचित है। कर्म प्रकृति तो उस में निमित्त मात्र है ॥३९॥

[प्रकृतिस्थानीय कर्म से बन्ध और मोक्ष का सम्भव]

४० वीं कारिका में यह बताया गया है कि—सांख्यमत में आत्मा में संसारित्व और मुक्तत्व की अनुपपत्तिरूप दोष जैन मत में नहीं हो सकता है। इस बात का उपपादन करते हुए कहा गया है कि कर्मप्रकृति अनेकरूप है अर्थात् एक-अनेक स्थिर-क्षणिक सत् असत्-आदि रूपों से उस का स्वभाव शबल-बहुविध है। अतः उस में ज्ञानावरणादि के विपाकात्मक परिणामों की उप-

परः शङ्कते-

मूलम्-नामूर्तं मूर्ततां याति मूर्त्तं नायात्यमूर्तताम् ।
यतो बन्धाद्यतो न्यायादात्मनोऽसंगतं तथा ॥४१॥

न अमूर्तं=रूपादिसंनिवेशरहितम् , मूर्ततां=रूपादिमत्परिणतिम् , याति=आश्रयति, आकाशादौ तथाऽदर्शनात् । तथा मूर्तं=रूपादिमत् , अमूर्तनां अमूर्तपरिणतिम् न आयाति परमाण्वादिषु तत्सद्भावाऽसिद्धेः, यतः=यस्मादेवं न स्वरूपविपर्ययो भवति, अतः=अस्मात् , न्यायात्=नियमात् तया=कर्मप्रकृत्या आत्मनो बन्धाद्यसंगतम् ॥४१॥

अत्रोत्तरम्-

मूलम्-देहस्पर्शादिसंवित्त्या न यात्येवेत्ययुक्तिमत् ।
अन्योन्यव्याप्तिजा चेयमिति बन्धादि संगतम् ॥४२॥

देहे स्पर्शः कण्टकादिस्पर्शः उपघातहेतूपनिपातोपलक्षणमेतत् , आदिनाऽनुग्रह-हेतूपनिपातसंग्रहः; तत्संवित्त्या=तज्जनितसुखदुखानुभूत्या, 'न यात्येव अमूर्तं मूर्तताम्' इति प्राक्त-

पत्ति हो सकती है । यदि उस का कोई एक ही रूप माना जाता तब वह अनेक कार्यों की जननी न होतो । कर्मप्रकृति और आत्मा का एक दूसरे में अनुप्रवेश होने के कारण कर्मप्रकृति के द्वारा आत्मा का बंधन आत्मा के सत्स्वरूप का तिरोधान भी हो सकता है, क्योंकि कर्म में बन्धन स्वभावात्मक परिणाम और आत्मा में बद्धस्वभावात्मक परिणाम होता है । अतः कर्म को आत्मा का बंधन और आत्मा को कर्म का बध्य होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, इसलिये जैन मत में आत्मा में संसार और मोक्ष के अभाव का प्रसंग नहीं हो सकता ॥४०॥

[मूर्त्त और अमूर्त्त के अन्योन्य अपरिवर्त्तन की आशंका]

४१ वीं कारिका में कर्म और आत्मा के जैन सम्मत अन्योन्यानुप्रवेश सम्बन्ध में सांख्यवेत्ताओं की यह शंका प्रदर्शित की गई है कि—

जो पदार्थ अमूर्त्त होता है, जिसमें रूप-स्पर्शादि का अस्तित्व नहीं होता वह पदार्थ मूर्त नहीं हो सकता । रूप स्पर्श आदि के आश्रयरूप में उसका परिणाम नहीं हो सकता जैसा कि आकाशादि में देखा जाता है । यह सर्वमान्य है कि आकाश आदि अमूर्त=रूपस्पर्शादिहीनपदार्थ कभी भी मूर्त रूप-स्पर्शादि से युक्त नहीं होता । इसी प्रकार जो पदार्थ मूर्त होता है, रूपस्पर्शादि से युक्त होता है उसका कभी अमूर्त परिणाम नहीं होता जैसे मूर्त परमाणु आदि में अमूर्त परिणाम कभी नहीं होता । इस प्रकार जब यह सिद्ध है कि वस्तु के स्वरूप में वैपरीत्य नहीं होता तब आत्मा के स्वरूप में भी वैपरीत्य की संभावना कैसे हो सकती है ? अतः कर्मप्रकृति से आत्मा का बंधनादि होना असंगत है ॥४१॥

[मूर्त्त-अमूर्त्त परिवर्त्तन की उपपत्ति]

४२ वीं कारिका में सांख्य की पूर्वोक्त शंका का उत्तर दिया गया है जो इस प्रकार है—देह में उपघातक कण्टक आदि का स्पर्श होने पर दुःखकी एवं अनुग्रह हेतुभूत माला चन्दन आदि के स्पर्श से सुखकी अनुभूति होती है, जिससे अमूर्त आत्मा का मूर्त्त होना सिद्ध है । अतः यह कथन कि-'अमूर्त

नानुषङ्गः, इति=एतत् अयुक्तिमत्=अनुभवबाधितम्। 'घटादिसंवित्तिवद् देहस्पर्शादिसंवित्तिरात्मनोऽतन्मयत्वेऽप्युपपत्स्यत' इत्यत आह-इयं च=देहस्पर्शादिसंवित्तिश्च अन्योन्यव्याप्तिजा गुड-शुण्ठीद्रव्ययोरिव शरीराऽऽत्मनोर्जात्यन्तरतापत्तिप्रभवा, प्रतिप्रतिकं तदनुभवात्, एकाभावेऽप्यभावाच्च। युक्तं चैतत्, अविभागदर्शनात्, नरत्वादेरेकनिष्ठत्वेऽतिप्रसङ्गात्, व्यासज्यवृत्तित्वे च परस्यापसिद्धान्तः, व्यासज्यवृत्तिजात्यनभ्युपगमात्, एकाश्रयत्वानुभवविरोधात्, शरीराऽप्रत्यक्षेप्यन्धकारे नरत्वप्रतीत्यनुपपत्तेश्च। तदिदमाह भगवान् सम्मतिकारः-

'अण्णोण्णाणुगयाणं इमं व तं वत्ति विभयणमजुत्तं।
जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥ [सन्मति० गाथा ४७] ॥

अन्योन्यानुगतयोरात्म-कर्मणोदुग्ध-पानीययोरिव यावन्तो विशेषपर्यायास्तावत्सु 'इदं वा तद् वा इति' विभजनमयुक्तम्, प्रमाणाभावात्। 'एवं तर्हि ज्ञानादयोऽपि देहे स्युः, देहरूपा-

---

कभी मूर्त नहीं होता' अनुभव से बाधित होने के कारण अयुक्त है। यदि यह कहा जाय-'जैसे आत्मा में घटादिरूपता न होने पर भी उसको घटादि का अनुभव होता है, उसी प्रकार देह स्पर्शादि न होने पर भी देहस्पर्शादि का अनुभव आत्मा को हो सकता है। अतः आत्मा को देहस्पर्शादिमय मानकर अमूर्त्त को मूर्त्त के रूप में परिणत होने की सिद्धि नहीं की जा सकती'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा को देहस्पर्शादि की अनुभूति होती है वह देह और आत्मा की एक दूसरे में व्याप्ति होने से ही होती है अतः जैसे गुड और सूंठ इन दोनों द्रव्यों का परस्पर में मिश्रण हो जाने पर ही एक में दूसरे के धर्म की अनुभूति होती है उसी प्रकार देह और आत्मा का परस्पर में मिश्रण हो जाने पर ही एक में दूसरे के धर्म की अनुभूति होती है, देह और आत्मा का परस्पर में मिश्रण अर्थात् आत्मा में देह रूपता और देह में आत्मरूपता होने पर ही आत्मा में देहस्पर्शादि की अनुभूति हो सकती है।

[सांख्यमत में देहात्म अविभाग की अनुपपत्ति]

यह इसलिये मानना आवश्यक है कि दोनों में दोनों के धर्मों की अनुभूति होती है और एक के अभाव में दूसरे की अनुभूति नहीं होती और यही युक्तिसंगत भी है--क्योंकि देह और आत्मा में अविभाग देखा जाता है।

सांख्य मतमें देह और आत्मा का यह अविभाग नहीं उपपन्न हो सकता है क्योंकि नरत्व आदि धर्मों को एकमात्रगत मानने पर दूसरे में उसका अनुभव मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा और उभयवृत्ति अर्थात् देह-आत्म उभयगत मानने पर अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि सांख्य मत में व्यासज्यवृत्ति जाति नहीं मानी जाती है। नरत्व और आत्मत्व में 'अहं नरः' इस प्रकार एकाधिकरणता का अनुभव होता है सांख्यमत में इसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। एवं अन्धकार में शरीर का प्रत्यक्ष न होने पर भी नरत्व की प्रतीति होती है, सांख्यमत में इसकी भी उपपत्ति नहीं हो सकती। जैनमत में इन त्रुटियों की संभावना नहीं होती क्योंकि देह और आत्मा का अन्योन्य मिश्रण होने के कारण आत्मा में देह धर्म और देह में आत्मधर्म की अनुभूति होने में कोई बाधा नहीं होती। भगवान् सन्मतिकार ने इस बात को 'अण्णोणा०' इस गाथा से स्पष्ट किया है। गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

---

१ अन्योन्यानुगतयोरिदं वा तद् वेति विभजनमयुक्तम्। यथा दुग्धपानीययोर्यावन्तो विशेषपर्यायाः।

दयोऽप्यात्मनी'ति चेत् ? इष्टापत्तिः । तदाह—

'[1]रूवाइपज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ १ ॥ इति । [सन्मति० ४८]

'गौरोऽहं जानामि' इत्यादिधियस्तथैवोपपत्तेः, रूपादि-ज्ञानादीनामन्योऽन्यानुप्रवेशेन कथञ्चिदेकत्वा-ऽनेकत्व-मूर्तत्वादिसमावेशात् । अत एव दण्डात्मादीनामेकत्वं अनेकत्वं च स्थानाङ्गे व्यवस्थितम् । तदाह—

"[2]एवं एगे आया, एगे दंडे अ होइ किरिया य ।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा ॥ १ ॥ [सन्मति० ४९]

नन्वेवमन्तर्हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकमेकं चैतन्यम्, बहिर्बाल-कुमार-यौवनाद्यनेका-

(अन्योन्यानुगत में विभाग की अयुक्तता)

'जो द्रव्य परस्पर में अनुगत होते हैं अर्थात् जिनमें परस्पर तादात्म्य होता है उनमें 'यह और वह एवं ये धर्म इसके और वे धर्म उसके' इस प्रकार का विभाग युक्तिसंगत नहीं होता। जैसे दूध और पानी में जितने ही विशेष पर्याय होते हैं उन्हें दुग्ध पर्याय और जलपर्याय इन दो वर्ग में विभक्त नहीं किया जाता है उसी प्रकार आत्मा और कर्म अन्योन्यानुगत होते हैं अतः उनके पर्यायों को भी देह पर्याय और आत्मपर्याय के रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार के विभाजन में कोई प्रमाण नहीं होता।'

इस प्रसंग में यह आपत्ति उठाना कि—'ऐसा मानने पर ज्ञान आदि देह के धर्म हो जायेंगे और स्पर्शादि आत्मा के धर्म हो जायेंगे--'यह ठीक नहीं है. क्योंकि जैन मत में यह बात मान्य ही है जैसा कि 'रूपादिपर्यवा०' आदि गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि--देह के रूप आदि पर्याय एवं जीवद्रव्य के पर्याय देह और जीवद्रव्य के अन्योन्य अनुगत होने से जीवकी भवस्थ दशा में एक दूसरे के धर्म रूप में मान्य है।' ऐसा मानने पर 'गौरोऽहं जानामि' इस रूप में देह के धर्म गौररूप और आत्मा के धर्म ज्ञानका एक आश्रय में अनुभव हो सकता है। और यदि देह और आत्मा का अन्योन्यानुवेध-परस्पर तादात्म्य न माना जायगा तो इस अनुभव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। देह और आत्मा में अन्योन्यानुप्रवेश होने से रूप आदि देह धर्म और ज्ञान आदि आत्मधर्मों में भी अन्योन्यानुप्रवेश तादात्म्यरूप होता है और उनके धर्म का अनुप्रवेश सामानाधिकरण्य यानी एकाश्रयनिष्ठत्व रूप होता है। अन्योन्यानुप्रवेश के कारण ही एक वस्तु में एकत्व अनेकत्व तथा मूर्तत्व अमूर्तत्व आदि धर्मों का कथञ्चित् समावेश होता है। इसलिए ठाणांग सूत्र में भी आत्मा और दण्ड आदि में एकत्व और अनेकत्व का समावेश बताया गया है। जैसा कि "एवं एगे आया०" इस सम्मति सूत्र से भी स्पष्ट होता है। सूत्र का अर्थ यह है कि आत्मा स्वरूपदृष्टि से एक होता है और दण्ड तथा क्रियाभी सामान्य की दृष्टि से एक होता है किन्तु करण विशेष से तीन प्रकार के योग की सिद्धि में कोई विरोध नहीं होता इसलिये एक ही आत्मा और दण्ड आदि त्रितयात्मक हो जाता है।

१ रूपादिपर्यवा ये देहे जीवद्रव्ये शुद्धे । तेऽन्योन्यानुगताः प्रज्ञापनीया भवस्थे ॥
२ एवमेक आत्मा एको दण्डश्च भवति क्रियाऽपि । करणविशेषेण च त्रिविधयोगसिद्धिरप्यविरुद्धा ॥

वस्थात्मकमेकं शरीरमध्यक्षतः संवेद्यत इत्यस्य विरोधः, बाह्या-ऽभ्यन्तरविभागाभावादि'ति चेत् ? सत्यम्, आत्मभिन्नत्वाभ्यां तद्व्यपदेशाद् । तदाह–

'ण य बाहिरओ भावो अब्भंतरओ अ अत्थि समयम्मि ।
णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भंतरविसेसो ॥ [सन्मति·५०]

सर्वस्यैव मूर्ताऽमूर्त्तादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकत्वात् 'अयं बाह्यः, अयं चाभ्यन्तरः' इति समये न वास्तवो विभागः । अभ्यन्तर इति व्यपदेशस्तु नोइन्द्रियं मनः प्रतीत्य, तस्याऽऽत्मपरिणतिरूपस्य पराऽप्रत्यक्षत्वात्, शरीर-वाचोरिव । न च तद्वदेव तस्य परप्रत्यक्षत्वापत्तिः; इन्द्रियज्ञानस्याशेषपदार्थस्वरूपग्राहकत्वाऽयोगात् । एवं च स्याद्वादोक्तिरेव युक्ता न तु परस्परनिरपेक्षनयोक्तिर्विना श्रोतृधीपरिकर्मणानिमित्तम्, वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वात् । तदाह—

(विवर्त्तों के बाह्याभ्यन्तरविभाग अनुपपत्ति की आशंका)

देह और आत्मा में अन्योन्यानुवेध मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि--'हर्ष विषादादि अनेक आभ्यन्तर विवर्त्तों से अभिन्न एक चैतन्य है, और बाल्य-कौमार्य, यौवनादि अनेकविधावस्थाओं से अभिन्न एक शरीर है यह जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह नहीं हो सकेगा । क्योंकि देह और आत्मा एवं उनके विवर्त्त और अवस्थाओं में अन्योन्यानुवेध मानने पर बाह्य और आभ्यन्तर का विभाग नहीं हो सकता ।' किन्तु यह शंका केवल आपाततः उचित हो सकती है, क्योंकि आत्मा के भेदाऽभेद के कारण चैतन्यस्वरूप आत्मा के उक्त विवर्त्त और देह की उक्तावस्थाओं में बाह्य और आभ्यन्तर के अनुभाग न होने पर भी मनोग्राह्यत्व और मनोग्राह्यत्वाभाव रूप से बाह्याभ्यन्तर का व्यवहार हो सकता है । कहने का आशय यह है कि देह और आत्मा के अन्योन्यानुवेध होने से आत्मधर्म भी देहगत होने से बाह्य और देहधर्म आत्मगत होने से आभ्यन्तर हो जाते हैं । अतः देह और आत्मधर्म को बाह्य और आभ्यन्तररूप में विभक्त नहीं किया जा सकता । किन्तु हर्ष-विषादादि चैतन्य के विवर्तों का मानसज्ञान होता है और देह की बाल कौमारादि अवस्थाओं का मानसज्ञान नहीं होता । अत एव मानसत्वरूप से उनका विभाग हो सकता है । और उस विभाग के आधार पर चैतन्य और देह के उक्त प्रत्यक्षानुभव की उपपत्ति भी हो सकती है । जैसा कि--'ण य बाहिरओ०' इस गाथा में स्पष्ट किया गया है । गाथा का अर्थ यह है कि जैन प्रवचन में देह और आत्मा के भावों का बाह्य और आभ्यन्तर इस प्रकार भेद नहीं होता है किन्तु नोइन्द्रिय-मनसे होने वाली प्रतीति और अप्रतीति के आधार पर उनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर का व्यवहार होता है । जैन मत में सभी वस्तु मूर्त्त और अमूर्त्त आदि रूपसे अनेकान्त स्वरूप है । यह बाह्य भाव है, यह आभ्यन्तर भाव है–यह भावों का विभाग केवल प्रवचन का विषय है, वास्तव नहीं है । हर्षविषादादि आत्मधर्मों में जो आभ्यन्तर का व्यवहार होता है वह उनको मनोग्राह्यता के कारण होता है । वे धर्म आत्मा के परिणाम रूप होने से शरीर और वाणी की तरह दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं होते । दूसरों को उनका प्रत्यक्ष न होना ही उन्हें बाह्य व्यवहार से वंचित कर आभ्यन्तर व्यवहार का पात्र बना देता है । शरीर और वाणी के समान हर्ष-विषादादि में परप्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती है–क्योंकि परप्रत्यक्ष इन्द्रिय से होता है

१ न च बाह्यको भावोऽभ्यन्तरकश्चास्ति समये । नोइन्द्रियं पुनः प्रतीत्य भवत्यभ्यन्तरविशेषः ॥

[1]दव्वट्ठियस्स आया वंधइ कम्मं फलं च वेएइ ।
बिइयस्स भावमेत्तं ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ [सं०-५१]

दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए नियमा ।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ [सं०-५२]

जे वयणिज्जविअप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु ।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा ॥ [सं०-५३]

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पण्णविज्ज अण्णयरं ।
परिकम्मणानिमित्तं दाएही सो विसेसंपि ॥ [सं०-५४]

तस्माद् देहात्मनोऽन्योन्यव्याप्तिजैव देहस्पर्शादिसंवित्तिरिति सिद्धम् ।
इति हेतोः, बन्धादि **संगतं**=युक्तम् कार्यान्यथानुपपत्तेः ॥४२॥

और इन्द्रियजन्यज्ञान अशेषपदार्थ का ग्राहक नहीं होता है। इस प्रकार स्याद्वाद का मत ही युक्ति संगत है । जो कथन परस्पर निरपेक्ष नयमूलक होता है वह श्रोता की बुद्धि को व्युत्पत्त्याधान रूप निमित्त के बिना ग्राह्य नही हो सकता । क्योंकि वस्तु अनैकान्तिक होती हैं और नय एकान्तदृष्टि-रूप होता है अतः वह अन्यनय से निरपेक्ष होकर वस्तु के यथार्थस्वरूप को प्रस्तुत नहीं कर सकता। जैसा कि 'दव्वट्ठिअस्स०' आदि कारिकाओं में स्पष्ट है ।

कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—द्रव्यास्तिक नय की दृष्टि से आत्मा कर्मबन्ध को उत्पन्न करता है और उसके फल का अनुभव भी करता है किन्तु पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से आत्मा भावमात्र होता है वह अल्पकालिक होने से न चिरस्थायी कर्मबन्ध को उत्पन्न करता है न वही उसके फल का अनुभव करता है । द्रव्यास्तिक नय की दृष्टि से जो कर्म करता है नियम से वही फल का भोक्ता होता है, किन्तु पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से कर्म करने वाला आत्मा दूसरा होता है और फल का भोक्ता दूसरा होता है क्योंकि कर्मकाल का आदिमपर्याय भोगकाल में नहीं रहता इसीलिये पर्यायभेद से आत्मभेद हो जाता है ।

द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों का आश्रय लेकर जो विकल्पवचन कहे जाते हैं उससे अपने सम्यक् प्रवचन का परिज्ञापन होता है, तीर्थंकर का अवमान नहीं होता। उपदेष्टा को उपदेश्य पुरुष के प्रति उपर्युक्त नयों में किसी भी नय के आधार पर वस्तु के स्वरूप का ज्ञापन करना

१ द्रव्यास्तिकस्याऽऽत्मा बध्नाति कर्म फलं च वेदयति ।
द्वितीयस्य भावमात्रं, न करोति न च कोऽपि वेदयति ॥५१॥
द्रव्यास्तिकस्य य एव करोति स एव वेदयति नियमात् । अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते पर्यवनयस्य ॥५२॥
ये वचनीयविकल्पाः संयुज्यमानयोर्भवन्त्येतयोः । सा स्वसमयप्रज्ञापना तीर्थंकराशातनाऽन्या ॥५३॥
पुरुषजातं तु प्रतीत्य ज्ञायकः प्रज्ञापयेदन्यतरत् । परिकर्मणानिमित्तं दर्शयेत् स विशेषमपि ॥५४॥

न च सहचारमात्रदर्शनादुक्तनियमोऽपीत्याह–

मूलम्–मूर्तयाऽप्यात्मनो योगो घटेन नभसो यथा ।
उपघातादिभावश्च ज्ञानस्येव सुरादिना ॥४३॥

मूर्तयापि=प्रकृत्या आत्मनो योगः 'संभवति' इति शेषः । दृष्टान्तमाह-यथा घटेन नभसः । 'घटेन संयुक्तमपि नभो न घटस्वभावतां यातीति न दोष' इति चेत् ? स संयोगः किं घटस्वभावः, नभःस्वभावः, उभयस्वभावः, अनुभयस्वभावो वा ? आद्ययोरुभयनिरूप्यत्वानुपपत्तिः । तृतीये च वदतो व्याघातः, घटस्वभावसंयोगवत्तया नभसो घटस्वभावत्वात् । चतुर्थे त्वनुपाख्यत्वापत्तिः, इति न किञ्चिदेतत् ।

चाहिये किन्तु उत्पादनीय ज्ञान में सम्यक्त्व का संपादन करने के लिये उसे विशेष-अन्यनय सम्मत बात का भी उपदेश करना चाहिये ।

इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि आत्मा को देह स्पर्शादि की अनुभूति देह और आत्मा की अन्योन्यव्याप्ति-एक में दूसरे के अनुप्रवेश से ही होती है । अतः कार्य की प्रकारान्तर से उपपत्ति न होने के कारण जैनशास्त्रोक्त प्रकार से ही आत्मा में बन्ध और मोक्ष का होना युक्तिसंगत है ।

(मूर्त्त और अमूर्त्त के सम्बन्ध की उपपत्ति)

४३ वीं कारिका में यह बताया गया है कि-'दो वस्तुओं के केवल सहचारमात्र से उनके धर्मों की एक दूसरे में अनुभूति का नियम नहीं बन सकता। किन्तु उसके लिये वस्तुओं का अन्योन्यात्मकत्व आवश्यक हैं–

कारिका का अर्थ इस प्रकार है-अमूर्त आत्मा का भी मूर्त प्रकृति के साथ सम्बन्ध हो सकता है, जैसे अमूर्त आकाश का घटके साथ । यदि कहा जाय कि-'आकाश घट से संयुक्त होकर भी घटस्वभाव नहीं होता इसलिये उनका सम्बन्ध तो बुद्धिगम्य है किन्तु प्रकृति और आत्मा का सम्बन्ध तो आप ऐसा मानते हैं जिस से आत्मा प्रकृतिस्वभाव बन जाता है । अतः प्रकृति और आत्मा के बीच अभिमत सम्बन्ध के अनुकूल यह दृष्टान्त नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं हैं क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में पूर्णतया साम्य नहीं अपेक्षित होता । अतः प्रकृति सौर आत्मा में घट और आकाश का पूर्ण साम्य न होने पर भी 'मूर्त्त के साथ अमूर्त का सम्बन्ध संभव है' इस बात को अवगत कराने के लिये तो यह दृष्टान्त हो ही सकता है । घट आकाश के संयोग से जो आकाश को घटस्वभावता या घट को आकाशस्वभावता नहीं होती उसका कारण यह है कि उन दोनों का संयोग इसके लिये समर्थ नहीं है, जैसे घटाकाश संयोग के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि वह संयोग घटस्वभाव हैं या आकाशस्वभाव है अथवा घट-आकाश उभय स्वभाव हैं कि वा अनुभय स्वभाव है ? पहले दो पक्ष मान्य नहीं हो सकते क्योंकि उन पक्षों में वह संयोग घट-आकाश उभय से निरूप्य न हो सकेगा, क्योंकि घटस्वभाव आकाश से और आकाशस्वभाव घट से निरूप्य नहीं होता । और तृतीय पक्ष तो कथन मात्र से ही व्याहत हो जाता है, क्योंकि यदि वह संयोग उभय स्वभाव होगा तो आकाश में घटस्वभावात्मक संयोग रहने से आकाश घट स्वभाव हो जायगा फिर घटाकाश के अभिन्न हो जाने से उभय का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होगा। अतः संयोग को उभय स्वभाव कहना उपपन्न न हो

'अस्तु तर्हि नभसो घटादिनेव कर्मणा जीवस्य संबन्धः, ततोऽनुग्रहोपघातौ तु तस्य नभस्वदेव न' इत्यत आह–उपघातादिभावश्च=उपघाताऽनुग्रहभावश्च मूर्ताया अपि कर्मप्रकृतेः सकाशात् सुरादिना=सुरा-ब्राह्मी-घृतादिना ज्ञानस्येव युक्तः, अङ्गाऽङ्गिभावलक्षणसंबन्धप्रयोज्यत्वात् तस्येति भावः।

ननु 'सर्वमिदमात्मनोऽविभुत्वे संभवति, तदेव चाद्यापि न सिद्धिमि'ति चेत् ? न; शरीरनियतपरिमाणवत्त्वेनैवाऽऽत्मनोऽनुभवात्, मूर्त्तत्वसंशयस्य ज्ञानप्रामाण्यसंशयादिनोपपत्तेः। न च द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने हेतोर्महत्त्वस्याऽऽत्मनि सिद्धौ तस्यावयवमहत्त्वाद्यजन्यत्वेन नित्यत्वे 'आत्मा विभुः, नित्यमहत्त्वात्, आकाशवत्' इत्यनुमानात् तस्य विभुत्वमेव युक्तमिति वाच्यम्; नित्यमहत्त्वेऽप्यपकृष्टपरिमाणवत्त्वे बाधकाभावेनाऽप्रयोजकत्वात्। 'अपकृष्टत्वे तस्य

सकेगा। चौथा पक्ष भी ग्राह्य न हो सकेगा, क्योंकि घट और आकाश का संयोग यदि घटस्वभाव एवं आकाश स्वभाव न होगा तो उस में किसी अन्य स्वभाव होने की कल्पना भी शक्य न होने के कारण वह असत् हो जायगा।

इस प्रसङ्ग में शङ्का हो सकती है कि-'जैसे घटादि के साथ आकाश का सम्बन्ध होने पर भी घटादि के अनुग्रह और उपघात का आकाश में कोई प्रभाव नहीं होता उसी प्रकार कर्मप्रकृति से जीव का सम्बन्ध होने पर भी उससे आत्मा में कोई अनुग्रह एवं उपघात नहीं होना चाहिये'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कर्मप्रकृति के मूर्त्त होने पर भी उस में उपघात और अनुग्रह होता है इसलिये उसके सम्बन्ध से आत्मा में उपघात और अनुग्रह हो सकता है। इसको समझने के लिये मद्यादि का दृष्टान्त उपादेय है। आशय यह है कि जैसे मनुष्य में मद्य-एवं ब्राह्मी घृत आदि के सम्पर्क से उस का ज्ञान मद्य और घृत के दोष और गुणों से विकृत और संस्कृत होता है उस प्रकार कर्मप्रकृति के सम्बन्ध से आत्मा भी उस के उपघात और अनुग्रह से उपहत और अनुगृहीत हो सकता है। यह उपघात और अनुग्रह प्रकृति और आत्मा में अङ्गाङ्गीभावरूप सम्बन्ध के नाते होता है और मूल प्रकृति उस का अङ्ग होती है। घटादि और आकाश में अङ्गाङ्गी भाव सम्बन्ध नहीं होता। अतः घटादि के उपघात और अनुग्रह से आकाश में उपघात और अनुग्रह नहीं होता। ऐसा मानने पर शङ्का हो सकती है कि-'यह बात तभी युक्तिसङ्गत हो सकती है जब आत्मा को अविभु माना जाय, किन्तु अविभुत्व उस में सिद्ध नहीं होता अतः मूल प्रकृति और आत्मा के बीच विवक्षित सम्बन्ध नहीं हो सकता' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में शरीर के समानपरिमाणता का अनुभव होता है। इसलिये आत्मा का अविभुत्व अनुभवसिद्ध है। इस अनुभव के होने पर भी जो कभी किसी को आत्मा के मूर्त्तत्व विषय में सन्देह होता है वह इस अनुभव में प्रामाण्य का सन्देह होने के कारण होता है। वस्तुतः उस में कोई मूर्त्तत्व का संशयापादक धर्म नहीं है।

[आत्मविभुत्व की शंका का परिहार]

शङ्का हो सकती है कि-'द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण होता है अतः आत्मा के प्रत्यक्ष के अनुरोध से उस में भी महत्त्व मानना होगा। और वह महत्त्व अवयवगत महत्त्वादि से उत्पन्न न होने के कारण नित्य होगा। अतः नित्य महत्त्व से आत्मा में विभुत्व का इस प्रकार अनुमान हो जायगा

जन्यत्वापत्तिर्बाधिका, गगनमहत्त्वावधिकापकर्षस्य बहुत्वजन्यतावच्छेदकत्वादि'ति चेत् ? न, परमाणुपरिमाणसाधारणतयाऽस्य कार्यताऽनवच्छेदकत्वात्, त्रुटिमहत्त्वावधिकोत्कर्षेण समं सांकर्यात् तादृशजात्यसिद्धेश्च, वस्तुतः प्रदीपप्रभाया इवात्मनः संकोच-विकाशाभ्यां परिमाण-भेदस्याऽभ्युपगमेन सर्वथा नित्यमहत्त्वाऽसिद्धेश्च ।

कथं चात्मनो विभुत्वे स्वस्मिन् क्रियादिप्रतीतिः, तीर्थगमनादेरदृष्टहेतुत्वश्रवणादिकं चोपपादनीयम् ? । कथं वात्मनः सर्वगतत्वात् स्वशरीरादन्यत्रापि न ज्ञानाद्युत्पादः ? 'शरीरा-

---

कि-आत्मा विभु है क्योंकि वह नित्य महत्त्व का आश्रय है। जो नित्य महत्त्व का आश्रय है वह विभु होता है जैसे आकाश।-'अतः आत्मा को विभु मानना ही युक्त है। और इसी कारण आत्मा में शरीर के समानपरिमाणता का अनुभव भ्रम है। भ्रम से विषय की सिद्धि नहीं होती अतः आत्मा का मूर्त्तत्व असंभव है-' किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा में नित्य महत्त्व होने पर भी उस में अपकृष्ट परिमाण मानने में कोई बाधा न होने से नित्य महत्त्व से विभुत्व का अनुमान अप्रयोजक है। 'आत्मा के परिमाण को अपकृष्ट मानने पर उसे जन्य मानना होगा, क्योंकि गगन के महत्त्व से अपकृष्ट परिमाण अवयवगत बहुत्व से जन्य होते हैं' यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि आकाश के महत्त्व से अपकृष्ट परमाणु के परिमाण में अवयवगत बहुत्व के जन्यत्व का व्यभिचार है। और आकाशगत महत्त्व से घटादिगत महत्त्व में जो अपकर्ष होता है उसे जातिस्वरूप न मान सकने के कारण वह आकाशगत महत्त्व से अपकृष्ट सभी परिमाणों में अवयव बहुत्व की जन्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। उक्त अपकर्ष को जातिस्वरूप इसलिये भी नहीं माना जा सकता कि-उस में त्र्यणुकगत महत्त्वावधिक उत्कर्ष के साथ सांकर्य हो जाता है। जैसे त्र्यणुकगत महत्त्वावधिक उत्कर्ष आकाश परिमाण में है किन्तु उस में आकाशगत महत्वावधिक अपकर्ष नहीं है। एवं यह अपकर्ष परमाणु और द्वयणुक के परिमाण में है किन्तु उस में त्र्यणुक महत्त्वावधिक उत्कर्ष नहीं है और घटादि में त्र्यणुक महत्त्वावधिक उत्कर्ष और आकाशमहत्वावधिक अपकर्ष दोनों विद्यमान है। अतः सांकर्य होने के कारण उक्त अपकर्ष के जातिरूप न हो सकने से उसे अवयवगत बहुत्व की जन्यता का अवच्छेदक मानना असंभव है। और सच बात तो यह है कि आत्मा का महत्त्व एकान्तरूप से नित्य हो भी नहीं सकना, क्योंकि आत्मा प्रदीप की प्रभा के समान संकोच-विकाशशील है अतः उसका परिणाम परिवर्त्तित होता रहता है। और परिवर्त्तित होनेवाली वस्तु एकान्तनित्य हो नहीं सकती।

आत्मा को विभु मानने में बाधक भी है और वह है आत्मा में क्रियादि की प्रतीति, जो आत्मा को विभु मानने पर नहीं उपपन्न हो सकती। इस के अतिरिक्त तीर्थगमनादि में शास्त्र जो पुण्यजनकता का प्रतिपादन करता है उस को भी उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विभु का तीर्थगमन कैसे हो सकता है? आत्मा अपने शरीर को छोड कर अन्य द्रव्य में ज्ञानादिमान् नहीं होता। किन्तु यदि उसे सर्वगत माना जायगा तो यह बात न बन सकेगी क्योंकि जैसे अपने शरीर के साथ उसका सम्बन्ध होता है उसी प्रकार अन्य द्रव्यों के साथ भी उसका सम्बन्ध होता है।

यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञानादि के प्रति शरीर कारण होता है अतः शरीर भिन्न द्रव्य में आत्मा ज्ञानादिमान् नहीं होता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भी आत्मा को अन्य शरीर में

भावादि'ति चेत् ? न, अन्यशरीरस्य सत्त्वात् । 'स्वशरीराभावादिति' चेत् ? न, स्वसंयुक्तत्वेन तस्याऽपि स्वीयत्वात् । 'स्वादृष्टोपगृहीतशरीराभावादि' ति चेत् ? तर्हि उपजीव्यत्वात् अदृष्टस्यैव तद्ज्ञानादिहेतुत्वात् तस्य शरीरव्यापितयाऽऽत्मनस्तथात्वसिद्धिः । तदुक्तम्— * "यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र०" ? इत्यादि। अपि च, आत्मविभुत्ववादे ज्ञानादीनामव्याप्यवृत्तित्वादिकल्पने गौरवमिति न किञ्चिदेतत् । अधिकं न्यायालोकादौ ॥४३॥

उपसंहरन्नाह—

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥४४॥

ज्ञानादिमान् होने की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि-'तत्तद् आत्मा के ज्ञानादि में तत्तद् आत्मा का ही शरीर कारण है'- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के विभु होने से सभी शरीरों में उसका सम्बन्ध होने के कारण शरीर का तत्तद् आत्मा के स्वशरीर और पर शरीर के रूप में विभाग नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि-'स्वशरीर का अर्थ है स्व के अदृष्ट से प्राप्त शरीर और परशरीर का अर्थ है स्व के अदृष्ट से अप्राप्त शरीर, इस रूप में विभु आत्मा का भी शरीरविभाग हो सकता है' तो यह भी ठीक नहीं हो सकता । क्योंकि ऐसा मानने पर अदृष्ट शरीर के विभाग' का उपजीव्य होने के कारण तत्तद् आत्मा के अदृष्ट को ही तत्तद् आत्मा के ज्ञानादि का कारण मानना उचित होगा । और उस अदृष्ट एक शरीर मात्र में ही व्याप्त होने के कारण आत्मा का भी एक शरीर मात्र में ही व्याप्त होना उचित होगा । अतः आत्मा शरीर का समपरिमाण हो सकता है, विभु नहीं हो सकता । पू. हेमचन्द्राचार्य महाराज ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका स्तुतिमें "यत्रैव यो दृष्टगुणः' इस कारिका से इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि-'जितने देश में जिसका गुण देखा जाता है उतने देश में ही उस का अस्तित्व होता है । उससे अतिरिक्त देश में उस का अस्तित्व मानने में कोई युक्ति नहीं होती" । इस के अतिरिक्त आत्मा के विभुत्व पक्ष में यह भी दोष है कि यदि आत्मा विभु होगा तो उसके ज्ञानादि में अव्याप्यवृत्तित्व की कल्पना करनी होगी । क्योंकि विभु आत्मा के पूरे भाग में ज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । और यदि मानी जायगी तो आत्मा से सम्बद्ध समस्त द्रव्यों में उसके फलाऽफल की आपत्ति होगी । अतः आत्मा के विभुत्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है वह सब नगण्य है । इस विषय का विस्तृत विचार न्यायालोक आदि ग्रन्थों में दृष्टव्य है ।।४३।।

(प्रकृतिवाद की सापेक्ष सत्यता का अनुमोदन)

प्रस्तुत विचार का उपसंहार करते हुए ४४ वीं कारिका में यह बताया गया है कि आर्हतों की अनेकांत दृष्टि से विचार करने पर सांख्य का प्रकृतिवाद भी सत्य सिद्ध होता है, मिथ्या नहीं । वह मिथ्या हो भी नहीं सकता क्योंकि द्रव्यार्थिक नय का अवलंबन कर कपिल मुनि ने प्रकृतिवाद के

* 'कुम्भादिवन्निष्प्रतिक्षमेतत् । तथापि देहाद्‌बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ।।' इति शेषपादत्रयं हेमचन्द्राचार्यविरचितायामन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां श्लो. ६ ।

एवम् उक्तप्रकारेण, हि=निश्चितम्, प्रकृतिवादोऽपि सत्य एव विज्ञेयः नानृतः, उपपत्त्यन्तरमाह-कपिलोक्तत्वतश्चैव=द्रव्यार्थिकनयावलम्बिकपिलप्रणीतत्वाच्चैव । तेनाऽनृत एवायं वाद उक्तो भविष्यतीत्यत आह-हि=यतः स महामुनिः दिव्यः=अद्भुतशीलाचरणशाली, अतो नानृतं ब्रूयात्, इति तस्याऽप्ययमेवाऽभिप्राय इति भावः ॥४४॥

सांख्य ! सख्यमिदमेव केवलं मन्यसे प्रकृतिजन्म यज्जगत् ।
आत्मनस्तु भणितौ विधर्मणः संख्यमेव भजदेवमावयोः ॥१॥
आत्मानं भवभोगयोगसुभगं विस्पष्टमाचष्ट यो
यः कर्मप्रकृतिं जगाद जगतां बीजं जगच्छर्मणे ।
नद्योऽब्धाविव दर्शनानि निखिलान्यायान्ति यद्दर्शने
तं देवं शरणं भजन्तु भविनः स्याद्वादविद्यानिधिम् ॥२॥

इति पण्डित श्री पद्मविजयसोदरन्यायविशारदपण्डितयशोविजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायां तृतीयः स्तवकः संपूर्णः ॥

अभिप्रायः सूरेरिह हि गहनो दर्शनततिर्निरस्या दुर्धर्षा निजमतसमाधानविधिना ।
तथाप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञांह्रिभजने । न भग्ना चेद्भक्तिर्न नियतमसाध्यं किमपि मे ॥१॥
यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशया
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदर–
स्तेन न्यायविशारदेन रचिते ग्रन्थे मतिर्दीयताम् ॥२॥

समर्थक सांख्य शास्त्र की रचना की है। कपिल एक महान् मुनि है और अद्भुत शील और आचरण से संपन्न है अतः वे मिथ्या नहीं कह सकते। इसलिए प्रकृतिवाद के संबन्ध में उन्हों ने जो कुछ कहा है उसका भी वही अभि ाय मानना चाहिए जो कर्मप्रकृतिवादी आर्हत महर्षियों का है।

व्याख्याकार पू. उपा. यशोविजयजी ने इस विचार का यह कहते हुए उपसंहार किया है कि-सांख्य से उनकी मित्रता केवल इस कारण है कि सांख्य भी उन्हीं के समान जगत् को प्रकृतिजन्य मानता है। किन्तु आत्मा के सबन्ध में उसने जो यह कहा है कि आत्मा निर्धर्मक होता है। उस विषय में उसके साथ हमारा वैचारिक संग्राम सदा चलता रहेगा ॥१॥ व्याख्याकार ने इस विचार के पर्यवसान में अपनी यह आकांक्षा प्रकट की है कि जिस देव ने आत्मा को अत्यंत स्पष्ट रूप में सांसारिक भोग के याग्य बताया है और जिस देव ने जीवमात्र के कल्याण मार्ग के उद्घाटनार्थ कर्मप्रकृति को जगत् का बीज बताया है एवं जिसके दर्शन में समुद्र मे नदीयों के समान अन्य सभी दर्शन समाविष्ट हो जाते हैं-स्याद्वाद विद्या के महान् आश्रय उस देव की ही शरण में संसार के भव्य मनुष्य को उपस्थित होना चाहिये ॥२॥

अभिप्रायः० .... – ....इनको व्याख्या पहले स्तबक में आ गयी है।

तृतीय स्तबक संपूर्ण

परिशिष्ट १-तृतीयस्तबकश्लोकाकारादिक्रमः



श्लो०/पृ०	श्लोकांशः
३/७	अज्ञो जन्तुरनीशोयं
३६/१२१	अत्रापि पुरुषस्यान्ये
२१/९८	अन्ये तु ब्रुवते
४/३५	अन्ये त्वभिदधत्यत्र
१६/८५	अभिप्रायस्ततस्तेषां
३४/११७	आत्मा न बध्यते
८/३८	आदिसर्गेऽपि नो हेतुः
१७/८६	आर्षं च धर्मशास्त्रं च
११/८१	ईश्वरः परमात्मैव
१/२	,, प्रेरकत्वेन
३५/११८	एकान्तेनैकरूपाया
४४/१३२	एवं प्रकृतिवादोऽपि
१३/८३	कर्त्ताऽयमिति तद्वाक्ये
९/३९	कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे
२५/१०३	घटाद्यपि कुलालादि

श्लो०/पृष्ठ	श्लोकांशः
२०/९७	घटाद्यपि पृथिव्यादि
२/५	ज्ञानमप्रतिघं यस्य
१०/८०	ततश्चेश्वरकर्तृत्वं
२६/१०४	तत्रापि देहकर्ता चेद्
१२/८२	तदनासेवनादेव
४०/१२३	तस्याश्चानेकरूपत्वाद्
२३/१००	तस्यैव तत्स्वभावत्वाद्
२७/१०४	देहभोगेन नैवास्य
४२/१२४	देहस्पर्शादिसंवित्त्या
३२/११३	देहात्पृथक्त्वे एवास्य
३१/११२	न च पूर्वस्वभावत्वात्
५/३५	नरकादिफले कांश्चित्
२४/१०२	नानुपादानमन्यस्य
४१/१२४	नामूर्त्तं मूर्त्ततां याति
३७/१२०	पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो

श्लो०/पृष्ठ	श्लोकांशः
१४/८४	परमैश्वर्ययुक्तत्वाद्
३८/१२०	पुरुषस्योदिता मुक्तिरिति
२८/१०६	पुरुषोऽविकृतात्मैव
३०/१०७	प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य
१९/९७	प्रधानान्महतो भावो
१८/८८	प्रधानोद्भवमन्ये तु
७/३७	फलं ददाति चेत् सर्वं
३३/११६	बन्धादृते न संसारो
४३/१२९	मूर्त्तयाप्यात्मनो
३६/११९	मोक्षः प्रकृत्ययोगो
२२/९८	युक्त्या तु बाध्यते
२९/१०७	विभक्तेदृक्परिणतौ
१५/८५	शास्त्रकारा महात्मानः
६/३६	स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते

परिशिष्ट २-तृतीयस्तबकटीकायामुद्धृतवाक्यांशाकारादिक्रमः

पृष्ठांकः	वाक्यांशः	
१२५	अण्णोण्णाणुगयाण इमं	[सन्मति-४७]
४	अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां०	[योगसूत्र २-४]
९०	असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः	[ ]
८९	असदकरणाद्	[सांख्यकारिका-९]
५९	आकाशशरीरं ब्रह्म	[
२०	आत्मैवेदं सर्वं	[छान्दोग्यउपनिषद् ७-२५-२] [नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् ७-३]

पृष्ठांकः		
८४	उत्तमः पुरुषस्त्वन्य	[गीता १५-१७]
२०	एतस्य चाक्षरस्य०	[बृहदारण्यक० ३-८-६]
१२६	एवं एगे आया	[सन्मति०-४६]
७	कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः	[न्यायकुसुमाञ्जलि ५-१]
४	क्लेशकर्मविपाका०	[योगसूत्र १—२३]
५६	जं जहा भगवया०	[
१२८	जे वयणिज्जवियप्पा	[सम्मतिसूत्र-५३]
१२७	ण य बाहिरओ भावो०	[सन्मतिसूत्र-५०]
३०	तरति मृत्यु	[
११८	तस्मान्न बध्यते नापि	[सांख्यकारिका-६२]
१२७	दव्वट्ठियस्स आया	[सन्मतिसूत्र-५१]
,,	,, जो चेव	[,, -५२]
३	दश मन्वन्तराणीह	[
५६	नित्यं विज्ञानं	[
६३	निरालम्बा निराधारा	[योगशास्त्र ४-९८]
९६	प्रकृतेर्महांस्ततो	[सांख्यकारिका-२२]
१२८	पुरिसज्जायं तु पडुच्च०	[सन्मतिसूत्र–५४]
३	पूर्णं शतसहस्रं तु	[
३	बौद्धाः शतसहस्राणि	[
८९	भेदानां परिमाणात्	[सांख्यकारिका-१५]
७	मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	[गीता ९-१०]
९६	मूलप्रकृतिरविकृतिः	[सांख्यकारिका-३]
३३	यज्ञो वै विष्णुः	[
१३२	यत्रैव यो दृष्टगुणः	[अन्य०व्य०द्वा०-६]
३३	यन्न दुःखेन संभिन्नं	[
१२६	रूवाइपज्जवा जे देहे	[सन्मति० ४८]
५१	स तपोऽतप्यत	[
५६	समालोच्य क्षुद्रेष्वपि	[
२७	सर्वज्ञता तृप्ति०	[
५६	सर्वभावेषु कर्तृत्वं	[वीतरागस्तोत्र ७-७[
१०७	सामा उ दिया छाया	[निशीथभाष्य, प्रज्ञापना-मलयगिरिटीका]
७६	हेत्वभावे फलाभावात्	[न्या०कु०३-१८]

—

तृतीयस्तबके शुद्धिपत्रकम्



पत्र/पंक्ति	अशुद्धं	शुद्धं
४/२	योगत्र (२-४)	योगसूत्र (१-२३)
८/२१	क्योंकि	क्योंकि
९/५	वा	वा।
९/३४	द्रारा	द्वारा
१७/१६	सष्टि	सृष्टि
१६/१७	जसे	जैसे
२१/१८	उन्ह	उन्हें
२२/१४	इश्वर	ईश्वर
३३/२०	निरुपण	निरूपण
३९/२८	याजन	योजन
४६/५	नित्याऽव्यापि०	नित्या व्यापि
५३/२	ईश्वरेच्छत्र	ईश्वरेच्छैत्र
५४/४	तत्तकारण	तत्तत्कारण
५५/१	वच्छिन्नद्ध०	वच्छिन्नतद्ध०
५५/८	०लाऽकारणानि०	०लाऽऽकारनि०
५५/२६	नुमति	अनुमति
५६/३१	उसकती	सकती
५६/३१	क्त कर्म	उक्तकर्म
६४/२२	इश्वर	ईश्वर
६९/२७	तो जैसे	जैसे
७१/१६	के नहीं	के अदृष्ट से नहीं
७१/२८	आत्मप्रवेश,	आत्मप्रदेश
७४/२६	ब्रह्म।	ब्रह्मा
७६/१२	कारीका	कारिका
८२/२	चतुर्थ	¹चतुर्थ
८२/१३	होत	होती
८२/२६	भाषा	(१) भाषा
८२/३१	प्रशस्ति	प्रशस्त
८३/२७	लाकोक्ति	लोकोक्ति
८६/२६	पाठ धर्म	पाठ से धर्म
९८/१०	प्रधान	प्रधानं
१०४/२७	बुद्धि	बुद्धि में
११३/६	बन्ध,	बन्धः
१२०/१८	क्रा	का
१२३/२	श्वा	श्चा







ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस, पिंडवाड़ा ।